ज्ञान की तलवार

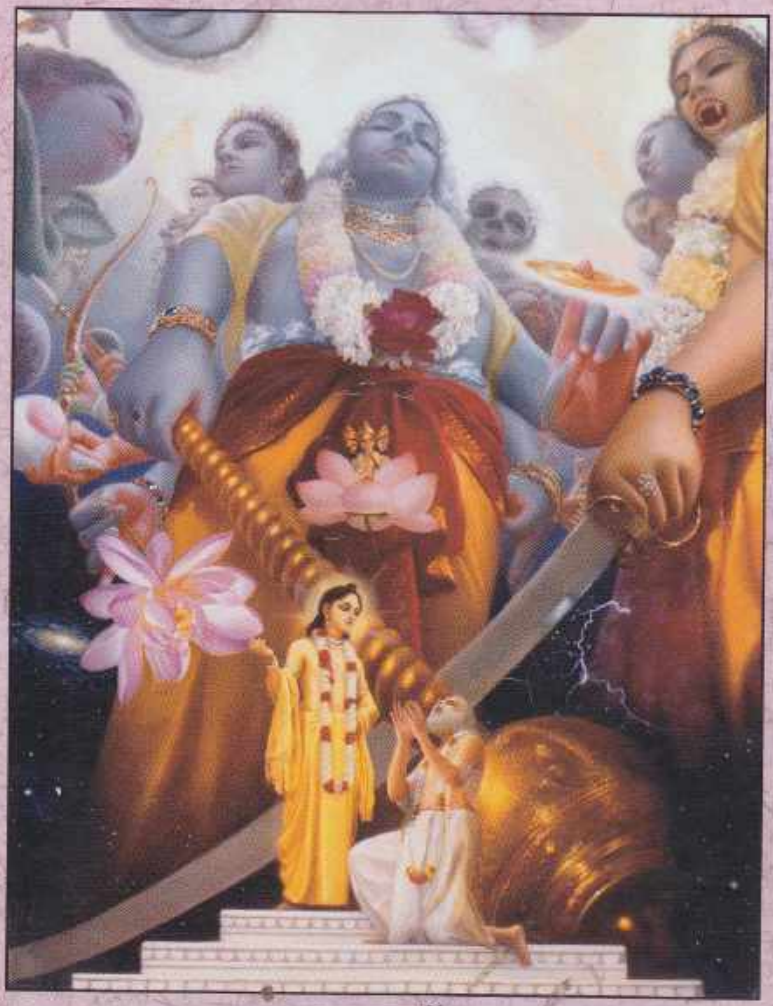

कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

विषय-सूची

भूमिका सात

परम का ज्ञान

यह भौतिक प्रकृति दुखों से पूर्ण है ३
दुख का कारण ६
ईश्वरविहीन असुर ११
आसुरी मनोवृत्ति का कारण १५
शान्ति का सूत्र २०
जीवन का एकमात्र लक्ष्य २४
भौतिक रोग का उपचार कैसे किया जाय ३०
जीवों की असली पहचान ३८
भगवद्भक्तों की प्रशंसा में ४५

भक्तिकथा

भगवान् कृष्ण की सेवा से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है ६९
भगवान् कृष्ण ही परम सत्य हैं ७३
शिक्षा प्रणाली पर डा. एणे की टिप्पणी ९१
परमेश्वर की खोज में ९९
एकमात्र कृष्ण ही परम भगवान् हैं; अन्य सब उनके भृत्य हैं १०५
कलियुग में भगवान् कृष्ण का अपने पवित्र नाम के रूप में अवतरित होना ११२
माया के मोह में फंस कर मनुष्य ने भगवान् कृष्ण को

भुला दिया है १२२
परमेश्वर सदैव नित्य वैकुण्ठ लोकों में निवास करते हैं १३०
स्वरूप-सिद्ध सन्तों के पदचिन्हों का अनुसरण १३७
भगवान् अपने भक्तों के प्रेमी १४३
पत्र, पुष्प, फल तथा तोय अर्पित करना १५१
सब धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ १५८
सारी सिद्धियाँ भक्तियोग से उत्पन्न होती हैं १६४

आध्यात्मिक विज्ञान की कथाएँ

भौतिक जगत की ज्वाला को बुझाना १७५
भक्ति का वास परम के पूर्ण ज्ञान में है १८२
पदार्थ के प्रति आसक्ति से मन का शुद्ध होना १८८
वैधानिक दृष्टि से जीव कृष्ण का नित्य दास है १९७
मुक्ति के साधन २०३

मोहग्रस्त चिन्तक

मूलभूत प्रश्न सुशिक्षित विद्वानों से दूर रहता है २१३
दिव्य भक्ति भगवान् के असली रूप को प्रकट कराती है २२२
भगवान् कृष्ण परम नियन्ता ईश्वर हैं २३३
श्रीकृष्ण भगवान् हैं २४४
माया द्वारा बन्दी बनाये जाने से जीव ने भगवान् कृष्ण को भुला दिया है २५०

बुद्धि का सर्वोच्च उपयोग

बुद्धि का सर्वोच्च उपयोग २६३

लेखक-परिचय ३२२

भूमिका

बहुत से लोगों को यह पता नहीं होगा कि पश्चिम में आने के पूर्व श्रील प्रभुपाद ने अपनी मातृभाषा बँगला में कृष्णभावनामृत पर अत्यधिक लेखन कार्य किया। १९७६ में हरे कृष्ण आन्दोलन में सम्मिलित होने के तुरन्त बाद मैंने श्रील प्रभुपाद की कुछ प्रारम्भिक बँगला कृतियों को ढूँढ निकाला। वे क्रमबद्ध निबन्धों के रूप में थीं जो उनके द्वारा सम्पादित मासिक 'गौडीय पत्रिका' में प्रकाशित हुए थे।

इन लम्बे निबन्धों में से भगवानेर कथा (परम का ज्ञान) शीर्षक एक लेख भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् छपा था। मैंने निर्णय लिया कि यह लेख इस पत्रिका में १९४८ में तथा १९४९ में श्रील प्रभुपाद की जन्म भूमि बंगाल में उनके बढ़ते हुए अनुयायियों के लिए अद्भुत पुस्तिका बन सकता है। जब १९७७ के आरम्भ में कलकत्ता में मैंने वह नव मुद्रित पुस्तिका प्रभुपाद को भेंट की तो वे अत्यधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने मुसकान युक्त चेहरे से मेरी ओर देखते हुए कहा, "तुम्हें अनेकानेक धन्यवाद। तुम मेरी पुस्तकें छापते रहो।"

इससे मैं इतना प्रोत्साहित हुआ कि मैंने श्रील प्रभुपाद की अधिक से अधिक बँगला रचनाओं को "गौड़ीय पत्रिका" से तुरन्त एकत्र

कर लिया और उन्हें भक्ति कथा (भक्तियोग), ज्ञान कथा (आध्यात्मिक विज्ञान की कथाएँ), मुनिगणेर मतिभ्रम (मोहग्रस्त चिन्तक) तथा बुद्धि योग (बुद्धि का सर्वोच्च उपयोग) शीर्षकों से छाप दिया। अन्त में मैंने इन सारी पुस्तिकाओं का "वैराग्य विद्या" नाम से एक संकलन कर दिया जिन्हें अब अंग्रेजी में "Renunciation Through Wisdom" शीर्षक से अनूदित किया गया है।

मेरे घनिष्ठ मित्र तथा गुरुभाई सर्वभावना दास ने यह अनुवाद (अंग्रेजी में) किया है।

वैराग्य विद्या में श्रील प्रभुपाद ने भगवद्गीता की शिक्षाओं को हमारे समझने के लिए सरल बना दिया है।

बाद में इस पुस्तक का नाम The Sword of Knowledge कर दिया गया।

---भक्तिचारु स्वामी
न्युयार्क, जुलाई १९९१

"भक्तों की संगति मात्र से पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और फिर ज्ञान की तलवार से सांसारिक मोहों को छिन्न-भिन्न किया जा सकता है।"

--(श्रीमद्भागवतम् ५.१२.१६)

परम का ज्ञान

यह भौतिक प्रकृति दुखों से पूर्ण है

इलाहाबाद से प्रकाशित दैनिक 'अमृत बाजार पत्रिका' के सम्पादक ने पिछले दिनों एक दुखद टिप्पणी पर सम्पादकीय आरम्भ किया।

"राष्ट्र का सप्ताह जलियाँवाला बाग* की स्मृतियों से शुरू हुआ और राजनीतिक गुलामी हमें अब कष्ट नहीं देती। लेकिन हमारे कष्टों का अन्त नहीं दिखता। दैवी विधान में मनुष्य को कभी आराम नहीं मिल सकता। यदि एक प्रकार का कष्ट समाप्त होता है तो शीघ्र पीछे पीछे दूसरा आ जाता है। राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र भारत को ऐसी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है जो विदेशी शासन के अन्तर्गत हुए कष्टों से कम गम्भीर नहीं हैं।"

यदि कोई व्यक्ति भारत की गुलामी तथा स्वाधीनता का लेखाजोखा देखे और उस पर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करे तो निष्कर्ष इस प्रकार का होगा: चार युग यानी सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग मिलकर ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। कलियुग ४३,२०,०० वर्ष तक रहता है और यह महाराज परीक्षित के शासन काल में, अब से लगभग ५,०००

---

*१३ अप्रैल १९१९ को भारत के जलियाँवाला बाग में १५१६ लोग ब्रिटिश सेना द्वारा मारे गए थे या घायल हुए थे। एक प्रार्थना सभा पर इस अकारण हमले से क्रोधाग्नि भड़की और इसे अंग्रेजी-भारतीय सम्बन्धों में मोड़ देने वाला बिन्दु माना गया। गान्धी समेत सारे भारतीय नेताओं ने अन्ततः यह अनुभव किया कि अंग्रेज इस देश पर अपने प्रभुत्व को आसानी से नहीं त्यागेंगे।

वर्ष पूर्व, शुरू हुआ। इन पाँच हजार वर्षों में से लगभग १००० वर्षों से यानी १०५० ई. में मुहम्मद गोरी के आक्रमण से भारत विदेशी शासन का अनुभव करता आ रहा है।

दूसरे शब्दों में, जब हम शास्त्रों के अनुसार गणना करते हैं तो भारत में सम्पूर्ण पृथ्वी लोक पर महाराज परीक्षित के शासन काल तक ३८,८८,००० वर्षों तक सम्पूर्ण सत्तायुक्त शासन रहा; अतः विदेशी पराधीनता के केवल एक हजार वर्ष उतने शोचनीय नहीं हैं। न तो भूतकाल में न ही वर्तमान काल में भारत की राजनीतिक गुलामी या स्वतन्त्रता भारत के महान चिन्तकों तथा दार्शनिकों की मुख्य चिन्ता का विषय बनी, क्योंकि वे ऐसी वस्तुओं के वास्तविक मूल्य को भलीभाँति जानते थे। महाराज परीक्षित तक के भारत के राजा सम्पूर्ण जगत पर शासन करने में सक्षम थे और वह भी कुछ सौ वर्षों तक नहीं अपितु लाखों वर्षों तक। उनके शासन का कारण कोई राजनीतिक कारण नहीं था।

प्राचीन काल के भारत के चतुर लोगों ने यह आसानी से अनुभव कर लिया था कि हम मनुष्यों को अपमानित होकर जिन तापत्रय को सहना पड़ता है उन्हें देश को नियन्त्रित करने वाली राजनीतिक स्थिति के द्वारा कभी भी दूर नहीं किया जा सकता—चाहे विदेशी शासन हो या उससे स्वतन्त्र स्थिति हो। आधुनिक इतिहास के प्रभात काल में भारत में राजनीतिक प्रश्न को लेकर जो धर्मयुद्ध हुआ वह केवल अठारह दिन चला। उस ऐतिहासिक युद्धभूमि में मानवीय कष्ट तथा इसके स्थायी निदान की समस्या की चर्चा की गई थी और इस चर्चा को *भगवद्गीता* के रूप में संकलित किया गया था।

इस तरह एक कल्प पूर्व *भगवद्गीता* ने उसी विषय पर विस्तार से व्याख्या की थी जिसके विषय में *अमृत बाजार पत्रिका* के सम्पादक

ने अत्यन्त निराशापूर्ण स्वर में लिखा है, "यदि एक प्रकार का कष्ट चला जाता है तो उसी के पीछे पीछे तुरन्त दूसरा आ जाता है।" *गीता* में (७.१४) भगवान् कृष्ण कहते हैं "भौतिक प्रकृति के तीन गुणों वाली मेरी इस दैवी माया को जीत पाना कठिन है।" दैवी-माया संस्कृत भाषा के शब्द हैं और ये जिस रूप में यहाँ प्रयुक्त हुए हैं उन्हें आधुनिक शब्दों में "प्रकृति के नियम" के रूप में अनूदित किया जा सकता है। यह प्राकृतिक नियम इतना कठोर है कि समाचारपत्रों में विद्वत्तापूर्ण लेख लिखने या बड़े बड़े सम्मेलनों में लम्बे-लम्बे प्रस्ताव रखने के बावजूद इन पर विजय पाना असम्भव है। दैवी-माया के चंगुल से बचाने के उद्देश्य से हमारे बढ़े-चढ़े तकनीकी तथा वैज्ञानिक प्रयास व्यर्थ होते हैं, क्योंकि वे उसी दैवी-माया द्वारा नियन्त्रित होते हैं। अतः संसारी विज्ञान द्वारा प्रकृति के नियमों पर विजय पाने का प्रयास फ्रैंकनस्टाइन को जन्म देने के समान है। प्रगाढ़ तकनीकी द्वारा मानव कष्टों का उन्मूलन करने के तथा स्थायी सुख लाने के प्रयासों ने हमें परमाणु युग में ला खड़ा किया है। पाश्चात्य चिन्तक परमाणु विस्फोट से उत्पन्न होने वाले विनाश की मात्रा से अत्यधिक चिन्तित हो गए हैं। कुछ नेता इस खतरे की घंटी को प्रभावहीन तर्कों से दबाने का प्रयास कर रहे हैं कि परमाणु शक्ति का उपयोग किस तरह से केवल शान्तिपूर्ण प्रयोजनों के लिए किया जाय। किन्तु दैवी माया द्वारा उत्पन्न यह दूसरे प्रकार का छलावा है।

दैवी-माया की दोहरी मार—आच्छादक शक्ति तथा क्षेपक शक्ति—को परास्त कर पाना असम्भव है। हम इस दैवी शक्ति को जीतने का जितना ही प्रयास करते हैं उतने ही बलपूर्वक वह हमें रजोगुण के द्वारा उत्तेजित करके तथा तीन प्रकार के दुखों से, जो सर्वस्व-भक्षिका मृत्यु में पराकाष्ठा को पहुँच जाते हैं, प्रताड़ित करके पराजित कर देती है। दैवीशक्ति तथा

दुष्ट शक्तियों के बीच यह रस्साकशी शाश्वत है। हम इस संघर्ष को समझने में असमर्थ रहे हैं इसलिए हमें पछताना पड़ रहा है कि "दैवी विधान में मनुष्य को कोई विश्राम नहीं है।"

बारम्बार दैवी शक्ति के हाथों पराजय का मजा चखने पर भी दुष्ट शक्तियाँ यह नहीं समझ पातीं कि "मनुष्य को कोई आराम क्यों नहीं मिल सकता?" फिर भी भगवान् ने *भगवद्गीता* में इसकी स्पष्ट व्याख्या की है। सर्वप्रथम वे दुष्ट शक्तियों को इन शब्दों द्वारा कठोरता से आगाह करते हैं—"*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—मेरी इस दैवी शक्ति को, जो प्रकृति के तीन गुणों वाली है, जीत पाना कठिन है।" और अगली पंक्ति में वे उन्हें बतलाते हैं कि इस दैवी-शक्ति पर किस तरह विजय पाई जाय—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—किन्तु जिन्होंने मेरी शरण ले ली है वे आसानी से इसको पार कर सकते हैं।

दुख का कारण

सर्वाधिक शक्तिशाली असुर महिषासुर* जो बुरी शक्तियों का साक्षात् रूप था वास्तव में बुद्धि, शिक्षा, सम्पत्ति, घोर तपस्या तथा अनेक अनुयायियों को आकृष्ट करने की शक्ति आदि से सम्पन्न था। उसके वर्तमान अनुयायी, जिनमें उसी जैसी योग्यताएँ हैं, उससे कम जोखिम

*महिषासुर के पिता, रम्भ को सूर्यदेव से वरदान मिला था कि उसका पुत्र कभी परास्त नहीं हो सकेगा। इस वरदान के कारण महिषासुर महान् सम्राट बन गया था। देवताओं ने विष्णुजी से संरक्षण की याचना की। विष्णुजी ने उन्हें बताया कि कोई मादा जीव ही उसे हरा सकेगा। अतः भगवान् देवी नाम से नारी रूप में उपस्थित हुए और उन्होंने एक भीषण युद्ध में महिषासुर को पराजित किया।

उठानेवाले तथा दैवी शक्ति का दुरुपयोग करने में कम दक्ष नहीं हैं। वे विस्तृत वैज्ञानिक शोधकार्यों को सम्पन्न करते हैं, जिनमें वे विपुल धन, समय, शक्ति, बुद्धि तथा जनबल आदि का दुरुपयोग करते हैं। किन्तु शान्ति तथा हर्ष के बजाय वे इन शोधों से मानवता के लिए अकथनीय कष्ट ही उत्पन्न कर पाते हैं। यह दैवी माया का अच्छा खासा विनाशकारी उदाहरण है। इन सारे बुरे कार्यों से मानव समाज को गहरी क्षति पहुँचती है। इस बुराई के फलस्वरूप ये संसारी विज्ञानीजन घोर पाप करते हैं जिससे उनकी असली बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और इस बुद्धि-भ्रष्टता से वे ईश्वर से दूर चले जाते हैं और उनकी शरण में जाने का अवसर उनके हाथ से निकल जाता है। *भगवद्गीता* में (७.१५) भगवान् इसीलिए कहते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरीं भावमाश्रिताः॥

"जो निपट मूर्ख हैं, जो मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान मोह द्वारा हर लिया गया है तथा जो असुरों की नास्तिक प्रकृति को धारण करने वाले हैं ऐसे दुष्ट मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।"

भगवान् ने *भगवद्गीता* में (१६.७-२०) ऐसे नास्तिक असुरों के स्वभाव का विस्तार से वर्णन किया है—

"जो आसुरी स्वभाव के हैं वे यह नहीं जानते कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। उनमें न तो पवित्रता, न उचित आचरण और न ही सत्य पाया जाता है। वे कहते हैं कि यह जगत मिथ्या है, इसका कोई आधार नहीं है और इसका नियमन किसी ईश्वर द्वारा नहीं होता। उनका कहना है कि यह कामेच्छा से उत्पन्न होता है और काम के अतिरिक्त इस जगत के उत्पन्न होने का कोई अन्य

कारण नहीं है। ऐसे निष्कर्षों का अनुगमन करते हुए आसुरी लोग, जिन्होंने आत्म-ज्ञान खो दिया है और जो बुद्धिहीन हैं, ऐसे अनुपयोगी और भयावह कार्यों में प्रवृत्त होते हैं जो संसार का विनाश करने के लिए होते हैं। कभी सन्तुष्ट न होने वाले काम का आश्रय लेकर तथा गर्व के मद एवं मिथ्या प्रतिष्ठा में डूबे हुए आसुरी लोग इस तरह मोह-ग्रस्त होकर सदैव नश्वर वस्तुओं के द्वारा आकर्षित होकर अपवित्र कर्म का व्रत लिए रहते है।

"उनका विश्वास है कि इन्द्रियों की तुष्टि ही मानव सभ्यता की मूल आवश्यकता है। इस प्रकार मरते समय तक उनको अपार चिन्ता सताती रहती है। वे हजारों इच्छाओं के जाल में बँधकर तथा काम और क्रोध में तल्लीन होकर इन्द्रियतृप्ति के लिए अवैध ढंग से धन संग्रह करते हैं। आसुरी व्यक्ति सोचता है कि आज मेरे पास इतना धन है और अपनी योजनाओं से मैं और अधिक धन कमा लूँगा। इस समय मेरे पास इतना है, किन्तु भविष्य में यह बढ़कर और अधिक हो जाएगा। वह मेरा शत्रु है और मैंने उसे मार डाला है और मेरे अन्य शत्रु भी मार दिए जाएँगे। मैं सभी वस्तुओं का स्वामी हूँ। मैं भोक्ता हूँ, मैं पूर्ण, शक्तिमान तथा सुखी हूँ। मैं सबसे धनी हूँ और मेरे इर्द-गिर्द मेरे कुलीन सम्बन्धी हैं। कोई अन्य मेरे समान शक्तिशाली तथा सुखी नहीं है। मैं यज्ञ करूँगा, कुछ दान दूँगा और इस तरह से आनन्द मनाऊँगा। इस प्रकार ऐसे व्यक्ति अज्ञानवश मोहग्रस्त होते रहते हैं। इस प्रकार अनेक चिन्ताओं से उद्विग्न होकर तथा मोहजाल में बँधकर वे इन्द्रियभोग में अत्यधिक आसक्त हो जाते हैं और नरक में जा गिरते हैं।

"अपने को श्रेष्ठ मानने वाले तथा सदैव घमंड करने वाले तथा धन और मिथ्या प्रतिष्ठा से मोहग्रस्त ऐसे लोग किसी विधि-विधान

का पालन न करते हुए कभी कभी नाममात्र के लिए बड़े गर्व से यज्ञ करते हैं। मिथ्या अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध से मोहित होकर आसुरी व्यक्ति अपने शरीर में तथा अन्यों के शरीरों में स्थित भगवान् से ईर्ष्या और वास्तविक धर्म की निन्दा करने लगते हैं। जो लोग ईर्ष्यालु तथा क्रूर हैं और नराधम हैं उन्हें मैं भवसागर में निरन्तर विभिन्न आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ। हे कुन्तीपुत्र! ऐसे व्यक्ति आसुरी योनियों में बारम्बार जन्म ग्रहण करते हुए कभी भी मुझ तक नहीं पहुँच पाते। वे धीरे धीरे अति अधम गति को प्राप्त होते हैं।"

गीता के ये श्लोक आसुरी स्वभाव का उचित वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

सदा से दो प्रकार के लोग विद्यमान रहे हैं—भक्त तथा असुर। बहुत समय पहले रावण* नाम का एक महान् असुर था जिसने संन्यासी का वेश बनाकर भगवान् रामचन्द्र की पत्नी को, जो लक्ष्मी की देवी सीता देवी थीं, चुराने का प्रयास किया। इस तरह उस असुर ने अपने हाथों अपना विनाश किया।

किन्तु अब आधुनिक काल में रावण का वंश लाखों गुना बढ़ चुका है। इससे अनेक पृथक् पृथक् मतों का जन्म हुआ है जिससे ये असुर एक दूसरे के शत्रु बन गये हैं। इस तरह वे पूरी शक्ति से एक दूसरे की स्पर्धा कर रहे हैं और लक्ष्मी की देवी सीता देवी का अपहरण करने का प्रयास कर रहे हैं। हर एक यही सोच रहा है, "मैं सबसे अधिक चतुर हूँ, अत: मैं अकेले ही सीता देवी का भोग करूँगा।" किन्तु ये सारे असुर रावण की ही तरह अपने पूरे परिवार सहित विनष्ट

*रावण असुरों का राजा था जिसने परम भगवान् रामचन्द्र का विरोध किया था।

किये जा रहे हैं। हिटलर जैसे न जाने कितने बलवान नेता आये, किन्तु वे सब परमेश्वर की शक्ति तथा प्रेयसी लक्ष्मी की देवी सीतादेवी का भोग करने तथा शोषण करने के मोह से अंधे होकर भूतकाल में विफल बनाये तथा कुचले जाते रहे हैं और वर्तमान काल में भी विफल बनाए जाकर कुचले जा रहे हैं और भविष्य में भी कुचले जाएँगे। पूर्व-कथित पश्चाताप कि "दैवी-विधान में मानव को कभी विश्राम नहीं मिल सकता" का मूल कारण भगवान् की दैवी-शक्ति के विदोहन तथा भोग करने की यही आसुरी प्रवृत्ति ही है।

ये असुर यह नहीं जानते कि कब या कहाँ त्याग करना है, न ही वे यह जानते हैं कि कब या कहाँ ग्रहण करना है। किसी रोगी का निदान करते समय इस स्वीकार तथा त्याग के सिद्धान्त का सही ढंग से निर्णय करना होता है। अत: मानव समाज में इस आसुरी प्रवृत्ति का, जो सीतादेवी को चुराने का प्रयास करने के लिए रावण जैसा लक्षण उत्पन्न करती है, उपचार करने के लिए यह आवश्यक है कि आसुरी स्वभाव को बदल दिया जाय। किसी भी तरह के उपचार के लिए दो मुख्य कारक होते हैं—पहला यह कि रोगी को स्वच्छ परिवेश में रखा जाय और दूसरा यह कि उसे औषधि तथा भोजन नियमपूर्वक समय पर दिये जायँ। इसी तरह आसुरी प्रवृत्ति को बदलने के लिए लोगों को स्वच्छ, अनुशासित तथा सच्चाई से पूर्ण होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति *यत मत तत पथ* अर्थात् "जितने मत हैं, मुक्ति के उतने ही रास्ते हैं" के सिद्धान्त के समर्थन से नहीं होती, क्योंकि इस तरह मनुष्य परेशान हो जाता है और जनता को धोखा देता है। स्वच्छ तथा गन्दे और अनुशासित तथा अननुशासित, सच्चे तथा झूठे को एक ही स्तर पर लाने से किसी भी रोगी को अच्छा कर पाना या उसका उपचार कर पाना भी असम्भव हो जायेगा।

ईश्वरविहीन असुर

नितान्त भौतिकतावादी असुरगण आध्यात्मिक ज्ञान से इस तरह पूर्ण-रूपेण विहीन होते हैं कि प्रतिक्षण भौतिक शरीर की नश्वरता का अनुभव करते हुए भी उनके सारे कार्य शरीर पर केन्द्रित होते हैं। वे यह समझ ही नहीं पाते कि शरीर के भीतर का आत्मा ही स्थायी तथा आवश्यक वस्तु है और यह शरीर परिवर्तनशील तथा अस्थायी है। वे पहले तो विवर्तवाद (विकासवाद) से आकृष्ट होते हैं और फिर उससे संभ्रान्त होकर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्पूर्ण विराट् शरीर भी आत्मा से विहीन है। चूँकि वे इस मिथ्या सिद्धान्त को अपने शारीरिक अस्तित्व पर प्रयुक्त करते हैं, अत: वे शरीर के भीतर वास करने वाले आत्मा के अस्तित्व के विषय में किसी भी शोध को नकार देते हैं और वे विराट् जगत रूपी विराट् शरीर के भीतर परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव नहीं कर पाते। वे इस मिथ्या निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शरीर ही सब कुछ है और इसके परे कुछ भी नहीं है। इसी तरह वे सोचते हैं कि यह भौतिक सृष्टि, जो कि विराट् शरीर है, यथार्थत: केवल प्रकृति के नियमों द्वारा शासित है। इस बात पर किसी तरह का विचार-विमर्श उनके इस हठ के आगे समय के पहले ही व्यर्थ कर दिया जाता है कि प्रकृति ही सब कुछ है। इनमें से जो लोग कुछ अधिक बुद्धिमान हैं वे इस दिशा में कुछ और विचार-विमर्श करते हैं और यह कल्पना करते हैं कि निर्विशेषवाद ही हर वस्तु का सार है। किन्तु व्यक्त तथा अव्यक्त प्रकृति के इस साम्राज्य के बहुत परे एक दिव्य तथा नित्य राज्य है। किन्तु नास्तिक जन इसके अस्तित्व पर विश्वास ही नहीं कर पाते।

इस तरह दूरदृष्टि से विहीन, विकृत मस्तिष्क वाले ये आसुरी लोग ऐसे कर्म करते हैं जिससे लोगों को कष्ट ही पहुँचता है। ऐसे अनेक

अवांछित कार्यकलापों के फलस्वरूप परमाणुबम की खोज की गई थी। ये आसुरी लोग जो अन्तहीन योजनाएँ बनाते रहते हैं उनसे मानवता का कल्याण कभी नहीं हो सकता। भूतकाल में रावण ने यह कहकर स्वर्ग तक सीढ़ी बनानी चाही थी कि वह मानवता के लाभ के लिए होगी। वस्तुत: वह भगवान् रामचन्द्र को ठगना चाहता था। किन्तु वह असफल रहा। इतिहास की पुनरावृत्ति होती है, क्योंकि अब हम देखते हैं कि रावण के वंशज समाज को लाभ पहुँचाने के लिए आयोजना के नाम पर भगवान् को ठगने का प्रयास कर रहे हैं। ध्यान देने की बात यह है कि कोई भी असुर अन्य असुर की योजनाओं की सराहना नहीं करेगा। हर असुर यही घोषित करेगा कि चूँकि उसकी ही योजना सबसे अद्भुत है इसलिए अन्य सारे लोग उसका समर्थन करें। तब उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी कहेगा कि वास्तव में मेरी योजना सर्वोत्तम है; इसलिए ठीक यही है कि सारे मत मुझे मिलने चाहिए। मतों के इस युग में इस झगड़े ने कि वास्तव में किसे मत दिया जाय स्वर्ग की सारी सीढ़ियों का असमय ही विनाश कर दिया है। यदि तथ्यों पर शान्तिपूर्वक विचार किया जाय तो आसानी से यह निष्कर्ष निकलेगा कि असुरों के विकृत मस्तिष्क द्वारा निर्मित ये सारी योजनाएँ, अदूर दृष्टि के फलस्वरूप, कभी भी विश्व में शान्ति नहीं ला सकतीं। निस्सन्देह, सारे असुर एक बात में एकमत हैं और वह है परमेश्वर के जाने बिना सम्पत्ति की देवी तथा परमेश्वर की नित्य संगिनी लक्ष्मी का लुके-छुपे भोग किया जाना।

प्रत्येक असुर यह सोचकर कि उससे बढ़कर कोई बुद्धिमान तथा सम्मानित नहीं है व्यर्थ ही गर्वित रहता है। इसलिए उसकी अप्रतिरोध्य इच्छाएँ, जो उसे विभिन्न कार्य करने के लिए प्रेरित करती हैं, उसके अनुसार, मानव समाज के लिए अन्ततः लाभदायक हैं। अन्त में यह

अनिवार्यत: स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि उसकी सारी महत्वाकांक्षाएँ भ्रामक तथा अयथार्थवादी थीं। इस उद्घाटन के बावजूद असुरगण जोड़-तोड़ द्वारा तथा झूठ बोल कर जनता को प्रभावित करते रहते हैं।

इन मलिन तथा मोहग्रस्त असुरों की कल्पना की कोई सीमा नहीं है। वे स्वघोषित नेता बनते हैं और समाज के कल्याण के लिए अनवरत चिन्तित दिखते हैं। उदाहरणार्थ, वे इस बारे में चिन्तित रहते हैं कि बाजार में जो लोग खरीद करने आते हैं उन्हें कहाँ ठहराया जाय। वास्तव में वे यह सोचते हैं कि वे किस तरह अपने दीर्घस्थायी भोग के लिए, अपने पुत्रों, पौत्रों तथा उनके भी पुत्रों के भोग के संरक्षण के लिए संसार की प्रलय तक का पक्का प्रबन्ध करें। किन्तु जब उन्हें आनन्द के बजाय कष्ट मिलता है तो ये असुर सम्पत्ति बटोरने के लिए अपने संगियों पर हिंसा करने पर उतर आते हैं। उनकी भौतिक इच्छाएँ अतृप्त हैं, अत: करोड़ों डालर से भी उन्हें तुष्टि नहीं होती। जो भी व्यक्ति अवैधानिक रूप से विपुल सम्पत्ति संचित करने में पटु है, वही सबसे बड़ा कुत्ता बन जाता है। ये असुर घृणा, लोभ, क्रोध, काम आदि से ओतप्रोत होते हैं और मात्र अपनी काम-वासनाओं की तृप्ति के लिए अवैध-रूप से प्रचुर सम्पत्ति संचित करने के प्रयासों में थकते नहीं। दूसरी ओर, उनके प्रतियोगी उनके काले धन को ठगने में कम दक्ष नहीं होते। भला, एक दूसरे के इस तरह से अवैध-रूप से अर्जित धन को चुराने के लिए मची हुई क्रूर होड़ शान्ति तथा समृद्धि कैसे ला सकती है? इसलिए ये असुर उस व्यक्ति की जो यह शोक करता है कि "दैवी विधान में मनुष्य को विश्राम कहाँ?" सहायता कैसे कर सकते हैं?

असुर सदैव यह चिन्तन करता रहता है कि अपने बैंक खाते की बचत कैसे बढ़ाये, "आज स्टाक ऊपर गया है, अत: मेरा लाभ भी

बढ़ा है। कल यदि ये अन्य वस्तुएँ महँगी हो जायँ तो मेरे खाते की बचत और भी बढ़ जाय। अत: मेरा भविष्य उज्ज्वल तथा सम्पन्न दिखता है।'' फिर यह असुर किसी भिन्न विषय पर सोचता है, ''मेरे शत्रुओं में से एक तो विनष्ट हो चुका है और दूसरे का भी अन्त होने वाला है। इससे मेरी स्थिति अधिक सुरक्षित होती जाती है। अब चूँकि मैं शत्रुओं का सफाया करने में पटु हो चुका हूँ, अत: मैं सर्वशक्तिमान ईश्वर हूँ। आपको ईश्वर की तलाश करने की क्या आवश्यकता है? आपकी नजरों के सामने सैकड़ों ईश्वर घूम रहे हैं। ऐसे विचारों तथा कर्मों से ये असुर और अधिक नास्तिक बनते जाते हैं और इस प्रकार वे ईश्वर का दिव्य सन्देश सुनने से इनकार कर देते हैं। ये गर्व के साथ घोषित करते हैं ''ईश्वर कौन है? ईश्वर मैं हूँ। जब मैं अवैध रूप से धन की गड़बड़ी करके इतना धनी बन सकता हूँ कि मैं इस संसार में सब वस्तुओं का भोग कर सकूँ, तो मैं निश्चय ही सर्वशक्तिमान ईश्वर हूँ। मैं बलवान, सुखी तथा सम्पन्न हूँ। जो निर्बल हैं, धन विहीन तथा साधनविहीन हैं उन्हें चाहिए कि मेरा सम्मान ईश्वर के रूप में करें। किसी अन्य ईश्वर के पीछे चिल्ल-पों करने से क्या लाभ?''

ये असुर सोचते हैं कि उनसे बढ़कर कोई और धनी तथा लोकप्रिय नहीं है। वे सोचते हैं कि कोई न कोई भूतात्मा उनकी सम्पत्ति की रक्षा करेगी और इस तरह वे ठगे जाते हैं। उनका अन्तिम गन्तव्य नरक है।

ये असुर जो थोड़े से पुण्यकर्म करते हैं वे मात्र दिखावा हैं; वे अपने मिथ्या अहंकार को सहलाने तथा अधिक मान्यता एवं सम्मान दिलाने के लिए होते हैं। वे उन्हें अपने इन्द्रियभोग के लिए ही करते हैं और वे सदैव हिंसा के कर्म ही होते हैं। ये असुर इन अनुष्ठानों में, शास्त्रीय आदेशों का पालन किये बिना, अपने मिथ्या यश की

तुष्टि हेतु लगे रहते हैं।

मिथ्या अभिमान, बल, क्रोध, काम आदि पर इतराते हुए ये असुर देहात्माबुद्धि में पूरी तरह डूब जाते हैं और सोचते हैं ''यह मेरा शरीर है। मैं भारतीय, बंगाली आदि हूँ। वह मुसलमान है, हिन्दू है, जर्मन है।'' इस तरह वे अन्यों पर हिंसात्मक कार्यवाही करते रहते हैं। परमेश्वर इन अतिगर्हित दुष्ट पापियों को बारम्बार अति कष्टप्रद स्थितियों में डालते रहते हैं और अपने कठोर प्रकृति के नियमों से या दैवी माया से निरन्तर उन्हें दण्डित करते रहते हैं। इस तरह बारम्बार असुरों के रूप में जन्म लेकर ये गुण्डे कभी भी भगवान् की दिव्य लीलाओं, नामों, सौन्दर्य आदि की सराहना नहीं कर सकते। उनके लिए तो परमब्रह्म के निर्विशेष ज्ञान का क्रमश: अनुशीलन करते हुए निकृष्टतम जीवन ही बिताना बदा है।

आसुरी मनोवृत्ति का कारण

वैसे तो आसुरी मनोवृत्ति के असंख्य कारण हैं, किन्तु हम इस निबन्ध में केवल तीन पर चर्चा करेंगे—काम, क्रोध तथा लोभ। *भगवद्गीता* में (१६.२१) भगवान् कृष्ण ने इन तीनों मनोवृत्तियों को आत्महन्ता—नरक के द्वार पर ले जाने वाली—कहा है।

भगवान् समस्त वस्तुओं के एकमात्र स्वामी तथा भोक्ता हैं। जब जीव इस तथ्य को भूल जाते हैं तो उनमें इस दृष्य जगत को भोगने की प्रबल इच्छा विकसित हो जाती है। किन्तु वे ऐसे प्रयासों से पूरी तरह तुष्ट नहीं हो सकते; अत: उनमें क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से हताशा उत्पन्न होती है, जैसी हताशा ''खट्टे अंगूर और असफल लोमड़ी'' की कहानी में पाई जाती है। तब जीव त्यागी होने का ढोंग करने पर बाध्य हो जाता है, किन्तु इस परित्याग की तह में लोभ तथा भोगेच्छा की अग्नि-शिखा जलती रहती है। यह तो भौतिक इच्छा की

अन्य अवस्था मात्र है। अत: जब तक कोई शारीरिक आनन्द की स्वीकृति तथा निषेध की इस अवस्था को लाँघ नहीं जाता और नित्य आत्मा के पद को पा नहीं लेता तब तक वह भगवान् के उदात्त सन्देश को समझ नहीं सकता। और इस समझ के बिना वह आसुरी मनोवृत्ति का ही अनुशीलन करता रहेगा।

इस आसुरी अवनति से आत्म-साक्षात्कार के पद तक ऊपर उठने की एकमात्र विधि है शास्त्रों के आदेशों को जानना तथा उनके अनुसार कर्म करना। आध्यात्मिक आदेशों के विरुद्ध किये गये उपद्रवी तथा अनुशासनहीन कार्य कामवश सम्पन्न किये गए कार्य होते हैं। कामवश किए गए ऐसे कार्यों से क्रोध और लोभ का निवारण सम्भव नहीं है; न ही असली सुख तथा दैवी उत्थान का अनुभव कर पाना सम्भव है। अत: यदि हम आध्यात्मिक उत्थान तथा शाश्वत शान्ति का मार्ग खोजना चाहते हैं, जिसकी आवश्यकता इस पश्चाताप में निहित है कि "विधता के विधान में मनुष्य को विश्राम नहीं मिल सकता" तो शास्त्र ही हमारे एकमात्र मार्गदर्शक हैं। शास्त्रों के आदेशों का पालन करने मात्र से हम विषयवासना के कार्यों तथा उपद्रवी रहन-सहन से छूट सकते हैं।

सम्प्रति हम घोर कलियुग* में रह रहे हैं। इस युग के लोगों की आयु अधिकतर अल्प है, वे दिग्भ्रमित हैं, अभागे हैं और सदैव रोग तथा कष्ट से सताये जाते हैं। इसलिए उनके लिए यह आसान नहीं कि शास्त्रों के आदेशों के महत्त्व को समझें। विश्व के विभिन्न धर्मों के अनुयायी यथा हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध आदि, अपने अपने

*कलियुग: आधुनिक ऐतिहासिक युग (चार युगों के सतत चक्र में चौथा एवं अन्तिम युग)

पन्थों के शास्त्रीय आदेशों का विभिन्न अंशों तक उल्लंघन कर रहे हैं और मनमाने ढंग से रह रहे हैं। शास्त्रीय आदेशों का पालन तो दूर रहा, अनेक लोग पवित्र ग्रन्थों का उपहास करते हैं और धीरे-धीरे अबाध इन्द्रियतृप्ति का आसुरी जीवन व्यतीत करने तक नीचे गिर जाते हैं। भगवान् तथा उनके भक्त कलियुग के बुरे प्रभाव से पीड़ित इन बद्धजीवों के उद्धार के विषय में अत्यधिक चिन्तित रहते हैं। भक्तगण या वैष्णवजन सर्वाधिक दयालु, साधु-आत्मा होते हैं; अत: वे पतित जीवों का उद्धार करने की उत्कट इच्छा रखते हैं। भगवान् इन वैष्णवों की इच्छाओं को सदा सुनते हैं, अतएव वे कलियुग के इन कष्ट पा रहे जीवों के उद्धार के लिए की जाने वाली प्रार्थनाओं को स्वीकार करते हैं।

कलियुग में जीवों की कष्टमय स्थिति देखकर पतितात्माओं के रक्षक श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनके उद्धार की एक विधि निकाली है। यह विधि शास्त्रों से उद्धृत है और हर एक पर लागू होती है। पूर्ववर्ती युगों में मनुष्य वेदों का अध्ययन करके और इनके आदेशों पर चलकर जीवन को शुद्ध बना सकता था। किन्तु इस समय की जनता के लिए इन वैदिक आदेशों को, जिनमें ब्रह्मचर्य व्रत का कठोरता के साथ पालन करना सम्मिलित है, ठीक तरह से कार्य रूप में परिणत करना असम्भव है। जो नितान्त पतित तथा पापी है वह वेदों का अध्ययन करके साक्षात्कार के सही पथ को नहीं पा सकता। ऐसे लोगों को, जिनका ठीक से पालन-पोषण नहीं हुआ और जो अनुशासन-विहीन हैं उन्हें वेदों का अर्थ बताना भी समय की बर्बादी है। हाँ, श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कलियुग के इन लोगों पर अपनी कृपा-दृष्टि डाली। अत: इसमें संदेह नहीं कि जो लोग श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा पाने में भी असमर्थ हैं वे सदा के लिए कृपा से वंचित हैं। जहाँ तक उन भाग्यवान आत्माओं की

बात है जिन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा की महानता को समझते हुए उसे स्वीकार किया है, वे माया के दण्ड से या "विधाता के विधान" से बच जाते हैं। किन्तु जिन्होंने कर्म-फल के चक्कर के प्रभाव में पड़ना स्वीकार कर लिया है और जो माया के थपेड़े खाए जा रहे हैं उनके लिए परमेश्वर ने कर्मयोग विधि अर्थात् भगवान् के लिए यज्ञार्थ सकाम कर्म करने की व्यवस्था कर रखी है।

विद्वान मुनिजन कहते हैं कि जीवों को ८४ लाख योनियों में से होकर गुजरना होता है। जलयोनियाँ ९ लाख हैं; पौधे, पहाड़ तथा अन्य जड़ योनियों की संख्या २० लाख है; कीड़े-मकोड़ों की संख्या ११ लाख है; पक्षियों की १० लाख, पशुओं की तीस लाख तथा मनुष्यों की ४ लाख योनियाँ हैं। इन सारी योनियों से गुजरते हुए अन्त में आत्मा मनुष्य के रूप में भारतवर्ष में जन्म लेता है। वह अपनी चेतना को क्रमशः जागृत करके यह जन्म पाता है। उपर्युक्त प्रत्येक जीव-योनि से गुजरते हुए आत्मा को लाखों वर्ष लग जाते हैं। अतः इसके बावजूद भी, यदि आत्मा भारत में मनुष्य रूप में जन्म लेकर भी माया के अधीन रहता जाता है और "विधाता के विधानों" के आवर्त में चक्कर लगाता रहता है तो उसके दुर्भाग्य का कोई वारापार नहीं होता। इसीलिए श्रील कृष्णदास कविराज ने लिखा है---

भारत-भूमिते हइल मनुष्य-जन्म यार।
जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

"जिसने भारतवर्ष में मनुष्य के रूप में जन्म लिया है उसे चाहिए कि अपने जीवन को सफल बनाए और अन्य समस्त लोगों के लाभ के लिए कार्य करे।"

मानव प्राणी भारत के उन महा-मुनियों के चरणचिन्हों का अनुगमन

करके अपना जीवन पूर्ण बना सकते हैं जिन्होंने सदा ही सही मार्ग दिखलाया है। इसका कारण अति सरल है: हमें कहीं भी इस तरह का दृष्टान्त प्राप्त नहीं होगा जिस तरह भारत के मुनियों ने माया के आक्रमण को पूर्णतया समाप्त करने तथा भगवान् के चरणकमलों की नित्य धूलि बनने का ऐसा प्रयास किया हो। अन्य देशों में, विशेषकर पश्चिम में, भौतिक विज्ञान के विविध क्षेत्रों में अत्यधिक उन्नति हुई है, किन्तु यह भौतिक मस्तिष्क तथा शरीर पर ही आधारित है जो कि माया की ही उपज हैंइसी कारण से पाश्चात्यजन पश्चाताप करते हैं, "विधाता के विधान में मनुष्य को विश्राम नहीं मिल सकता है।" सम्प्रति भारत-वासियों ने भी पाश्चात्य ढंगों की नकल करके आत्म-विनाश का मार्ग अपनाया है। उन्होंने अपनी संस्कृति का तिरस्कार किया है और उसे अशुद्ध बनाया है और वे अन्यों के द्वार के भिखारी बन गये हैं। अब वे अपनी स्वतन्त्रता का झंडा फहरा रहे हैं, किन्तु यह भी माया का विधान है। वस्तुतः उन्हें इससे कुछ भी लाभ मिलने वाला नहीं। पश्चिम ने कभी भी सूक्ष्म आत्मा तथा अनन्त परम-पूर्ण के मध्य नित्य सम्बन्ध के विकास की तीन अवस्थाओं के साथ अपने को नहीं जोड़ा। ये अवस्थाएँ हैं—पहली: परमेश्वर के साथ प्रारम्भिक सम्पर्क तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध को पुनः जागृत करना; दूसरी: उनके साथ नित्य सम्बन्ध स्थापित करने के साधनों को पूरा करना तथा तीसरी: इस सम्बन्ध को प्रेम तथा भगवान् पर आत्मा की पूर्ण आश्रितता में पुष्पित-पल्लवित होने देना।

यद्यपि पाश्चात्य लोगों ने लौकिक मामलों में बहुत विकास किया है, किन्तु वे निराशा तथा उदासीनता के सागर में गोते लगा रहे हैं। इसी तरह भारतीय अपने लौकिक विकास के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करने के प्रयास में उसी उदासीनता तथा असन्तोष का अनुभव कर

रहे हैं। विचित्र बात है कि अब पाश्चात्य चिन्तक शान्ति की खोज के लिए भारत की ओर ताकने लगे हैं। हम यह दृढ़ विश्वास रख सकते हैं कि शीघ्र ही शान्ति का सन्देश उनके कानों तक पहुँचेगा।

शान्ति का सूत्र

जीवों की कष्टप्रद स्थिति तथा उनके धुँधले भविष्य का पूर्वानुमान लगाकर भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* नामक शास्त्र का प्रवचन किया जिसमें मानव जाति के लिए सुस्पष्ट शिक्षाएँ हैं। ये शिक्षाएँ संसार की प्रज्ज्वलित दावाग्नि के लिए शान्ति की शीतलकारी वर्षा के समान हैं। सामान्य मानवी कार्यकलाप *श्रीमद्भगवद्गीता* में संस्तुत कार्य-कलापों से सर्वथा भिन्न हैं। हमें इस अन्तर को समझ लेना अत्यावश्यक है। हमारे युग में ऐसे अनेक सकामकर्मी मिलते हैं जो अपने को कर्मयोगी बतलाते हैं, किन्तु वस्तुतः वे अपने परिश्रम का फल भोगते देखे जाते हैं। हमें इस मिथ्या कर्मयोग की नहीं, अपितु असली बुद्धियोग की आवश्यकता है जिसकी व्याख्या भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कई बार की है। बुद्धियोग का अर्थ है "भगवान् की भक्ति *गीता*"। में (१०.१०) भगवान् कहते हैं "जो लोग प्रेमपूर्वक मेरी सेवा करने में निरन्तर लगे रहते हैं उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा वे मुझ तक आ सकते हैं।" अन्यत्र *गीता* में ही (१८.५६) भगवान् कहते हैं, "मनुष्य मुझे भक्ति के द्वारा ही भगवान् के रूप में समझ सकता है"। इसलिए चूँकि बुद्धियोग परमेश्वर को प्राप्त करने का साधन है अतः यह बुद्धियोग भक्ति के अलावा और कुछ नहीं है। परमेश्वर को प्रेमाभक्ति के माध्यम से ही प्राप्त किया जाता है। यह तथ्य सुविख्यात है। अतः भगवान् को भक्तवत्सल भी कहा जाता है अर्थात् वे जो अपने भक्तों के प्रति विशेष रूप से स्नेहिल हैं।

बुद्धियोग सम्पन्न करके मनुष्य जिस कर्म के मार्ग को अपनाता है वही मनुष्य के लिए स्थायी शान्ति प्राप्त करने का साधन है। ऐसा कर्म-मार्ग मनुष्य को "विधाता के विधान से" विश्राम दिला सकेगा। हम *भगवद्गीता* (२.३९-४०) से बुद्धियोग का सार स्पष्टतः समझ सकते हैं—

"यहाँ तक मैंने विश्लेषणात्मक अध्ययन द्वारा इस ज्ञान का वर्णन किया। अब निष्काम भाव से कर्म करना बता रहा हूँ। इसे सुनो। हे पृथापुत्र! तुम यदि ऐसे ज्ञान के अन्तर्गत कर्म करोगे तो तुम कर्म के बन्धन से अपने आपको मुक्त कर सकते हो। इस प्रयास में न तो हानि होती है न ह्रास, अपितु इस पथ पर की गई अल्प प्रगति भी मनुष्य की हर प्रकार के महान भय से रक्षा कर सकती है।"

सांख्य योग द्वारा आधुनिक पुरुष के लिए शान्ति की प्राप्ति असम्भव-प्राय है। किन्तु बुद्धियोग यानी भगवान् की प्रेमाभक्ति के माध्यम से शान्ति सहज ही प्राप्य है और यह शान्ति उत्तमोत्तम कोटि की है—यह और किसी भी विधि से अनुभूत सुख से कहीं अच्छी है। जो कार्य भक्ति से सीधे सम्बद्ध होते हैं वे किसी बाह्य कारण से बिना अवरुद्ध हुए पुष्पित होते रहते हैं। जो जितना भक्ति-कार्य करता है वह सदैव अक्षत रहता है। यह कर्ता के लिए स्थायी आध्यात्मिक लाभ है जो कभी भी व्यर्थ नहीं जाता। थोड़ी सी भी की गई भक्ति मनुष्य को महानतम भय से बचाने के लिए पर्याप्त है।

शुद्ध भक्ति की एक ही विधि है। साथ ही *गीता* में यह भी इंगित हुआ है कि ज्ञान तथा कर्म अर्थात् सकाम कर्म के माध्यम से बुद्धियोग किस तरह सम्पन्न किया जाय। जब बुद्धियोग को सकाम कर्म के साथ सम्पन्न किया जाता है तब यह कर्म-योग कहलाता है। इसी प्रकार जब इसे ज्ञान के साथ सम्पन्न किया जाता है, तो यह ज्ञानयोग कहलाता

है और जब बुद्धियोग कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों को ही पार कर जाता है और पूरी तरह अमिश्रित हो जाता है तो यह शुद्ध भक्तियोग अथवा प्रेमाभक्ति कहलाता है।

इस जगत में किये गये सकाम कर्म, चाहे वे सामाजिक मर्यादा के अनुसार हों या वैदिक मानदण्ड के अनुसार किये जायँ, भिन्न-भिन्न परिणाम देने वाले हैं। पुनः इन कार्यों के फलों का अनुभव करके मनुष्य नवीन कार्यों तथा अनुवर्ती फलों को उत्पन्न करता है जिससे पुनः नये कर्म तथा उनके फल उत्पन्न होते हैं। ये सारे कर्म तथा उनके फल स्वतः कर्मयोग नहीं कहला सकते। हम देख सकते हैं कि सकाम कर्म करना तथा उनके फलों का अनुभव होना एक ऐसे विशाल वृक्ष के समान है जिसमें अनन्त शाखाएँ-प्रशाखाएँ निकलती हैं। क्या ऐसे विशालवृक्ष के अनन्त फलों का अनुभव करने वाला कर्मी कभी शान्ति तथा वरदान का भोग कर सकता है? नहीं। इसीलिए कहा जाता है कि "विधाता के विधान में मनुष्य को विश्राम नहीं मिल सकता है।" इस जीवन में भी, सकामकर्मी कर्म के चक्र में पूरी तरह फँसा रहता है, क्योंकि वह भौतिक अस्तित्व रूपी वृक्ष पर बैठा होता है। फलस्वरूप आत्मा को ८४ लाख योनियों में प्रविष्ट करना और तीन प्रकार के कष्टों को भोगना ही पड़ता है जिससे उसे कभी कोई विश्राम या शान्ति नहीं मिल पाती।

ऐसा होने पर भी लोगों के लिए सकामकर्मों का परित्याग कर पाना असम्भव हो जाता है। यहाँ तक कि संन्यासी भी, जो ऐसे कर्मों के परित्याग का दिखावा करते हैं, अनेक कर्म करने पर, कम से कम अपनी भूख मिटाने के लिए, विवश हो जाते हैं। श्रीपाद शंकराचार्य ने अपने समय में संन्यासियों की दशा देख कर टिप्पणी की थी, "अपना पेट भरने के लिए मनुष्य नाना वेश धारण करता है।" और समस्त

कर्मों के परित्याग का प्रयास इसका समाधान नहीं। जब योद्धा अर्जुन ने युद्ध में लड़ने के अपने धर्म को त्यागना चाहा तो भगवान् कृष्ण ने उसे सलाह दी, "अपना नियत कर्म करो, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा ऐसा करना श्रेष्ठतर है। बिना कर्म के कोई व्यक्ति अपने भौतिक शरीर का पालन भी नहीं कर सकता।" (*भगवद्गीता* ३-८)

मनुष्य को चाहिए कि वह शास्त्रों से अधिकार प्राप्त किये बिना अपने नियत कर्म को न त्यागे, क्योंकि इससे जगत में अव्यवस्था फैलेगी। चूँकि कर्म के बिना शरीर का पालन असम्भव है, अतः कर्मों का पूर्ण परित्याग असम्भव है। दूसरी ओर, भौतिक बन्धन-रूपी वृक्ष, जो सकाम कर्मों तथा उनके फलों के बल पर ही पनपता है, किसी तरह भी शान्ति की आशा लाने वाला नहीं हो सकता। इसी कारण भगवान् ने बताया है कि मनुष्य किस तरह कर्म करे "श्रीविष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना चाहिए, अन्यथा कर्म के द्वारा इस भौतिक जगत में बन्धन उत्पन्न होता है, अतः हे कुन्तीपुत्र! भगवान् की प्रसन्नता के लिए अपने नियत कर्म करो। इस तरह तुम बन्धन से सदैव मुक्त रहोगे।" (*भगवद्गीता* ३.९)

यह अन्य प्रकार का "विधाता के विधान" हैं जिसमें कर्मफल किसी को नहीं बाँधते। समस्त कर्मों को केवल भगवान् विष्णु की तुष्टि हेतु यज्ञ के रूप में करना कर्मफल से असली मुक्ति है या कर्मयोग की असली कला है। इस कर्मयोग की प्रक्रिया द्वारा मनुष्य कर्मफल के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और उसकी भगवान् के लिए अन्तर्निहित नित्य प्रेमाभक्ति क्रमशः प्रकट होने लगती है। इस तरह के कर्मयोग को नैष्कर्म्य भी कहते हैं, अर्थात दूसरे शब्दों में किसी प्रकार की इन्द्रियतृप्ति की आशा के बिना किये गये कर्म भी कहते हैं। जो व्यक्ति इस तरह कर्म करता है, वह अपने सारे कर्मफलों को, स्वयं भोगने

के बजाय, परमेश्वर को अर्पित करता है।

हम सबों को अपने तथा अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए आवश्यक धन कमाने का प्रयास अवश्य करना चाहिए। धन से भोजन खरीदा जाता है और भोजन हमारे शरीर का पोषण करता है। पर्याप्त भोजन के बिना शरीर क्षीण तथा व्यर्थ हो जाता है और तब मनुष्य जीविका का कोई अन्य साधन नहीं उत्पन्न कर सकता। यह तय कर पाना अति कठिन है कि कारण क्या है और कार्य क्या है। सकाम कर्म का चक्र ऐसा ही है। जन्म-जन्मान्तर हमारा शरीर सकाम कर्म के विशाल चक्र के इर्द घूमता रहता है। यदि भगवान् या उनके शुद्ध प्रतिनिधि की कृपा से इस घूमते हुए चक्र में फँसा भाग्यशाली आत्मा अपनी कष्ट-मय स्थिति को समझ जाए तो वह ऐसे कर्म करने लगता है जो उसे इस बन्धन से मुक्त करा सकते हैं।

जीवन का एकमात्र लक्ष्य

हमारा लक्ष्य इस भौतिक जगत में उपलब्ध होने वाली क्षणिक शान्ति तथा सुख नहीं है। जीवों के रूप में हम शाश्वत हैं; अतः स्थायी सुख की इच्छा हमारा प्रधान लक्ष्य होना चाहिए। फिर भी हम जीवात्माएँ लाखों शरीर बदलते हैं और चौदह भौतिक लोकों में ऊपर-नीचे आते जाते हैं, भ्रामक शान्ति तथा सुख का पीछा करते हैं और इसमें प्रचुर रक्त एवं शक्ति व्यय करते हैं। हम असुरों की तरह जिस स्थायी शान्ति तथा सुख के पीछे दौड़ते हैं वह निरन्तर हमें धोखा देते हैं। हम यह नहीं जान पाते कि असली शान्ति तथा सुख कहाँ सुलभ हैं। जैसा कि प्रह्लाद महाराज ने *श्रीमद्भागवत* में (७.९.२५) कहा है, "इस भौतिक जगत में हर जीव कुछ न कुछ भावी सुख चाहता है जो मरुस्थल में मृग-तृष्णा की भाँति ही है। भला मरुस्थल में जल कहाँ,

या दूसरे शब्दों में, इस भौतिक जगत में सुख कहाँ है?"

सत्य की खोज में हम भटक जाते हैं और भौतिक शरीर तथा मन रूपी नाव की शरण ग्रहण करके संसार रूपी सागर में निरुद्देश्य यात्रा करते रहते हैं, किन्तु हमें स्थल कहीं नजर नहीं आता। क्रूरतापूर्वक उछाले जाते हुए हम सोचते हैं, "विधाता के विधान में मनुष्य को कोई विश्राम नहीं मिल सकता।" काश! हम इतना जान पाते कि हमारा परम लक्ष्य भगवान् विष्णु हैं। तब हम अपने कष्ट का अन्त कर पाते। इस बारे में हमारा अज्ञान दूर करने के लिए भगवान् कृष्ण ने हमें सूचित किया है कि हमें सारे कर्म भगवान् विष्णु की तुष्टि हेतु यज्ञ रूप में करने चाहिए। इसकी पुष्टि ऋग्वेद करता है, "भगवान् विष्णु हर वस्तु के परम आश्रय हैं। सारे देवता निरन्तर उनका ध्यान करते हैं।" इस तरह हम देखते हैं कि देवतागण भी विष्णु के चरणकमलों को अपना परम गन्तव्य मानते हैं और वे उनकी प्रसन्नता के लिए समस्त कर्म करने मात्र से मुक्त बन जाते हैं। जो अपने आपको पापमय कर्म-चक्र से छुड़ाना चाहता है उसके समक्ष अन्तिम लक्ष्य भगवान् विष्णु के चरणकमल होने चाहिए। अन्यथा उसे असुर बनना होगा।

वर्णाश्रम या सनातन धर्म के अनुयायी अब हिन्दू कहलाने लगे हैं। उनके पूर्वज, विशेषतया वे जो उच्च जातियों के अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य थे, भगवान् विष्णु पर अपना जीवन केन्द्रित करते थे। जीवन की प्रत्येक अवस्था में, विशेषतया गृहस्थ आश्रम में, लोग अपने घरों में विष्णु की तुष्टि हेतु भक्ति करके उनकी पूजा करते थे। कुछ पक्के भक्तात्मा आज भी इसे चालू रखे हुए हैं। वे भगवान् की सेवा हेतु ही धन जमा करते हैं। धन से वे अनाज तथा शाक खरीदते हैं जिन्हें वे भक्तिपूर्वक पकाकर भगवान् विष्णु को अर्पित करते हैं। बाद में भक्तगण इस भोजन या प्रसाद को खाकर इसका आदर करते

हैं। इन सारे कार्यों में भगवान् विष्णु ही भोक्ता रहते हैं और भक्त उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करता है। भूत काल में ऐसे कार्यों के लिए उपयुक्त अवसर होता था और आज भी कई स्थानों में उनको सम्पन्न किया जाता है। वस्तुतः ऐसी भक्ति सभी लोगों पर, सभी स्थानों पर और सभी कालों पर लागू होती है।

श्रीविष्णु भगवान् हैं और हर कार्य के लक्ष्य हैं। केवल उनकी तुष्टि के लिए समस्त कर्म करना सकाम कर्म के चक्र से छूटने के मार्ग को प्रशस्त बनाना है। यह संस्तुति की जाती है कि समस्त प्रगतिशील लाभप्रद कार्य भगवान् विष्णु की तुष्टि के लिए ही किए जाएँ। शास्त्रों के कथन को दोहराते हुए विद्वान् मुनि-गण घोषणा करते हैं कि भगवान् विष्णु के चरणकमलों की प्राप्ति मुक्त होने के ही समान है। कर्मयोग की प्रक्रिया का अन्तिम चरण भगवान् विष्णु को तुष्ट करना है जिस बिन्दु पर मनुष्य की निजी इच्छाएँ स्वतः पूर्ण हो जाती हैं। इस बिन्दु का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि यदि कर्म उनकी तुष्टि के लिए नहीं किया जाता तो सारे कर्म पाप से कलंकित होकर पापफलों में परिणत हो जाते हैं जिससे समाज में उपद्रव खड़ा हो जाता है। *भगवद्गीता* में (३.१३) कृष्ण कहते हैं, "भगवान् के भक्त सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि वे यज्ञ में अर्पित किये भोजन (प्रसाद) को ही खाते हैं। अन्य लोग, जो अपने इन्द्रिय-सुख के लिए भोजन बनाते हैं वे निश्चित रूप से पाप ही खाते हैं।"

इस प्रकार से भोजन बनाकर खाना भगवान् विष्णु की सेवा है। कभी कभी ऐसा लग सकता है कि ऐसा करने से कुछ पाप किया जा रहा है, किन्तु यदि कोई यज्ञ के उच्छिष्ट को ग्रहण करके उसका आदर करता है तो वह समस्त बन्धनों से स्वतः छूट कर मुक्त बन जाता है। भले ही हम पापों से बचने का प्रयास करते हुए और अहिंसा

के पथ का कठोरता से अनुसरण करते हुए सावधानी से रहें तो भी हमारे जीवन कर्मफल के चक्र द्वारा नियन्त्रित होते हैं। अतः हमें न चाहते हुए भी अनेक प्रकार के पाप करने पड़ते हैं। हम अपने व्यापारिक लेन-देन, सामान्य आपसी बर्ताव, नैत्यिक कार्य तथा विशेषतः राजनीतिक एवं प्रशासनिक कार्यों में अनेकानेक पाप करते हैं। अहिंसा के समर्थन में गला फाड़ना अच्छी बात है, किन्तु वास्तविक जीवन में मनुष्य हिंसक कार्य करने पर बाध्य हो जाता है। मनुष्य अनेक प्रकार के पापों से बचने में सफल हो भी जाए, किन्तु पञ्च-सूना यानी पाँच महापाप करने से बच पाना असम्भव है। सड़क पर चलते हुए हम अपनी इच्छाओं के विरुद्ध कई चींटियों को कुचल सकते हैं। घर की सफाई करते समय हम कई कीटों को मसल सकते हैं। अनाज पीसते या आग जलाते समय हम कई क्षुद्र जीवों को विनष्ट करते हैं। इस तरह अपना दैनिक कार्य करते हुए हम हिंसा करने पर विवश हो जाते हैं और हम अनेक निर्दोष प्राणियों को नष्ट कर देते हैं। इस तरह जाने-अनजाने हम पाप करते हैं। इस प्रकार जब मानव का मस्तिष्क अपने लिए अहिंसा का पथ अपनाने के लिए कोई धर्म गढ़ता है तो इससे किसी एक को लाभ मिलता है और दूसरे को कठिनाई होती है।

मनगढंत विश्वासों से उत्पन्न विपदाओं से बरी हो पाना असम्भव है। मानव-निर्मित नियमों के अनुसार यदि एक व्यक्ति किसी दूसरे की हत्या करता है तो उसे फाँसी की सजा दी जाती है, किन्तु पशुओं का वध करने पर किसी व्यक्ति के खिलाफ कोई कार्यवाही नहीं की जाती। किन्तु दैवी नियम इस तरह का नहीं है। ईश्वरीय नियम ऐसा है कि यह मनुष्य तथा पशु दोनों ही के हत्यारों को दण्ड देता है। दोनों प्रकार की हत्याओं के लिए दण्ड है। नास्तिकजन ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि इस तरह वे बिना किसी

रोकटोक के पाप कर सकते हैं। किन्तु सारे प्राधिकृत शास्त्र कहते हैं कि गृहस्थ जन अपने दैनन्दिन कार्य करते समय, चाहे या अनचाहे रूप से, अनेक निर्दोष प्राणियों का वध करके अनेक पाप करते हैं। इन पापों से छुटकारा पाने के लिए गृहस्थों को कुछ यज्ञ करने का आदेश है। इनमें सर्वप्रमुख है भगवान् विष्णु को अर्पित भोजन के उच्छिष्ट को खाना और उसका आदर करना। जो स्वार्थी गृहस्थ भगवान् विष्णु की सेवा के लिए भोजन न बनाकर केवल अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए बनाते हैं उन्हें भोजन बनाते तथा खाते समय होने वाले समस्त पापकर्मों के फल भोगने पड़ते हैं। यह दैवी नियम है। अतः इनसे छुटकारा पाने के लिए वैदिक धर्म के अनुयायी अपने सारे गृह-कार्य भगवान् विष्णु की सेवा में समर्पित कर देते हैं।

इसलिए समाज के कर्णधारों को सलाह दी जाती है कि वे अपने निजी लाभ के लिए तथा उन सबों के लाभ के लिए, जिनका वे मार्गदर्शन कर रहे हैं, भगवान विष्णु की तुष्टि के लिए भक्ति करें। *भगवद्गीता* में (३.२१) भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "महापुरुष जो जो आचरण करता है सामान्य जन उसी का अनुसरण करते हैं। वह अपने अनुसरणीय कार्यों से जो आदर्श प्रस्तुत करता है, उसका अनुसरण सारा विश्व करता है।" चूँकि सारे लोग उनके आदर्श का अनुसरण करते हैं, अतः कर्णधारों को चाहिए कि वे भगवान् विष्णु की भक्ति-विधि का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें। यह उनका कर्तव्य है। अतः मानव समाज के लाभ हेतु ऐसे विश्वविद्यालयों के निर्माण किये जाने की अत्यन्त आवश्यकता है जो भक्ति का ज्ञान प्रदान करें।

दुख की बात है कि समय ऐसा आ गया है कि जिन्हें समाज का कर्णधार तथा अग्रणी माना जाता है वे ही अन्यों की अपेक्षा ईश्वर के अधिक घोर शत्रु हैं। अतः वे भगवान् विष्णु की तुष्टि के

लिए कौन सी भक्ति कर सकते हैं? और यदि वे भक्ति नहीं कर सकते तो वे अपने असंख्य पापों से कैसे मुक्त होंगे? यदि समाज के अग्रणी पुरुष यह घोषित करने को राजी नहीं हैं कि भगवान् विष्णु सर्वव्यापी परम ब्रह्म हैं और साकार तथा निराकार दोनों होने से सर्वव्यापक हैं तो भला सामान्य व्यक्ति इस गोपनीय विषयवस्तु को कैसे समझ पाएगा? परमेश्वर हर वस्तु के एकमात्र स्वामी हैं। हम इस जगत के भोक्ता तथा स्वामी का पद ग्रहण नहीं कर सकते। वे हमें अपने उच्छिष्ट के रूप में जो भी कृपापूर्वक प्रदान करें, उसे ही हमें स्वीकार करना चाहिए। हमें दूसरे की सम्पत्ति की कभी चाह नहीं करनी चाहिए। *ईशोपनिषद्* कहती है—

"इस ब्रह्माण्ड के भीतर की प्रत्येक जड़ या चेतन वस्तु परमेश्वर द्वारा नियन्त्रित है और उनकी सम्पत्ति है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपने लिए केवल उन्हीं वस्तुओं को स्वीकार करे जो उसके लिए आवश्यक हों और जो उसके भाग के रूप में नियत की गई हैं। उसे अन्य वस्तुओं को यह जानते हुए कि वे किसी और की हैं स्वीकार नहीं करना चाहिए।"

जब समाज के कर्णधार अपने समस्त कार्यकलापों को भगवान् विष्णु पर केन्द्रित करेंगे तभी उनके इन कार्यकलापों से स्वयं उनको तथा उनके अनुयायियों को सौभाग्य और आशीर्वाद प्राप्त हो सकेगा। किन्तु यदि वे कर्णधार भगवान् विष्णु के लिए कर्म करने से कतराते रहेंगे और बदले में स्वयं विष्णु होने का ढोंग रचेंगे—अपने अनुयायियों से पूजा, धन तथा प्रशंसा पाकर उसे ही उच्छिष्ट के रूप में उन्हें लौटाएँगे—तो हो सकता है कि अन्य लोग उनके आडम्बरपूर्ण त्याग से आकृष्ट होकर और उनका अनुसरण करके अपने विनाश का मार्ग प्रशस्त करें। किन्तु इससे अधिक कुछ मिलने वाला नहीं। ऐसे कर्णधार

अपने अज्ञानी चापलूसों को व्यर्थ में उत्तेजित करके अनेक पापपूर्ण कर्म करने के लिए उकसाते हैं। इस तरह ऐसे स्वार्थी कर्णधार अपनी निजी प्रसिद्धि, सम्मान तथा सम्पत्ति बढ़ाने के लिए अपने अनुयायियों का सर्वनाश कर देते हैं। दुर्भाग्यवश ये कर्णधार यह नहीं जान पाते कि यह तुच्छ प्रसिद्धि, सम्मान तथा सम्पत्ति उनके मरने के साथ जल कर राख हो जाएगी। किन्तु इन क्षणिक भौतिक लाभों के लिए जो पापपूर्ण विधियाँ अपनाई गई हैं, उनके जो परिणाम निकलेंगे वे उनके सूक्ष्म शरीर यानी मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार से घुल-मिल जाएँगे और ये परिणाम बाद में अन्य पापकर्मों के बीज बन जाएँगे जो आत्मा को जन्म-जन्मान्तर के लिए कर्मफल के चक्र में बाँध कर विभिन्न जीवयोनियों में फिराते रहेंगे।

भौतिक रोग का उपचार कैसे किया जाय?

सामान्य जन उन कर्णधारों के आदेशों तथा निर्णयों का मात्र अनुसरण करते हैं जो आध्यात्मिक अनुभूति से वंचित हैं। इसलिए सलाह दी जाती है कि समाज के कर्णधार दायित्वपूर्वक कर्म करें। जब ये कर्णधार कर्मयोग के उपदेशों को बुद्धिपूर्वक व्यावहारिक रूप प्रदान करते हैं तो समृद्धि का सुगम मार्ग खुल जाता है। पहले अपने रोग को ठीक करने में दक्ष बने बिना अनेक रोगियों का उपचार करने का प्रयास कोई क्यों करे? यह अनुपयुक्त है। सर्वप्रथम कर्णधार को अपने ही जीवन में कर्मयोग के नियमों को धारण करना होता है तभी वह लोगों के रोग का निदान कर सकता है। उसके बाद ही औषधि निर्धारित करनी होती है और उचित भोजन दिया जाना होता है। रोगियों को ऐसा इन्द्रियतृप्तिकारी उपचार बताना जो उनकी इन्द्रियों को गुदगुदाता हो, उनको स्वस्थ नहीं बना पायेगा, प्रत्युत इससे रोग और बढ़ेगा और एक ऐसी अवस्था आएगी जब वैद्य स्वयं छूत पकड़ लेगा और

उससे मर जाएगा।

भगवान् विष्णु की विस्मृति मानव समाज का असली और आदिम रोग है। अतः यदि इस बीमारी का इलाज न करके रोगियों के प्रति ऊपरी तथा झूठी चिन्ता जताई जाय तो इससे क्षणिक राहत तथा आनन्द भले मिल जाय, किन्तु इससे उनका रोग स्थायी रूप से दूर नहीं किया जा सकता। यदि रोगी उचित दवा और भोजन चाहता हो, किन्तु उसे उचित दवा तथा भोजन के बजाय बुरी दवा तथा भोजन दिया जाय तो उसका काल के गाल में जाना निश्चित है।

भगवान् को अर्पित किये गये भोजन का उच्छिष्ट—प्रसादम्—सभी रोगियों के लिए सर्वोत्तम आहार है। परमेश्वर विषयक कथाएँ सुनना और उनकी महिमा की चर्चा करना, भगवान् के अर्चाविग्रह का दर्शन करना तथा उसकी पूजा करना और भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण—ये सबसे बड़ी औषधि अर्थात् रामबाण दवा हैं। ये कर्म ही समृद्धि की ओर ले जाने वाले सुरक्षित मार्ग हैं जबकि अन्य कर्म आपत्ति ढाने वाले हैं। भगवान् की भक्ति कभी भी समाज को क्षति नहीं पहुँचा सकती प्रत्युत यह सु-अवसरों तथा आशीर्वाद के युग का सूत्रपात करने वाली है। जो लोग अवसरवादी तथा आर्थिक चिन्तक हैं उन्हें ठंडे दिमाग से इन तथ्यों पर विचार करना चाहिए।

समाज के दिग्गज यथा महात्मा-गांधी ने शान्ति का युग लाने के लिए विविध प्रकार से यत्न किये, किन्तु चूँकि ऐसे प्रयास आध्यात्मिक दृष्टि से विकसित सन्तों द्वारा प्रेरित या आशीर्वाद-प्राप्त नहीं थे, अतः वे न तो सफल हुए न ही भविष्य में सफल हो पाएँगे।

अद्वैतवादियों या मायावादियों का ईश्वर खा-पी या देख-सुन नहीं सकता। ऐसा मनोकल्पित रूप-विहीन ईश्वर कभी भी विश्व में शान्ति नहीं ला सकता। भला जिस ईश्वर के इन्द्रियाँ न हों वह लोगों के

कष्टों को कैसे देख सकता है या उनकी हार्दिक प्रार्थनाओं को कैसे सुन सकता है? आध्यात्मिक सत्य की खोज के नाम पर ऐसे रूप-विहीन ईश्वर की पूजा संसार में दुर्भाग्य को ही जन्म दे सकती है। वह कभी भी सौभाग्य नहीं ला सकती। दर्शन के मायावाद सिद्धान्त में भले ही शुद्ध ज्ञान की विवेचनाओं से पर-ब्रह्म के असली स्वभाव पर कुछ प्रकाश पड़े, किन्तु वे परम ब्रह्म के गोपनीय तथा साकार पक्षों के विषय को पूर्णतया प्रकट कर पाने में असमर्थ हैं। ये शुष्क ज्ञानवादी व्याख्याएँ अपने लक्ष्य—पर-ब्रह्म का पूर्णज्ञान—की पूर्ति करने में बहुत पीछे रह जाती हैं। अत: यदि केवल महात्मा गांधी जैसे नेतागण परब्रह्म पुरुष की—रूपविहीन शक्ति की नहीं—अनुभूति करने का प्रयास करें तो उनसे मानवसमाज को असली लाभ मिल सकता है।

बद्ध मानव इस भौतिक शरीर तथा मन से निपटने में दक्ष हैं। ये निरे भौतिकतावादी जो भौतिकतावादी कार्य-कलाप के परे नहीं देख सकते, इस पर विश्वास नहीं कर पाते कि हमारे भौतिक ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त एक आध्यात्मिक ब्रह्माण्ड भी विद्यमान है। ऐसे भौतिकतावादी अपनी पहचान पूर्णतया शरीर से करते हैं और वे पशुओं के समान ही मात्र खाते, सोते, सम्भोग करते और अपनी रक्षा करते रहते हैं। वे इन चार पाशविक लालसाओं पर इतने मुग्ध रहते हैं कि वे पाप-पूर्ण तथा पुण्यमय कर्मों में अन्तर करने की विवेकशक्ति खो बैठते हैं। वे क्षणिक इन्द्रिय-तुष्टि के लिए लगातार प्रयास करते हैं, किन्तु उनके सारे प्रयास निष्फल हो जाते है। अनेक आधुनिक विज्ञानियों ने ऐसे स्थूल कार्यकलापों को जो लाभरहित तथा घातक हैं सुविधा-जनक बनाने के लिए पुरोहितों की भूमिका धारण कर ली है। इन विज्ञानियों ने इन्द्रियों को मात्र उत्तेजित करने के लिए नाना प्रकार के सामान उपलब्ध करा दिये हैं जिससे भौतिकतावादियों के बीच विकट स्पर्धा

की भावना उत्पन्न हुई है जिसके कारण समाज में निन्दनीय वातावरण उत्पन्न हो गया है। लोग सोचते हैं कि ऐसे ऐन्द्रिय कार्यकलापों से वे स्वतन्त्र तथा आत्मनिर्भर बनते हैं, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि वे शृंखलाओं में और अधिक मजबूती से बँधते जाते हैं। उनके पास जितनी ही अधिक संचित सम्पत्ति होती है उतनी ही अधिक उनकी चिन्ता तथा बदचलनी होती है। एकमात्र भोक्ता होने के भगवान् के पद को वे जितना अधिक हड़पने का प्रयास करते हैं, उतना ही अधिक वे भयानक मृत्यु के मुँह में समाते जाते हैं। ये कार्यकलाप शरीर के पालन-पोषण के सरल आधारभूत कार्य को, जिसमें थोड़े से पोषण की आवश्यकता होती है, अत्यन्त कठिन बना देते हैं।

स्थूल भौतिकतावादियों के इस तुच्छ वर्ग से कुछ ऊँचा उच्चवर्ग उनका है जो आत्मा के देहान्तरण में विश्वास करते हैं। ये वे सकाम कर्मी हैं जो दान देने जैसा पुण्य-कर्म करते हैं, किन्तु उनका एकमात्र मनोभाव यही रहता है कि अगले जीवन में उन्हें विलास तथा इन्द्रिय-भोग मिले। भौतिकतावादी कर्मियों के इन वर्गों में से कोई भी यह अनुभव नहीं करता कि पुण्य-कर्म तथा पापमय कर्म दोनों ही बन्धन के कारण बनते हैं। ये भौतिकतावादी यह नहीं जानते कि निष्कामभावना से किया कर्मयोग सर्वोत्तम कर्म है। अत: वे प्राय: सोचते हैं कि इस भौतिक संसार में कर्मयोगी उतने ही आसक्त हैं जितने कि स्थूल भौतिकतावादी। किन्तु कर्म-योगी का एकमात्र मनोभाव समाज के सदस्यों को अपने लाभ हेतु शिक्षा देना है। जैसा कि भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* में (३.२५) कहते हैं "जिस तरह अज्ञानी पुरुष अपना कर्तव्य फलासक्ति के वशीभूत होकर करते हैं, उसी तरह विद्वानजनों को चाहिए कि लोगों को उचित पथ पर ले जाने के लिए कार्य करें किन्तु अनासक्त रह कर।"

परब्रह्म के ज्ञानी मुनिजन भी अन्यों की तरह अपने शरीरों का भरण-पोषण

करते हैं, किन्तु अन्तर इतना ही है कि उनके कर्मों का लक्ष्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना रहता है। यद्यपि सामान्यजन यह मिथ्या विचार कर सकते हैं कि मुनियों के कर्म उन्हीं जैसे होते हैं, किन्तु वस्तुतः मुनिजन कर्मयोग करते हैं, सकाम कर्म नहीं।

हमारे जगत में वर्तमान काल में आधुनिक विज्ञान तथा तकनीकी का व्यापक विस्तार अनेक रूपों में हुआ है जिससे समाज कर्म के दूषित चक्र में अधिकाधिक फँस गया है। विशाल फैक्टरियाँ, विश्वविद्यालय, अस्पताल आदि समाज को कर्म-चक्र में निश्चित रूप से और अधिक फँसाने वाले हैं। विगत युगों में स्थूल भौतिकतावादी कार्यों के लिए इतनी विशाल जटिल व्यवस्थाएँ कभी नहीं देखी गईं। गलत तथा बुरी संगति मात्र ने निर्दोष जनता को तुच्छ कार्यों में दृढ़ता से बाँध दिया है। किन्तु विद्वान व्यक्ति यानी कर्मयोगी समाज को यह दिखा सकता है कि इन सारे कार्यों को भगवान् की तुष्टि के लिए किस तरह किया जाय।

पूर्वकाल में मुनियों ने लगभग घर घर में भगवान् विष्णु के अर्चाविग्रह के पूजन की व्यवस्था कर रखी थी जिससे लोगों को कर्मयोगी बनने के लिए वातावरण उत्पन्न हो सके। इसी तरह अब यह अत्यावश्यक है कि बड़ी बड़ी फैक्टरियों, व्यापारिक प्रतिष्ठानों, अस्पतालों आदि में भगवान् विष्णु के पूजे जाने और उनकी सेवा की वैसी ही व्यवस्था की जाय। इससे आध्यात्मिक झंडे के तले लोगों में असली समता दृढ़तापूर्वक स्थापित की जा सकती है। भगवान् नारायण दरिद्र नहीं हैं, वे ईश्वरों के परम ईश्वर हैं। अतः यह कहने का प्रयास करना कि दरिद्र लोग 'नारायण' हैं, मूर्खता है। प्रत्युत, भगवान् की पूजा एवं सेवा की व्यापक रूप से व्यवस्था करके मनुष्य हर एक को, जिसमें दरिद्र सम्मिलित हैं, लाभान्वित कर सकता है। परमेश्वर अपने

को अनेक रूपों में प्रकट करते हैं, किन्तु मुनियों ने साधारणतया उनके अनेक रूपों में से तीन रूपों को अर्चाविग्रह के रूप में सेवा तथा पूजा किये जाने के लिए चुना है। ये हैं: लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम तथा राधा-कृष्ण। ये तीन अर्चाविग्रह युग्म समूचे भारत उपमहाद्वीप में व्यापक रूप में पूजे जाते हैं। अतएव हम विशाल फैक्टरियों तथा व्यापारिक प्रतिष्ठानों के मालिकों से अनुरोध करते हैं कि वे अपने प्रतिष्ठानों में इन तीन अर्चाविग्रहों में से किसी एक की पूजा तथा सेवा की व्यवस्था करें। तब मालिक लोग हर एक को प्रसादम् वितरित कर सकते हैं। इस रीति से कर्मियों तथा मालिकों के बीच होने वाला कोई भी मतभेद दूर हो जायगा, क्योंकि दोनों कर्मयोगी बन जाएँगे।

अधिकांश फैक्टरी कार्यकर्ता तथा अन्य श्रमिक अच्छा चरित्र बनाये नहीं रख सकते जिससे वे भ्रष्ट हो जाते हैं। यदि ऐसे उपेक्षितों की संख्या बढ़ती जाए तो संसार का भविष्य सम्पन्न तथा भाग्यशाली नहीं हो सकता। किन्तु यदि मालिक अपने श्रमिकों तथा कार्यालय के स्टाफ को प्रसादम् दें तो दाता तथा प्रापक दोनों ही क्रमशः शुद्ध बनेंगे और परमेश्वर के प्रति और अधिक अनुसक्त होंगे। इससे सारा समाज उन्नत, सभ्य तथा एकता-बद्ध हो जाएगा। दूसरी ओर, अपने ही स्वार्थपूर्ण हित की पूर्ति करने के प्रयास में मालिकगण ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं जिसमें एकता या भाईचारा न केवल नाजुक, अपितु खतरनाक भी बनता है और जब ये मालिकगण इन पतित श्रमिकों को अपने स्थूल स्वार्थ के लिए नौकरी से निकाल देते हैं तो न तो मालिकों को, न ही श्रमिकों को लाभ मिलता है। इससे कर्मीजन तुरंत ही अपने स्वामियों के शत्रु बन जाते हैं।

जब श्रमिकजन तथा उनके अधिकारी-गण ऐसे कर्म करते हैं जो भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के उद्देश्य से नहीं किये जाते, अपितु

भगवान् के लिए कष्टदायक होते हैं तो उनका अन्त वादविवाद करने तथा परस्पर झगड़ने में होता है जिससे समाज में भयावह स्थिति उत्पन्न होती है। साम्यवादी तथा समाजवादी अपने 'वादों' के प्रचार हेतु अपना धन, बुद्धि, यहाँ तक कि प्राणों को भी लगाते हैं। बोल्शेविकों ने बगावत करके और बड़े पैमाने पर सम्पन्न गृहस्थजीवन के स्वप्न को पूरा करने का लोगों से वादा करके सम्पूर्ण रूसी देश को छिन्न-भिन्न कर दिया। कर्मियों के यूनियन (परिषद) अपने मालिकों से निरन्तर झगड़ते रहते हैं। इन समस्त जटिल समस्याओं का एक सरल समाधान है कि हर कोई कर्मयोग सम्पन्न करे अर्थात् परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए कार्य करे।

एक दूसरे के साथ घनिष्ठ तथा ऐक्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के जो प्रयास मनुष्यों ने किये हैं उनकी चरम परिणति संयुक्त राष्ट्र में हुई है। यह संगठन पारिवारिक इकाई की विचारधारा पर आधारित है। पारिवारिक इकाई का क्रमशः विस्तार विशाल समुदाय, गाँव, राज्य, देश और अन्त में महाद्वीप में होने से संयुक्त राष्ट्र के निर्माण का संकेत मिला है। किन्तु जो बात ध्यान देने की है वह इसका केन्द्र है। आखिर, केन्द्रीय आकर्षण क्या है? यदि विस्तार की प्रकिया उलट दी जाय तो मूलभूत इकाई मानव शरीर होगी। शरीर में इन्द्रियाँ ही प्रधान हैं, इन इन्द्रियों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है मन, फिर बुद्धि और तब मिथ्या अहंकार और मिथ्या अहंकार से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है असली आत्मा, शुद्ध आत्मा जो भगवान् विष्णु का भिन्नांश है। अतः निष्कर्ष यही है कि भगवान् विष्णु ही हर वस्तु के उत्स हैं। इसी कारण से प्रह्लाद महाराज ने कहा है—

"जो लोग भौतिक जीवन के भोग की चेतना से बुरी तरह पाशबद्ध हैं और जिन्होंने बाह्य इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्त अपने ही जैसे

अंधे व्यक्ति को अपना नायक या गुरु चुन लिया है वे यह नहीं समझ सकते कि जीवन का लक्ष्य भगवान् के पास वापस जाकर भगवान् विष्णु की सेवा में अपने को लगाना है।"

जो लोग केन्द्र को दृष्टि से ओझल करके बाह्य वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होते हैं वे उथले तथा दिग्भ्रमित हैं। ये दिग्भ्रमित व्यक्ति एक अर्थ में अन्धे हैं, अतएव संसार इनसे प्रबुद्ध होने या मार्गदर्शन पाने की कोई आशा नहीं कर सकता। ये अंधे अन्य अंधे लोगों का मार्गदर्शन करने तथा लाभ पहुँचाने का कितना ही स्वाँग क्यों न रचें, वस्तुतः ये पूर्णतया दैवी इच्छा द्वारा नियन्त्रित होते हैं। हमें यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि हर वस्तु का कारण तथा स्रोत भगवान् विष्णु या परब्रह्म हैं और इस परब्रह्म की पूर्णतम अभिव्यक्ति भगवान् कृष्ण हैं जो भगवान् विष्णु तक के उद्गम हैं। जैसा कि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में (७.७) कहा है, "हे धनंजय (अर्जुन)! मुझसे बढ़कर और कोई सत्य नहीं है।"

इस तरह प्रत्येक वस्तु के चरम उद्गम निश्चय ही स्वयं भगवान् कृष्ण हैं जो सर्व-आकर्षक भगवान् हैं। काफी विचार-विमर्श के बाद भूत-काल में मुनियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि श्रीकृष्ण परम पुरुष हैं, जो परब्रह्म के समस्त विस्तारों एवं प्राकट्यों के मूल हैं। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (१.३.२८) घोषणा हुई है, "उपर्युक्त सारे अवतार या तो भगवान् के स्वांश हैं या स्वांशों के अंश हैं, लेकिन श्रीकृष्ण तो मूल भगवान् हैं...।" हम बाद में भगवान् विष्णु के अंशों की चर्चा अधिक विस्तार से करेंगे, किन्तु फिलहाल हम स्थापित करेंगे कि भगवान् कृष्ण परब्रह्म के सर्वोच्च पहलू हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्मसंहिता* द्वारा (५.१) होती है, "गोविन्द नाम से विख्यात कृष्ण भगवान् हैं। उनका शरीर सत् चित् आनन्द है। वे सभी के उद्गम हैं। उनका कोई

और उद्गम नहीं और वे समस्त कारणों के मूल कारण हैं।''

इस तरह यदि हम भौतिक शरीर तथा इसके शारीरिक सम्बंधों को पार करके आदि भगवान श्रीकृष्ण के माध्यम से हर एक से सम्बद्ध हो जायँ तो हम सत्य तथा वास्तविकता के स्तर पर सम्बन्धित हो सकते हैं। तब भाई-चारे तथा समानता का वास्तविक अर्थ स्पष्ट हो जाएगा।

जीवों की असली पहचान

अपनी बहन के पति (बहनोई) के साथ मनुष्य का सम्बन्ध अपनी बहन से सम्बन्ध पर आधारित होता है। बहन के साथ विवाह के पूर्व बहनोई उस मनुष्य के लिए नितान्त बेगाना था। और जब उनके बच्चे उसके भांजे-भांजियाँ बनते हैं तो उनके साथ भी उसका सम्बन्ध अपनी बहन पर आधारित होता है। ऐसे ही जातियों तथा राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध बनते हैं जो जन्म के देश पर केन्द्रित होते हैं। अतः भारतीय, बंगाली, पंजाबी, जर्मन आदि सम्बन्ध देखने में आते हैं। हम धार्मिक आस्थाओं पर केन्द्रित सम्बंध भी देखते हैं, यथा हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि। किन्तु आत्मा के इन अंशों को ग्रहण करने का चाहे हम कितना भी प्रयत्न करें और इन अंश रूपों की संख्या बढ़ाने का कितना ही प्रयास क्यों न करें, हम अत्यन्त सूक्ष्म तथा अंश के अंश ही बने रहेंगे। भगवान् के भिन्नांश होकर यदि हम उनकी सेवा करने की आकांक्षा नहीं करते तो हम अपनी वास्तविक पहचान के अधिकारी नहीं रह जाते और अज्ञान को प्राप्त होते हैं। इसका उपयुक्त सादृश्य शरीर की कार्य प्रणाली है—यदि कोई अंग अपना नियत कार्य करने से इनकार करता हैं तो शरीर के लिए वह बेकार हो जाता है। इसी तरह यदि हमारे कार्य भगवान् कृष्ण पर केन्द्रित नहीं होते तो वे बेकार और मूल्यरहित बन जाते हैं। आत्मा की नित्य स्वाभाविक

स्थिति है कि वह भगवान् कृष्ण की सेवा करे। वस्तुतः हमारे सारे दुखों की शुरुआत हमारे द्वारा भगवान् कृष्ण के नित्यदास के रूप में कर्म करने की मूल-क्षमता से इनकार करने से होती है। अतः सारे जीवों का पहला कर्तव्य है अपने आदि स्वाभाविक पद पर पुनः स्थापित होना। इस उद्देश्य को प्राप्त करने की दिशा में पहला कदम है कर्मयोग सम्पन्न करना। *चैतन्य चरितामृत* में कहा गया है, ''जीव के गले में माया की जंजीर पड़ी है, क्योंकि वह भूल चुका है कि वह कृष्ण का नित्यदास है।''

लोग सामान्यतः अज्ञानी हैं और सकाम कर्मों में लिप्त रहते हैं। एक कर्मयोगी इन सबों को भगवान् कृष्ण के दास के रूप में, उनके मन को विक्षिप्त किए बिना, उनकी नित्य स्थिति की सच्चाई बताकर उन्हें लाभ पहुँचा सकता है। *भगवद्गीता* में (३.२६) भगवान् कृष्ण निर्देश देते हैं—

''विद्वान व्यक्ति को चाहिए कि वह नियत सकाम कर्मों में आसक्त अज्ञानी पुरुषों को कर्म करने से रोके नहीं जिससे कि उनके मन विचलित न हों; अपितु भक्तिभाव से कार्य करते हुए वह उन्हें सभी प्रकार के कार्यों में लगाए (जिससे कृष्णभावनामृत का क्रमिक विकास हो)।''

जो लोग सकाम कर्म में लिप्त रहते हैं उन्हें आश्वस्त करना कठिन है कि वे भगवान् कृष्ण की भक्ति करें। कारण यह है कि अधिकांश सकाम कर्मी मूर्ख, पतित तथा अपवित्र होते हैं। अतएव उनके सारे कार्य मनमाने तथा दुष्टता से प्रेरित होते हैं। अतः उनकी बुद्धि तथा विशेष योग्यता भगवान् का विरोध करने में लगती है। वे पूर्णतया माया की गिरफ्त में होते हैं, अतएव वे अपने आपको परमेश्वर मानते हैं या कम से कम शिशुपाल असुर जैसा उनका सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी।

वे विविध प्रकार से इस भौतिक जगत का आनन्द उठाना चाहते हैं। वस्तुतः इस जगत का आनन्द उठाने की उनकी आशाएँ मात्र माया हैं और यह माया-रूपी उनकी आकांक्षा उन्हें बुरी तरह ठगती है। तिस पर भी वे आनन्द लूटने की आशा छोड़ नहीं पाते। और जब उन्हें इसकी अनुभूति होती है कि सकाम कर्म व्यर्थ हैं और वे उनका परित्याग करने के लिए बाध्य हो जाते हैं तो ऐसा परित्याग इससे बढ़कर आनन्द लूटने का एक अन्य भ्रामक आयोजन मात्र बन जाता है।

जो लोग अपने कर्मों के फल के लिए लालायित रहते हैं वे अपने कार्य को पूरा करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करते हैं और उनकी कल्पना बेलगाम बैल की तरह चक्कर लगाती है और सारे समय उनका मन उनको यह कहता रहता है कि वे ही वास्तविक भोक्ता हैं। अतएव इन मूर्ख विकृत बुद्धि वाले कर्मियों के मन को छेड़े बिना बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह उन्हें वे कार्य करने दें जिनमें वे पटु हैं और उनके फलों को कृष्ण की सेवा में अर्पित करवाएँ। ऐसी कार्यवाही से भगवान् कृष्ण के साथ सकाम कर्मियों के नित्य सम्बन्ध का स्वतः पर्दाफाश होगा। अतः लोगों के लाभ के लिए शिक्षा देने हेतु, कृष्ण का दास सकाम कर्मों के फल से मुक्त होने के कारण, सकाम कर्मियों जैसा ही जीवन बिताता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह लगातार कर्मयोग में लगा रहता है।

यदि भगवान् कृष्ण ने कृपा करके अपने भक्त अर्जुन को कर्मयोग की शिक्षा न दी होती तो अज्ञानी आत्माएँ सदा सदा कष्ट उठाती रहतीं। इन अभागे कर्मियों के गलों में सदैव माया का फंदा पड़ा रहता है और वे लगातार कष्ट उठाते हैं, किन्तु उनकी बुद्धि भगवान् की छलने वाली शक्ति से आवृत रहती है जिसके कारण वे कुछ भी नहीं समझ पाते। वे चाहे कितना ही नियन्ता बनने का ढोंग क्यों न करें,

माया निरन्तर उन्हें क्लीव तथा निस्सहाय बनने पर बाध्य कर देती है। भगवान् कृष्ण ने इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में (३.२७) की है, "जीवात्मा मिथ्या अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कर्मों का कर्ता मान बैठता है जबकि वास्तव में वे भौतिक प्रकृति के तीन गुणों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।"

मूर्खकर्मी यह नहीं समझ सकता कि चूँकि उसने भगवान् को भुला दिया है और वह उनका पद हड़प करने का प्रयास कर रहा है, अतः भगवान् की बहिरंगा शक्ति माया ने उसकी गर्दन के इर्द त्रिगुणमयी प्रकृति रूपी रस्सी से एक फंदा बांध दिया है और वह उसे भारी दुख दे रही है। यद्यपि सारे कार्यकलाप भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के अन्तर्गत संपन्न होते हैं और माया द्वारा समन्वित हैं, तथापि निपट मूर्ख कर्मी यह विश्वास किए रहता है कि स्थिति उसके काबू में है। इस तरह वह इस द्वैत-जगत् में बने रहने के लिए उत्तम व्यवस्था करने के प्रयास में व्यस्त रहता है।

भगवान् कृष्ण हमें शिक्षा देते हैं कि सारे जीव उनके भिन्नांश हैं। अंश का कर्तव्य है कि वह पूर्ण की सेवा करे। पूर्ण शरीर में विभिन्न अंश तथा अंग होते हैं जैसे कि हाथ, पैर, आँखें, कान। हाथों तथा पाँवों को सबसे अधिक काम करना पड़ता है, किन्तु वे पेट को भोजन देने से इनकार नहीं करते, यद्यपि पेट बहुत कम काम करता है। दूसरी ओर यदि हाथ और पाँव उलटा काम करने लगें और पेट को भोजन देने से इनकार कर दें तो एक असम्भव परिस्थिति उत्पन्न हो जाय। ऐसी स्थिति में हाथों तथा पाँवों को आनन्द मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि पेट में भोजन की कमी से हाथ-पैर कमजोर तथा बेकार हो जाएँगे। *हितोपदेश* नामक पुस्तक में "पेट तथा इन्द्रियाँ" कहानी शीर्षक में इसे विस्तार से बताया गया है।

भगवान कृष्ण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड रूपी विशाल शरीर की प्राणवायु तथा आत्मा हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने कई स्थलों पर यह बात कही है कि वे हर वस्तु के उद्गम तथा कारण हैं। उल्लेखनीय स्थल हैं "मुझ से बढ़कर कोई सत्य नहीं (७.७)" तथा "मैं समस्त यज्ञों का एकमात्र भोक्ता तथा स्वामी हूँ (९.२४)।" इसलिए इसमें सन्देह कहाँ रह जाता है कि कृष्ण परमेश्वर हैं और सारे जीव उनके नित्य सेवक हैं। हम इस सरल सच्चाई को भूल चुके हैं अतः अपने मन तथा इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में न लगाकर हम अपने को लघु परमेश्वर मानने का दिखावा करने लगे हैं और अपने मन तथा इन्द्रियों का उपयोग इस भौतिक जगत का आनन्द लूटने में करने लगे हैं। यह माया है।

आजकल तरह तरह की समितियाँ कुकुरमुत्तों की तरह फूट रही हैं। एक ऐसी ही समिति ने जिसने अपने पाँव जमा लिए हैं रामराज्य स्थापित करने का आन्दोलन चालू किया है। किन्तु यह जिस रामराज्य का प्रचार कर रही है वह भगवान् राम से रहित प्रतीत होता है। भगवान् राम का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी रावण नामक असुर था और आज के रावणवंशी भी भगवान् राम का वध करने के प्रयास में व्यस्त हैं। तो फिर रामराज्य के स्वर्णिमयुग को लाने की चाह का प्रश्न है कहाँ? यदि कोई आदर्श रामराज्य स्थापित करने के लिए निष्ठावान हो तो विश्व की हर वस्तु भगवान् राम की सेवा में लगानी होगी। किन्तु भगवान् राम के पद तथा प्रतिष्ठा को कम करने का प्रयास करना वस्तुतः असुरराज रावण के नृशंस शासन को स्थापित करने का प्रयास है। यदि ऐसी गलती हुई तो भगवान् राम के वीर तथा अजेय दास हनुमान को आना पड़ेगा और समस्त आसुरी जाति को ध्वस्त करके स्थिति को सुधारना होगा। प्रारम्भ में ही ऐसी गलती से बचने के लिए

हमें भगवान् कृष्ण द्वारा सिखाये गये कर्म-योग के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

कर्मीजन मूर्ख तथा अज्ञानी हैं जब कि कर्मयोगी बुद्धिमान तथा विद्वान हैं। ये बुद्धिमान लोग जानते हैं कि भौतिक कर्मों के स्वभाव तथा गुण आत्मा के स्वभाव से सर्वथा विपरीत हैं। इसी कारण से कर्मयोगी कभी भी कर्मियों की तरह प्रकृति के गुणों के अधीन भौतिक कर्मों में नहीं लगते, अपितु वे कर्मयोग में लगते हैं जो भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के हेतु है। ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति अपने को सदैव इस परिवर्तनशील जगत की घनिष्ठ संगति से दूर रखते हैं, क्योंकि वे आत्मा को उसके मूल आध्यात्मिक पद तक उठाना चाहते हैं। वे समझते हैं कि संयोग-वश ही आत्मा पदार्थ के सम्पर्क में आया है। अतएव मुनिगण अपने कानों, आँखों तथा अन्य इन्द्रियों से इस दृश्य जगत में लगे रह कर भी भौतिक कर्मों से अपने को विलग रखते हैं। *भगवद्गीता* में (३.२८) भगवान् कृष्ण ने कहा है।

"हे महाबाहो! भक्तिभावमय कर्म तथा सकाम कर्म के भेद को भलीभाँति जानते हुए जो परमसत्य को जानने वाला है वह कभी भी अपने आपको इन्द्रियों में तथा इन्द्रियतृप्ति में नहीं लगाता।"

तत्पश्चात् भगवान् कृष्ण ऐसी मुक्त अवस्था प्राप्त करने के साधनों का वर्णन इस प्रकार करते हैं (*भगवद्गीता* ३.३०.३१) "अतः हे अर्जुन! अपने सारे कर्मों को मुझे समर्पित करके मेरे पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर, लाभ की आकांक्षा से रहित, स्वामित्व के किसी दावे के बिना तथा आलस्य से रहित होकर, युद्ध करो। जो लोग मेरे आदेशों के अनुसार अपना कर्तव्य पूरा करते हैं और ईर्ष्यारहित होकर इस उपदेश का श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं वे सकाम कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।"

भौतिक शरीर तथा मन और आत्मा को एक समझना या यह सोचना कि आत्मा भौतिक है या यह कि शरीर से सम्बद्ध हर वस्तु उसकी है, ऐसे मोह से व्यक्ति अज्ञानी तथा आत्मसाक्षात्कार से विहीन बना रहता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण हमें उपदेश देते हैं कि हम आत्मा के ज्ञान में स्थित रहें। जब हम आध्यात्मिक रूप से सतर्क हो जाते हैं तो हम समझ सकते हैं कि "मैं" यानी आत्मा शरीर या मन नहीं है। तब हम अनुभव कर सकते हैं कि हम भगवान् की श्रेष्ठ आध्यात्मिक शक्ति से उत्पन्न हैं, अतः पूर्णतः आध्यात्मिक तथा नित्य हैं। इन दिव्य सत्यों की अनुभूति होने से भौतिक भक्ति की असली प्रकृति का शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। जब ये आध्यात्मिक अनुभूतियाँ धीरे-धीरे प्रौढ़ हो जाती हैं तो मनुष्य भौतिक प्रकृति के द्वन्द्वों से स्वाभाविक दूरी प्राप्त कर लेता है। आध्यात्मिक विकास की इस अवस्था में मिथ्या अहंकार नष्ट हो जाता है, सारी मिथ्या पहचानें तथा उपाधियाँ दूर हो जाती हैं और हम ब्रह्म के साथ अपनी आध्यात्मिक संगति के बल पर माया के बन्धनों से छूट जाते हैं। तब माया हमें भौतिक कर्मों में बाँध नहीं पाती।

यह पुष्ट करने के पर्याप्त शास्त्रीय प्रमाण हैं कि भगवान् कृष्ण परब्रह्म हैं। यहाँ तक कि बाइबल या कुरान जैसे धर्मग्रन्थ भी घोषित करते हैं कि परब्रह्म सर्वशक्तिमान हैं, सर्वज्ञ परम पुरुष हैं। पूरे वैदिक वाङ्मय में इस परम पुरुष को भगवान् कृष्ण घोषित किया गया है और *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् कृष्ण कहते हैं कि वे ही परब्रह्म हैं। इस तरह यदि हम किसी रूप में भगवान् कृष्ण की संगति में आ सकें तो हम दिव्य आत्मा के विषय में प्रबुद्ध हो सकते हैं। जब प्रातःकाल सूर्य उदय होता है तो सारी वस्तुएँ सूर्यप्रकाश में पुनः दृश्य हो जाती हैं। इसी तरह जब कृष्ण रूपी सूर्य हमारी अनुभूति के दिव्य आध्यात्मिक आकाश

में उदित होता है तो माया का अन्धकार तुरन्त भाग जाता है। तभी मनुष्य आदिम-सौन्दर्य से शुद्ध तथा प्रकाशमय होता है।

ये तथ्य मूर्ख व्यक्ति को अतिशयोक्तिपूर्ण या कपोलकल्पित लग सकते हैं, किन्तु ये बच्चों की परी-कथाएँ नहीं हैं। ये सच्चाइयाँ हैं और सत्य हैं। जिन्होंने भगवान् कृष्ण या उनके भक्त की शरण ग्रहण की है, वे इस विषय की गहराई को समझ सकते हैं। इस सच्चाई को केवल वे लोग नहीं स्वीकारेंगे जो भगवान् कृष्ण से शत्रुता रखते हैं और विकृत मस्तिष्क होने के कारण स्वयं परमेश्वर बनना चाहते हैं। जैसा कि भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (९.११) में कहते हैं "जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं।" ऐसे लोग भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। भगवान् कृष्ण तथा उनके दिव्य पद विषयक सच्चाई कभी भी ऐसे मोहग्रस्त तथा असमंजसशील मस्तिष्कों में नहीं घुसेगी।

भगवद् भक्तों की प्रशंसा में

पवित्र तथा सन्त स्वभाव वाले वैष्णवजन *भगवद्गीता* का सही सही अर्थ समझते हैं। *गीता* का सीधा-सादा सन्देश सूर्य की तरह स्वतः प्रकाशित है। इसका ज्ञान निर्विशेषवाद के कुहासे के नीचे छिपा नहीं है। इसमें कोई वैकल्पिक अर्थ निकालने और तब तथाकथित पाण्डित्यपूर्ण टीका करने के लिए कोई अवकाश नहीं है। जो कृष्णभक्त हैं वे ही गीता के उपदेशों को गम्भीरता से समझ सकते हैं और उनका पालन करके कर्मचक्र की भयावह तथा शाश्वत दासता से मुक्त बनते हैं। ऐसे व्यक्ति किसी देश, जाति या समाज विशेष तक ही सीमित नहीं होते। भगवद्भक्तों की तो अपनी निजी श्रेणी होती है—वे आध्यात्मिक समाज का निर्माण करते हैं जिसमें कोई भौगोलिक प्रतिबन्ध नहीं होता।

ईश्वर किसी विशेष समुदाय का एकाधिकार नहीं है। अतएव गीता का सन्देश, सार्वभौमिक होने से, हर किसी के द्वारा अपनाया जा सकता है। आखिर *गीता* में (९.३२) ही भगवान् कृष्ण ने बिना किसी रोक-टोक के यह घोषित किया है—

"हे पार्थ! जो लोग मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे भले ही निम्न-जन्मा—स्त्री, वैश्य तथा शूद्र—क्यों न हों, वे परम धाम को प्राप्त हो सकते हैं।"

भगवान् कृष्ण द्वारा जाति तथा सामाजिक विभाजन के विषय में जो शब्द कहे गये हैं उनकी असुरगण गलत व्याख्या करते हैं और वे उसी आधार पर छल-पूर्वक कार्य करते हैं। किन्तु इससे कृष्ण या उनके शब्दों पर कलंक नहीं लग सकता। *भगवद्गीता* में (४.१३) कृष्ण स्पष्ट कहते हैं—

"प्रकृति के तीनों गुणों और उनसे सम्बद्ध कर्म के अनुसार मेरे द्वारा मानव समाज के चार विभाग रचे गये हैं। यद्यपि मैं इस व्यवस्था का स्रष्टा हूँ, किन्तु तुम यह जान लो कि मैं परिवर्तनशील न होने से अकर्ता हूँ।"

समाज के चार विभागों अर्थात् बुद्धिजीवियों, प्रशासकों, व्यापारियों तथा श्रमिकों को जन्मना नहीं अपितु योग्यता से तै किया जाना चाहिए जिस तरह कोई व्यक्ति जन्म से नहीं अपितु एकमात्र योग्यता से डाक्टर या न्यायमूर्ति बनता है। इस तीन गुणों वाली भौतिक प्रकृति के संसार में सामाजिक श्रेणियाँ सदा से विद्यमान रही है। इसलिए किसी व्यक्ति के जन्म से उसकी जाति या समाज में उसकी श्रेणी का निर्धारण नहीं होना चाहिए। चार श्रेणियाँ व्यक्ति की योग्यताओं के अनुसार बनाई गई थीं।

डाक्टर तो हर देश तथा समाज में उपलब्ध हैं; इसी तरह मनुष्यों की चार श्रेणियाँ भी प्रत्येक देश या समाज में वर्तमान हैं। डाक्टर का पुत्र डाक्टर ही बने यह आवश्यक नहीं। इसी तरह समाज की चार श्रेणियों की सन्तानें अपने माता-पिता के पेशे के अनुसार अपने भावी पेशे को स्वतः निर्धारित नहीं कर सकतीं। शास्त्रों में समाज के विभागों का विस्तृत वर्णन उनके अन्तर्निहित गुणों समेत हुआ है। इसलिए जब हम मनुष्यों की विभिन्न श्रेणियों को किसी विशेष देश या जाति से सम्बन्धित मानते हैं तो हम भारी भूल करते हैं। आज भारतीय संस्कृति वंशागत जाति प्रथा से जकड़ी हुई है और ऐसे संकीर्ण हृदय वाले व्यक्तियों की अमानत है जो कूपमंडूक हैं। यदि इसके बजाय भारत ने *भगवद्गीता* के सन्देश को, नेक ब्राह्मण के उपयुक्त उदार विधि से, फैलाया होता तो इस संसार में शान्ति और अमनचैन की इतनी कमी न हुई होती। ब्राह्मण संस्कृति के प्रसार से संसार अत्यधिक समृद्ध हुआ होता। इसके बदले, वंशानुगत जातिप्रथा लागू करके वैदिक सभ्यता को बुरी तरह अपंग कर दिया गया है और इसके बहुत ही गम्भीर विपरीत प्रभाव जगत पर पड़े हैं। भगवान् ने श्रीचैतन्य अवतार के रूप में ब्राह्मण संस्कृति के प्रसार द्वारा शान्तिपूर्वक जीने के अनेक द्वार खोल दिये हैं। इसे वे आत्मा का धर्म कहते हैं। जो भाग्यवान हैं वे उनके जीवन का अनुसरण कर सकते हैं, उनकी दिव्य शिक्षाओं का पालन कर सकते हैं और अपने जीवनों को पूर्ण बना सकते हैं।

वर्णाश्रम धर्म दो प्रकार का है—आसुरी तथा दिव्य। इन दोनों में एक जैसा कुछ भी नहीं है। शास्त्रों में उल्लिखित समाज की श्रेणियाँ सभी कालों तथा सभी देशों में विद्यमान हैं। यदि शास्त्रों का ज्ञाता विभिन्न समाजों की छानबीन करे तो उसे आसानी से वे चार श्रेणियाँ मिल जाएँगी। ब्राह्मण या पुरोहित के से गुणों वाले व्यक्ति लगभग

हर समाज में देखे जाते हैं। आधुनिक शब्दों में, वे बुद्धिजीवी कहलाते हैं। अन्य सभी श्रेणियाँ भी विद्यमान रहती हैं। इसलिए यह एक स्थापित तथ्य है कि समाज के चार विभाग अपने गुणों के अनुसार सर्वत्र हैं, थे और रहते रहेंगे।

जो लोग यह सोचते हैं कि ब्राह्मण तथा अन्य तीन जातियाँ केवल भारतीय समाज में पाई जाती हैं वे भूल करते हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि कलियुग में जन्मा हर व्यक्ति शूद्र यानी निम्न श्रमिक, चतुर्थ श्रेणी का सदस्य है। फिर भी भारत में ऐसे अनेक लोग हैं जिनमें उच्च ब्राह्मण गुण पाये जाते हैं और अन्य देशों में भी ऐसे लोग पाये जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं। प्रत्येक देश में योग्यता के अनुसार निश्चित मनुष्यों की ये चार श्रेणियाँ पाई जाती हैं। तथ्य तो यह है कि शूद्रों से भी निम्न चण्डाल, जो कुत्ता भक्षी हैं, भक्ति करने के पात्र हैं। यदि कोई चण्डाल उच्च भगवद्भक्त बन जाता है तो योग्यता के आधार पर अन्य सारी श्रेणियों के लोगों द्वारा वह समादरणीय है। इस सन्दर्भ में अनेक शास्त्रीय प्रमाण मिलते हैं। *हरि भक्ति विलास* में (१०.९१) कहा गया है, "भक्त चण्डाल को वही आध्यात्मिक सफलता मिलती है जो भक्त ब्राह्मण को।" पुनः *भागवत* में (७.९.१०) प्रह्लाद् महाराज कहते हैं, "भक्त चण्डाल सामान्य कर्मकाण्डी ब्राह्मण से कई गुणा अधिक उच्च है।" ऐसा भक्त चण्डाल निश्चय ही, ब्राह्मणों का भी गुरु बन सकता है। ऐसा इतिहास में देखने को मिलता है कि निम्न जाति में उत्पन्न कई आध्यात्मिक उपदेशकों ने उच्च जाति वालों को दीक्षा दी। अतः जातियाँ तो योग्यता तथा कर्म के अनुसार वर्गीकृत की जाती हैं, किन्तु शुद्ध भगवद्भक्त पर यह वर्गीकरण लागू नहीं होता। वह किसी भी वस्तु से, जो भौतिक है, परे है। भला ऐसा उच्च व्यक्ति जो सभी जातियों से परे हो, जो सन्त हो, और यदि

उसकी पूजा केवल ब्राह्मण के रूप में हो तो उसकी यह पूजा समुचित नहीं। इसलिए जिस किसी ने भगवान् की शरण ले ली हो वह सभी देशों तथा सभी कालों में समस्त सौभाग्य प्राप्त करता है। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* में कई स्थलों पर हुआ है।

व्यक्ति चाहे इस जगत के किसी भी भाग का हो, यदि वह *भगवद्गीता* में दिये गये भगवान् के आदेशों का पालन करता है तो वह दिव्य पद को प्राप्त होता है और ब्राह्मणों से भी उच्च हो सकता है। *गीता* में (४.२४) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में पूर्णतया मग्न रहता है उसे अपने आध्यात्मिक कर्मों के पूर्ण योगदान के कारण अवश्य ही भगवद्धाम की प्राप्ति होती है, क्योंकि उसमें हवन ही ब्रह्म है और हवि भी उस ब्रह्म की होती है।"

इस श्लोक में बताया गया है कि भगवान् को प्रसन्न करने वाले कर्म निष्पन्न करके किस तरह आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

श्रीपाद शंकराचार्य ने *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* जैसे वाक्यांशों का उद्धरण देते हुए निर्विशेषवाद की स्थापना की जिसका भाव है कि "स्वभाव से हर वस्तु ब्रह्म या आत्मा है।" शंकराचार्य के इस सिद्धान्त ने सुस्थापित शास्त्रीय निष्कर्षों के विषय में काफी ऊहापोह उत्पन्न किया है, किन्तु यह वाक्यांश गीता के उपर्युक्त श्लोक का समर्थन करता है।

यहाँ यह अत्यावश्यक हो जाता है कि हम इसकी चर्चा करें कि भगवान् की प्रसन्नता के लिए भक्ति किस तरह की जा सकती है। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि राजा जनक जैसे सन्त स्वभाव के अग्रणियों ने यज्ञ सम्पन्न करके *कर्मयोग* यानी भक्ति कैसे की। सारे यज्ञों का उद्देश्य भगवान् विष्णु या कृष्ण को प्रसन्न करना होना चाहिए।

हम जिस बद्ध अवस्था में रह रहे हैं उसमें पदार्थ के साथ सम्पर्क से बच पाना कठिन है, क्योंकि शरीर का पालन पोषण करने तथा अन्य प्रयोजनों को पूरा करने के लिए जब हम कर्म करते हैं तो भौतिक प्रकृति से हम घनिष्ठता प्राप्त करते हैं। किन्तु यदि हम इन सभी कर्मों को ब्रह्म की सेवा के लिए करते हुए उनका आध्यात्मीकरण कर सकें तो ये कर्म *यज्ञ* बन जाते हैं। जब वैदिक वाक्यांश *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* की व्याख्या इस रूप में की जाती है तो यह ग्राह्य हो जाती है। दूसरे शब्दों में, जब कोई व्यक्ति हर वस्तु में आध्यात्मिक या दिव्य या परम का आवाहन करता है तो पदार्थ अपनी लौकिकता खो देता है और तभी वह *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* वाक्यांश का सही अर्थ समझ पाता है। वैष्णवों का कहना है कि भक्ति में भगवान् से सम्बन्धित कोई भी वस्तु दिव्य है। दूसरे शब्दों में, यह स्वयं परमेश्वर यानी माधव से अभिन्न है। जिस तरह लोहशलाका आग के सम्पर्क में काफी समय तक लगातार रहने पर लोह का गुण त्याग कर अग्निवत हो जाती है उसी तरह यज्ञ में ब्रह्म को अर्पित हर वस्तु परम या दिव्य बन जाती है।

भगवद्गीता में (१४.२७) भगवान् कृष्ण कहते हैं, "और मैं ही उस निराकार का आश्रय हूँ जो अमर्त्य, अविनाशी तथा शाश्वत है और चरम सुख का स्वाभाविक पद है।" यह श्लोक साफ-साफ घोषित करता है कि ब्रह्म तो भगवान् कृष्ण के शरीर का तेज है। चूँकि भगवान् कृष्ण ब्रह्म के उद्गम हैं अतः कृष्ण की भक्ति से *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* का सही अर्थ स्थापित होता है; कोई यज्ञ तभी उचित रीति से सम्पन्न होता है जब सारी यज्ञ सामग्री—हवि, अग्नि, घी, आदि—आध्यात्मीकृत हो जाय या कृष्ण के सम्पर्क में आकर ब्रह्म अवस्था को प्राप्त हो ले। चूँकि यज्ञ सम्पन्न करने की चरम परिणति भगवान् विष्णु के प्रति

असली प्रेम के प्राकट्य के रूप में होती है, अतः भगवान् विष्णु की प्रेमाभक्ति ही यज्ञ का सर्वोत्कृष्ट रूप है। ऐसी अवस्था को ब्रह्म में पूर्णलीनता भी कहा जा सकता है।

जो लोग इस तरह से कर्म करते हैं वे क्रमशः पदार्थ से वियुक्त होकर भगवान् की भक्ति में अनुरक्त होते हैं। इस तरह वे अपने हृदय-दर्पण को स्वच्छ कर पाने, संसार की दावाग्नि को बुझाने तथा अपने आदि आध्यात्मिक पद को पाने में समर्थ होते हैं। वे ब्रह्म की निर्विशेष अनुभूति से बहुत ऊपर की अनुभूति के पद पर रहते हैं, क्योंकि वे व्यर्थ ही ब्रह्म से तदाकार होने तथा उसके परम पद को छीनने के प्रयास के कलमष से मुक्त रहते हैं। वे चेतना की इस अवस्था से कभी नीचे नहीं गिरते। वे अपनी दिव्य पहचान में पूर्णतया मग्न रह कर अपनी इन्द्रियों के पूर्ण स्वामी होते हैं। यदि वे चाहें तो वे इस ब्रह्माण्ड में शासन करने के लिए पूर्ण व्यक्ति होते हैं और वे ही हर एक के लिए सौभाग्य लाते हैं। किन्तु बद्धजीव किसी भी तरह से संसार को लाभ नहीं पहुँचा सकते। शुद्ध दुर्लभ आत्माएँ निरन्तर कर्मयोग करती हैं और सदैव मुक्त अवस्था में रहती हैं। *भगवद्गीता* में (५.७) कहा गया है—

"जो भक्ति भाव से कर्म करता है, विशुद्ध आत्मा है और अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में रखता है वह सबों को प्रिय होता है और सभी लोग उसे प्रिय होते हैं। ऐसा व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कभी कर्मों में बद्ध नहीं होता।"

कुछ ऐसे लोग हैं जो उन शुद्ध आत्माओं से सर्वथा विपरीत ढंग से कर्म करते और जीवन बिताते हैं जो निरन्तर कर्मयोग में कर्म करते हैं। ऐसे सकाम कर्मियों का भगवान् कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

इसलिए वे अपने हृदय के भौतिक कल्मष को साफ नहीं कर पाते। वे अपनी ऐन्द्रिय वासनाओं के दास होते हैं और अपनी सनक के अनुसार अपनी इन्द्रियों की तुष्टि में ही सारा समय गँवाते हैं। तिस पर भी वे निर्लज्जतापूर्वक कहते हैं कि उनके सारे कर्म भगवान् द्वारा प्रेरित होते हैं। वंचक तथा नास्तिक होने के कारण वे इस तरह से इसीलिए बोलते हैं जिससे उनके अपवित्र कर्म स्वीकार्य हो जाएँ। इस तरह वे संसार पर अकथनीय आपदाएँ तथा विपत्तियाँ ढाते हैं। इसके विपरीत शुद्ध, स्वरूपसिद्ध आत्माएँ मनसा वाचा कर्मणा भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की सेवा करने में निरन्तर मग्न रहती हैं। वे नास्तिक लोगों की संगति कभी नहीं करते। ये सन्तात्मा यह जानते हैं कि यद्यपि आत्मा सूक्ष्म है फिर भी इसमें सर्वदा स्वल्प स्वेच्छा निहित रहती है। परमेश्वर पूर्णतया स्वतन्त्र हैं और सबों पर अपनी पूर्ण स्वेच्छा (मुक्त इच्छा) का प्रयोग कर सकते हैं। चूँकि आत्मा गुण-रूप से परमात्मा परमेश्वर ही है अतः भगवान् उसकी स्वल्प स्वेच्छा को समाप्त नहीं करते।

किन्तु दुर्भाग्यवश आत्मा इस ईश्वर प्रदत्त स्वल्प स्वेच्छा का दुरुपयोग करके अविद्या और मोह के अंधकूप में जा गिरता है। एक बार माया की शरण ले लेने पर आत्मा में सतो, रजो तथा तमो गुणों का विकास हो जाता है। इससे आत्मा अपना आदि गुण खो देता है और नवीन स्वभाव उत्पन्न करता है जिन पर प्रकृति के तीन गुणों का नियन्त्रण रहता है और यह तब तक चलता रहता है जब तक वह उन्हें लाँघ नहीं लेता। उसके कर्म तदनुसार प्रेरित होते रहते हैं। यदि यह किसी अन्य विधि से होता तो इस दृश्य जगत में भौतिक विविधता दृष्टिगोचर न होती। अतः यदि कोई व्यक्ति अपने को प्रकृति के अति सूक्ष्म नियमों तथा कार्य प्रणाली से अवगत नहीं कर पाता और उसी के साथ यह

तर्क करता है कि सारे कर्म भगवान् द्वारा स्वीकृत और प्रेरित होते हैं तो वह परमेश्वर की प्रतिष्ठा को घटाता है और उन्हें पक्षपात पूर्ण तथा अन्यायी बनाता है। भगवान् न तो किसी एक का पक्ष लेते हैं न किसी दूसरे के साथ भेदभाव बरतते हैं। वस्तुतः वे सबों को भौतिक कार्यकलाप छोड़ने की सलाह देते हैं, क्योंकि ये स्वभावतः अस्थिर तथा क्षणिक होते हैं। ईश्वर की विस्मृति के कारण मनुष्य अज्ञान का स्थायी शिकार बनता है और इस अज्ञान का रंग उसके सारे कर्मों पर चढ़ जाता है। *भगवद्गीता* में (५.१४) कहा गया है—

"शरीर रूपी नगर का स्वामी देहधारी जीवात्मा न तो कर्म का सृजन करता है, न लोगों को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है, न ही कर्मफल की रचना करता है। यह सब तो प्रकृति के गुणों द्वारा ही किया जाता है।"

इसलिए भगवान् विष्णु के यज्ञ के अतिरिक्त अन्य जो भी कार्य किये जाते हैं वे अपनी इच्छा से किये गये मनमाने कार्य हैं। वे परमेश्वर के निर्देशन या स्वीकृति से किये गये कार्य नहीं होते। चूँकि ऐसे कार्य भौतिक प्रकृति के गुणों से निकलते हैं, अतः वे स्वतः प्रकृति के पूर्ण नियन्त्रण में होते हैं। परमेश्वर ऐसे कार्यों के प्रति मात्र निष्पक्ष तथा मूक दर्शक बना रहता है।

कर्मयोगी या भक्त के सारे कर्म परम सत्य (परब्रह्म) से सम्बन्धित होते हैं। इसलिए भक्त दिव्य पद पर ही बना रहता है जो कि संसारी क्षेत्र से अत्यन्त परे है। ऐसे अनुभूत पद पर भक्त इस भौतिक सृष्टि को परमेश्वर से पृथक नहीं, अपितु उसे उनकी शक्ति के विकार (रूपान्तर) के रूप में देखता है। ऐसी अनुभूतियाँ प्रकृति के गुणों से अबाधित रहती हैं। भगवान् कृष्ण के साथ हर वस्तु के घनिष्ठ सम्बन्ध की जो अनुभूति कर्मयोगी को होती है वह निश्चय ही, समदर्शी तथा दिव्य

है। *गीता* में (५.१८) कहा गया है, "विनम्र साधु पुरुष अपने वास्तविक ज्ञान के कारण विद्वान तथा विनीत ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते तथा चण्डाल को समान दृष्टि (समभाव) से देखते हैं।"

ऐसी विद्या से युक्त ब्राह्मण मूलतः सतोगुणी होता है। पशुओं में गाय भी सतोगुणी है। हाथी, सिंह आदि मूलतः रजोगुणी हैं। कुत्ते तथा कुछ मनुष्य (यथा चण्डाल तथा अन्य अछूत) तमोगुणी होते हैं। परम का ध्यान करने वाले कर्मयोगी आत्मा के इन बाह्य आवरणों को नहीं देखते, अपितु शुद्ध आत्मा को देखते हैं। परम के प्रसंग में यह सही समदृष्टि है। कर्मयोगी यह अनुभव करते हैं कि इस जगत के सारे तत्व तथा पदार्थ परमेश्वर की पूजा की वस्तुएँ हैं और सारे जीव भगवान् कृष्ण के नित्य सेवक हैं। जब आत्मा के बाह्य आवरण यानी शरीर को महत्व नहीं दिया जाता और मनुष्य भगवत्-सेवा रूपी आत्मा के अन्तर्निहित स्वभाव पर स्थित होता है तो मनुष्य समदृष्टि की शुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। इस अवस्था में वह सारी वस्तुएँ परमेश्वर की सेवा में लगाता है और भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए इन वस्तुओं को यज्ञ की सामग्री के रूप में प्रयुक्त करता है।

कर्मयोगी जानता है कि कृष्ण ही समस्त भौतिक वस्तुओं के एकमात्र भोक्ता तथा दोहक हैं और वे सारे जीवों के एकमात्र ईश्वर तथा स्वामी हैं। जीव जब कृष्ण के साथ इस सम्बन्ध को भुला देता है तो वह माया के पाश में जा गिरता है। माया के वश में आकर वह व्यर्थ ही भोक्ता या त्यागी की भूमिका निभाने का प्रयास करता है, किन्तु यह सब छलावा है। जीव का असली कष्ट उसका यह दिखावा है कि वह भोक्ता या त्यागी है। सभी प्रकार के उत्तम तथा पुण्यकर्म—यथा योग, ज्ञान का अनुशीलन, तपस्या तथा त्याग—व्यर्थ के श्रम हैं, यदि वे हृदय में भगवान् से सम्बन्धित विषयों के प्रति स्नेह-पूर्ण आकर्षण

की ज्वाला न जला सकें। जैसा कि *भगवद्गीता* में (५.२९) भगवान् कृष्ण घोषणा करते हैं—

"मुझे समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं का परम भोक्ता, समस्त लोकों तथा देवताओं का परमेश्वर एवं समस्त जीवों का उपकारी एवं हितैषी जानकर मेरी चेतना से पूर्ण पुरुष भौतिक दुखों से शान्ति लाभ करता है।"

इस पुस्तक में हम इससे पूर्व यज्ञ के रूप में कर्म करने की आवश्यकता बता चुके हैं और इस श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् कृष्ण आदि परम पुरुष और समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं। यह समझना होगा कि कर्मयोगियों द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञों तथा ज्ञानियों की तपस्या के फल एकमात्र भगवान् कृष्ण द्वारा भोगे जाने के लिए हैं। योगियों द्वारा ध्यान किए जाने वाला, हृदय के भीतर स्थित परमात्मा वस्तुतः भगवान् कृष्ण का आँशिक विस्तार है। इसकी व्याख्या हम इस पुस्तक में आगे चलकर करेंगे।

भगवान् कृष्ण कर्मयोग, ज्ञानयोग, अष्टांगयोग (ध्यान) तथा भक्तियोग इन सभी योगों के अनुयायियों के शुभेच्छु हैं। चूँकि भगवान् हर एक के शुभेच्छु हैं, अतः वे प्रत्येक युग में उचित धार्मिक शिक्षाओं की स्थापना करने के लिए अपने निकटस्थ पार्षदों को इस जगत में भेजते हैं। भगवान् कृष्ण सभी लोकों के परम स्वामी, आदि ईश्वर तथा समस्त कारणों के कारण हैं। शान्ति तक पहुँचने का एकमात्र मार्ग कर्मयोग के मार्ग में रहकर क्रमशः उत्थान है जो परम सत्य भगवान् कृष्ण का साक्षात्कार कराता है।

जो लोग पहले से भगवान् कृष्ण की तुष्टि के लिए अपना कर्म कर रहे हैं उन्हें अलग से यज्ञ, तप या ध्यान नहीं करने होते जो कर्म शुद्ध कृष्णभावनामृत के स्तर पर नहीं होते हैं। इसके पूर्व हम

बता चुके हैं कि शुद्ध *कर्मयोगी* स्वतः ब्राह्मण, संन्यासी या योगी होता है। वह *कर्मी* की ही तरह यज्ञ करने तथा अपने कर्तव्य पूरा करने में दक्ष होता है; *ज्ञानी* की तरह वह विरक्त तथा तपस्वी होता है और *योगी* की तरह वह अपने कर्मफल से भी अनासक्त रहता है और अपनी इन्द्रियों को वश में किये रहता है। जो समस्त सकाम कर्म से अपने को विरक्त कर लेता है और भगवान् तथा उनकी प्रेमाभक्ति में अनुरक्त होता है वह उसी के साथ-साथ समस्त सद्गुणों से अलंकृत होता है। जैसा कि *भगवद्गीता* में (६.१) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"जो पुरुष अपने कर्मफल के प्रति अनासक्त है और जो अपने कर्तव्य का पालन करता है वही संन्यासी और असली योगी है। वह नहीं, जो न तो अग्नि जलाता है और न कर्म करता है।"

चूँकि कर्मयोगी जानता है कि उसके समस्त कर्मों के फल के चरम भोक्ता भगवान् कृष्ण हैं, अतः वह उन फलों के लिए लालायित नहीं रहता और उनसे पूरी तरह अनासक्त रहता है। वह हर कार्य को सदैव कृष्ण के लिए करना चाहता है। ऐसा अनासक्त कर्मयोगी यह कभी नहीं सोचता कि कृष्णभावनामृत में किया गया कर्म इन्द्रिय सुख लूटने या कष्ट से बचने के लिए है। संन्यासी ब्रह्मज्ञान के अनुशीलन के पक्ष में हर वस्तु का परित्याग कर देता है जिसमें शास्त्रों द्वारा संस्तुत कार्यकलाप सम्मिलित रहते हैं। योगी सक्रिय कार्य से अवकाश ले लेता है और अपने हृदय में परमात्मा का दर्शन करने की इच्छा से अर्धनिमिलित नेत्रों से अपना समय ध्यान में बिताता है। किन्तु वह जिसका कार्य ब्रह्म की तुष्टि हेतु यज्ञ के रूप में है वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता। चूँकि वह परमेश्वर की भक्ति में लगा होता है, अतः उसे शास्त्रों द्वारा संस्तुत कर्म-काण्ड नहीं करने होते। ऐसा अनासक्त कर्मयोगी उस व्यक्ति से श्रेष्ठ है जो

केवल अपने कर्मफल के प्रति अनासक्त होता है। कर्मयोगी उस ब्रह्मज्ञान में स्वतः दक्ष होता है जिसकी खोज में संन्यासी रहते हैं और जिन आठ योगसिद्धियों की कामना ध्यान-मग्न योगी करते हैं।

असली कर्मयोगी वस्तुतः परमेश्वर के भक्त हैं। चूँकि उन्हें सिद्धि मिल चुकी होती है, अतः वे लाभ, पूजा या यश के लिए लालायित नहीं रहते। उनकी सिद्ध अवस्था में सारा ज्ञान तथा योग शक्तियाँ स्वतः उनको मण्डित करती हैं। जब उन्हें हर वांछनीय वस्तु उपलब्ध हो तो उन्हें किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता क्यों हो?

पतञ्जलि के अष्टांगयोग का पालन करते हुए ध्यान करने वाले योगी क्रमशः विभिन्न अवस्थाओं में दक्षता प्राप्त करते हुए तब तक ऊपर उठते जाते हैं, जब तक वे समाधि अवस्था को प्राप्त नहीं हो लेते। सिद्धि तक पहुँचने की इच्छा के कारण वे सभी प्रकार के कष्ट तथा संकट सहते हैं और अपने लक्ष्य में दृढ़ रहते हैं। अन्त में उन्हें चेतना की वह अवस्था प्राप्त होती है जिसकी तुलना इस भौतिक जगत में किसी अन्य वस्तु से नहीं की जा सकती। इस योग सिद्धि की दशा में कोई भी कष्ट, यहाँ तक कि मृत्यु भी, भवावह नहीं प्रतीत होता। ऐसे योगियों के विषय में भगवान् कृष्ण की टिप्पणी *भगवद्गीत* में (६.२२) अंकित है—

"इस प्रकार स्थापित व्यक्ति कभी भी सत्य से विपथ नहीं होता और इस सुख की प्राप्ति हो जाने पर वह इससे बड़ा कोई दूसरा लाभ नहीं मानता। ऐसी स्थिति को पाकर व्यक्ति बड़ी से बड़ी कठिनाई में भी विचलित नहीं होता।"

इस श्लोक के तात्पर्य में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि जब कोई व्यक्ति ऐन्द्रिय जगत से अपने को विलग कर लेता है और समाधि में स्थित हो जाता है तो उसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती

है और उसे प्रगाढ़ आनन्द का लाभ होता है। ऐसा योगी अपने ध्यान के लक्ष्य परब्रह्म से अपनी एकाग्रता को कभी विचलित नहीं होने देता। आठ योग सिद्धियाँ—अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य*—आदि जो योगी को अपने अभ्यास के दौरान प्राप्त होती हैं उसके योगाभ्यास की उपफल हैं। समाधि में योगी इन समस्त योग-सिद्धियों को नगण्य मानता है। बहुत से योगी इनमें से कतिपय सिद्धियों को प्राप्त करने के बाद उन सबों में दक्ष होने का दिखावा करते हैं और चंचल मन के कारण स्थायी समाधि के अपने लक्ष्य से विपथ हो जाते हैं। दूसरी ओर, कर्मयोगी भगवद्भक्त के लिए ऐसी सम्भावना नहीं रहती, उसका हृदय तथा एकाग्रता उसके लक्ष्य पर टिके रहते हैं, क्योंकि वह सदैव कृष्ण की प्रसन्नता के लिए कर्म करता है। वह सदैव समाधि में रहता है, जो कि योगी का चरम गन्तव्य है। भगवद्भक्ति में भक्त में नित नये नये भाव उमड़ते हैं और ज्यों ज्यों उसकी सिद्धियाँ प्रौढ़ होती* जाती हैं, त्यों त्यों उसे जो दिव्य आनन्द मिलता है वह अकथनीय तथा सांसारिक धन-लोलुपों के लिए अचिन्त्य होता है।

कर्मयोग की बात जाने दें, अष्टांग योग की निम्नतर शाखाओं में भी समाधि के लक्ष्य की दिशा में योगी जो भी प्रगति करता है वह व्यर्थ नहीं जाती, भले ही एक जीवन काल में वह अपने गन्तव्य

** श्रीमद्भागवत में (११.१५.४-५)* भगवान् कृष्ण ने उद्धव से आठ सिद्धियों का वर्णन किया है—अणिमा—छोटे से छोटा होना; महिमा—बड़े से बड़ा होना; लघिमा—हल्के से हल्का होना; प्राप्ति—इच्छानुकूल वस्तुएँ प्राप्त करना; प्राकाम्य—किसी भी सुख देने वाली वस्तु का आनन्द प्राप्त करना, चाहे वह इस विश्व में हो या किसी अन्य विश्व में; ईशिता—माया की अधीनस्थ शक्तियों को वश में करना; वशिता—प्रकृति के तीनों गुणों से अबाधित रहना; कामावसायिता—कहीं से कुछ भी ले आना।

तक न पहुँच सके। अपने अगले जीवन में वह प्रगति जारी रखेगा। इसके विपरीत, जब सकाम कर्मी मरता है तो वह जितनी सम्पत्ति और शिक्षा अर्जित किये रहता है और उसके साथ साथ उन्हें प्राप्त करने में वह जो प्रयास किए होता है, वे सब निष्फल हो जाते हैं। जहाँ तक शुद्ध कर्मयोगी या भक्त की बात है उसके सारे भक्तिमय कार्यकलाप मन तथा शरीर के स्तर से परे होते हैं। वे आत्मा तथा परमात्मा से संबद्ध होते हैं, अतएव उसके कार्यकलाप शुद्ध नित्य आत्मा की सम्पत्ति बन जाते हैं। जिस तरह शरीर के क्षय होने पर आत्मा कभी विनष्ट नहीं होता उसी तरह इस भक्तिमय सम्पत्ति का कभी भी अवमूल्यन नहीं होता। इसीलिए *भगवद्गीता* कहती है कि कर्मयोगी सदैव आत्मा के लाभ तथा उत्थान के लिए कर्म करता है और उसका यह प्रयास तथा इसके फल इस जन्म में तथा अगले जन्म में भी स्थायी आध्यात्मिक निधि के रूप में बने रहते हैं। इस आध्यात्मिक निधि का कभी दिवाला नहीं निकलता। *भगवद्गीता* में (६.४०) भगवान् कृष्ण कहते हैं, "हे पृथापुत्र! कल्याण कार्यों में व्यस्त योगी का न तो इस लोक में और न ही दिव्य लोक में विनाश होता है। हे मित्र! भलाई करने वाला कभी बुराई से पराजित नहीं होता।"

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं नियमों के पालक तथा नियमों के भंजक। जिन्हें केवल अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने की परवाह रहती है और जो अनुशासन तथा विधि (कानून) के आगे नहीं झुकते वे पूर्णतया अनियन्त्रित पशुओं की तरह होते हैं। ऐसे अनियन्त्रित व्यक्ति के, चाहे वह संस्कृत हो या असंस्कृत, शिक्षित हो या अशिक्षित, निर्बल हो या बलवान, कार्य सदैव पाशविक होते हैं। वे किसी को लाभ नहीं पहुँचा सकते।

नियम-पालक मनुष्यों को पुनः तीन वर्गों में विभाजित किया गया

है—कर्मी, ज्ञानी तथा भक्त। कर्मियों के दो अनुभाग हैं—सकाम कर्मी तथा निष्काम कर्मी। सकाम कर्मी तुच्छ क्षणिक सुख के लोभी होते हैं। वे सांसारिक कार्यों मे उन्नति करते हैं और अगले जीवन में स्वर्गलोक में जाकर आनन्द लूटते हैं, लेकिन यह सारा आनन्द अस्थायी होता है। अतः आत्मा का असली लाभ उन्हें नहीं मिल पाता।

असली नित्य सुख जो भौतिक बन्धन के समाप्त होने पर ही मिलता है, उसे पाना ही आत्मा के लिए असली लाभ है। अतः ऐसा कोई मार्ग, जो आत्मा को इस परम लक्ष्य—नित्य दिव्य आनन्द—को प्राप्त करने के प्रयास तक नहीं ले जाता वह व्यर्थ माना जाता है। जब कर्मकाण्ड का लक्ष्य नित्य आनन्द होता है तो वह कर्मयोग का रूप धारण करता है। कर्मकाण्ड के द्वारा हृदय का भौतिक कल्मष धुल जाता है और मनुष्य को ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है। तत्पश्चात् ब्रह्म ध्यान की स्थिति और अन्त में भक्ति प्राप्त होती है। कर्मकाण्ड की विधि में यह संस्तुति की जाती है कि कुछ काल के लिए शारीरिक आनन्द का परित्याग किया जाय, जिससे कभी कभी कर्मी को तपस्वी कहा जाए। फिर भी कर्मी चाहे कितनी ही तपस्या करे यह तपस्या अन्ततः ऐन्द्रिय भोग का दूसरा रूप है, क्योंकि इसका चरम लक्ष्य यही होता है। असुर भी अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए तपस्या करते हैं। किन्तु यह मात्र अपनी इन्द्रियों के भोग के लिए ही की जाती है। यदि जीव एक बार ऐन्द्रिय आनन्द के पीछे लालायित रहने की अवस्था को लाँघ लेता है तो वह आसानी से कर्मयोग की अवस्था को प्राप्त होता है जो सभी प्रकार से उत्तम है। केवल ऐसा व्यक्ति ही समाज को लाभ पहुँचा सकता है।

कर्मयोगी इस जीवन में जो आध्यात्मिक प्रगति करता है वह अक्षत रहती है और अगले जीवन में वह इसी बिन्दु से उसे जारी रखता

है। *भगवद्गीता* में (६.४३) भगवान् कृष्ण टिप्पणी करते हैं "हे कुरुनन्दन! ऐसा जन्म पाकर वह अपने पूर्व जन्म की दैवी चेतना को पुनः जागृत करता है और पूर्ण सफलता पाने के उद्देश्य से वह आगे प्रगति करने का पुनः प्रयास करता है।" असफल योगी अपने अगले जीवन में किसी पवित्र ब्राह्मण के या धनी व्यापारी के परिवार में जन्म ले सकता है। जब हम योग में विफलता की बात करते हैं तो हम कर्मयोगियों, ध्यानयोगियों तथा ज्ञानयोगियों का उल्लेख करते होते हैं। इन मार्गों के अनुयायियों में से कर्मयोगी ही शुद्ध भक्त बनने में सबसे निकट होता है, क्योंकि वह अपने कर्मों को परमेश्वर की सेवा में समर्पित कर चुका होता है। इस तरह कर्म करते हुए क्रमशः वह भक्तियोगी बन जाता है। ऐसा योगी सर्वोच्च स्तर पर होता है और अन्य सारे योगियों को शिक्षा देने के उपयुक्त होता है।

भगवद्गीता में (६.४७) भगवान् कृष्ण कहते हैं—"और समस्त योगियों में से जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरे परायण है, अपने अन्तः करण में मेरे विषय में सोचता है और मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति करता है वह योग में मुझसे परम अन्तरंग-रूप में युक्त रहता है और सबों से सर्वोच्च है। यही मेरा मत है।"

सकाम कर्मियों की गणना योगियों में नहीं की जा सकती। वास्तविक योगी तो कर्मयोगी, ज्ञान-योगी, अष्टांगयोगी तथा भक्तियोगी हैं। वस्तुतः वे एक ही हैं, यद्यपि नाम भिन्न भिन्न हैं। योग विधि उस सीढ़ी के समान है जिस पर मनुष्य परब्रह्म के अन्तिम लक्ष्य की ओर क्रमशः चढ़ता है। इस सीढ़ी का पहला डंडा निष्काम कर्म है। जब इसमें ज्ञान तथा तप जुड़ जाते हैं तो यह ज्ञानयोग बन जाता है जो कि इस सीढ़ी का दूसरा डंडा है। और जब ज्ञानयोग में परम का ध्यान जुड़ जाता है तो तीसरा डंडा यानी अष्टांगयोग तक पहुँचा जाता है। अन्त

में जब अष्टांगयोग के साथ भगवद्भक्ति जुड़ जाती है तो यह भक्तियोग बन जाता है। यह सम्पूर्ण क्रमागत (आरोही) विधि योग है। योग विषय की यथार्थ तथा स्पष्ट सीमा रेखा जानने के लिए चारों डंडों की व्याख्या पृथक् पृथक् की जानी चाहिए। जो लोग मानवता की भलाई चाहते हैं वे योग-मार्ग ग्रहण करते हैं। योग में प्रगति करने की विधि में हर अवस्था में सर्वप्रथम संकल्प तथा कठोर अनुशासन की आवश्यकता होती है। किसी एक अवस्था में दृढ़ता से स्थित हुए मनुष्य को अपने को अगली उच्चतर अवस्था तक ऊपर उठाने के लिए, उस अवस्था की प्रक्रियाओं के बंधन एवं उनकी पालन-विधियों को त्यागना पड़ता है। जो लोग किसी कारण-वश चोटी तक नहीं पहुँच सकते और चार अवस्थाओं में से किसी एक में फँस जाते हैं उन्हें उस विशेष अवस्था की उपाधि मिल जाती है। इस तरह कर्म-योगी, ज्ञान-योगी, अष्टांग-योगी तथा भक्तियोगी होते हैं। भगवान् कृष्ण अर्जुन को यह शिक्षा देते हैं कि जो उनकी प्रेमाभक्ति करता है वह समस्त योगियों में सर्वोच्च है; अतः अर्जुन को ऐसा भक्ति-योगी बनने का प्रयास करना चहिए।

पदशः क्रमागत आध्यात्मिक मार्ग भौतिक जगत में पदशः प्रगति जैसा नहीं है। संसारी विधि में प्रगति के नियम कठोर हैं और उनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति विश्वविद्यालय की डाक्टरेट उपाधि हासिल करना चाहता है तो उसे प्राथमिक पाठशाला के स्तर से शुरू करके क्रमशः ऊपर की ओर जाना होता है। पाठशाला में गये बिना विश्वविद्यालय तक सीधे पहुँच पाना असंभव है। किन्तु आध्यात्मिक जीवन में कठोर नियमों के बावजूद परमेश्वर की कृपा से मनुष्य बीच की कई अवस्थाओं को एक ओर छोड़ता हुआ चोटी तक यानी डॉक्टरेट उपाधि तक पहुँच सकता है। यह दैवी-कृपा भगवान् के अन्तरंग निरन्तर सान्निध्य से प्राप्त की जा सकती है और ऐसा अन्तरंग

सान्निध्य भगवान् के शुद्ध भक्त के साथ गुह्य आदान-प्रदान द्वारा प्राप्त होता है। हममें से हर व्यक्ति भगवान् से घनिष्ठतापूर्वक तथा निरन्तर सम्बद्ध है, किन्तु माया के कुप्रभाव से हम उनके साथ अपने इस सम्बन्ध को भूल चुके हैं।

सारे जीव भगवान् के पुत्रों के तुल्य हैं, अतः वे अपने धनी-पिता की विपुल सम्पत्ति के सच्चे उत्तराधिकारी हैं। किन्तु पूर्वजन्मों में किये गये पाप-फलों के कारण वे बिना घरबार के घूम रहे हैं और अति दरिद्रता भुगत रहे हैं। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सारे जीव कष्ट पा रहे हैं। किन्तु वे यह नहीं जानते कि उनका धनी पिता है कौन या वे अपने अमूल्य उत्तराधिकार पाने के लिए कहाँ जायँ। सही ज्ञान न होने से वे अपनी दरिद्रता से भागने का व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं और दरिद्र भिक्षुकों की तरह निरुद्देश्य विचरण कर रहे हैं। वे ऐसे अनेक लोगों से मिलते हैं जो सहायता करने का वचन देते हैं, किन्तु अन्ततः ऐसे सहायक स्वयं भिखारी साबित होते हैं। इन अपरिचितों में से कुछ धनी तथा समृद्ध लगते हैं, लेकिन उनके दिए निर्देशों से पिता के घर तक नहीं पहुँचा जा सकता। अतः जीव की दरिद्रता का कोई अन्त नहीं दिखता। धनी अपरिचित अनेक मार्ग सुझाते हैं—यथा कर्म, ज्ञान या ध्यान, किन्तु दरिद्रता की समस्या का कोई हल नहीं निकल पाता। दरिद्रता से बचने का एकमात्र उपाय है कि सारे जीव भगवान् की भक्ति सीखें और उसका अभ्यास करें। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने, जो कि समस्त अवतारों के उद्गम हैं, श्रील रूप सनातन से प्रयाग (इलाहाबाद) में भक्तियोग की व्याख्या की थी। ये उपदेश समस्त मानवता के लिए शिक्षा-रत्न हैं। *चैतन्य चरितामृत* में (मध्य १९.१५१) महाप्रभु कहते हैं—

"सारे जीव अपने अपने कर्मों के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भ्रमण

कर रहे हैं। इनमें से कुछ उच्चतर लोकों तक उठ जाते हैं और कुछ निम्नतर लोकों को जाते हैं। भ्रमण करने वाले इन करोड़ों जीवों में से जो अत्यन्त भाग्यशाली होता है उसे भगवान् कृष्ण की कृपा से प्रामाणिक गुरु का सान्निध्य प्राप्त करने का अवसर मिलता है। भगवान् कृष्ण तथा गुरु दोनों की कृपा से ऐसा व्यक्ति भक्ति-रूपी लता का बीज प्राप्त करता है।''

भगवान् कृष्ण की कृपा से यह भक्ति बीज *भगवद्गीता* में प्राप्य है। जो भक्तिबीज को प्राप्त करने में समर्थ होता है वही *भगवद्गीता* के तात्पर्य को समझ सकता है। अन्यथा *भगवद्गीता* को बारम्बार पढ़ने मात्र से तथा इसकी शिक्षाओं पर विचार-विमर्श करने से कोई परिणाम नहीं निकलेगा।

भगवद्गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण अपने विषय में सच्चाई का उद्घाटन करते हैं। जब कोई मर्त्य प्राणी आत्मचरित लिखता है तो उसे अनेक उपहार मिलते हैं, किन्तु जब भगवान् स्वयं अपने बारे में लिखते हैं तो दुर्भाग्यवश हम उनके शब्दों पर पूर्ण विश्वास नहीं करते। यही नहीं, उनके ग्रंथों के प्रधान बिन्दुओं को अनदेखा करके हम कम महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा करते हैं और उन्हें बढ़ाकर उनकी मनगढ़ंत व्युत्पत्ति और व्याख्या करते हैं। यह व्याख्या इतनी बेहूदगी तक ले जायी जाती है कि मूल अर्थ खो जाता है और एकतरफा निष्कर्ष पाठकों के उपहास के विषय बनते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण स्पष्टतः घोषणा करते हैं कि वे परब्रह्म हैं और हर एक का कर्तव्य है कि उनकी प्रेमाभक्ति करे। *भगवद्गीता* इन्हीं दो प्रमुख बिन्दुओं की व्याख्या करने के उद्धेश्य से उद्घाटित हुई थी। जो उन्हें समझता है वह नवदीक्षित भक्त के रूप में आध्यात्मिक जीवन शुरू करने के योग्य है। आध्यात्मिक जीवन में श्रद्धा प्रथम शर्त है और यह नवदीक्षित

भक्ति का पर्याय है। इस तरह *चैतन्य चरितामृत* में (मध्य २२.६२) कहा गया है-

''भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति करके मनुष्य समस्त गौण कर्मों को स्वतः सम्पन्न करता है। यह विश्वस्त, दृढ़ विश्वास, जो भक्ति को सम्पन्न करने के अनुकूल हो श्रद्धा कहलाता है।''

भक्तिकथा

कृष्ण की सेवा से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है

श्रील रूपगोस्वामी को भक्तियोग की शिक्षा देते समय श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भौतिक जगत तथा जीवों का कुछ विस्तार से विवेचन किया था। उन्होंने इंगित किया था कि ८४ लाख जीव-योनियों में ९ लाख जलचर, बीस लाख वनस्पतियाँ, ११ लाख कीट, १० लाख पक्षी, ३० लाख पशु तथा ४ लाख मानव योनियाँ हैं। होमोसेपियन (मानव) स्पष्टतया अल्पसंख्यक हैं। इसके बाद मानवों को तीन कोटियों में बाँटा जाता है—असभ्य, अर्धसभ्य तथा सभ्य। सभ्य कोटि में गिने जा रहे बहुत से लोग बिना संयम तथा अनुशासन के, मात्र अपने भोगविलास के लिए कर्म करते हैं। इस तरह वे शेष लोगों के लिए अव्यवस्था उत्पन्न करते हैं। जीवन में उनका एकमात्र लक्ष्य अपनी इन्द्रियों को जो भोग की साधन हैं, तृप्त करना होता है, अतः वे अपनी इन्द्रियों को काम करने के लिए सही अवस्था में रखने का सदैव प्रयत्न करते हैं, यहाँ तक कि अत्यधिक वृद्ध होने पर युवावस्था जैसा भोग विलास न कर पाने के कारण वे अपने शरीर में बन्दर के अंगों को प्रतिरोपित कराते हैं।

ऐसे निपट इन्द्रियभोक्ता यह नहीं समझते कि मन शारीरिक इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तथा श्रेष्ठ है। मन से भी श्रेष्ठ बुद्धि है और बुद्धि के पीछे है मिथ्या अहंकार जो बुद्धि से कहीं अधिक

श्रेष्ठ है और जो आत्मा को आच्छादित करता है। आत्मा के अस्तित्व के विषय में दार्शनिक जिज्ञासा करना इन निपट भौतिकतावादियों की पहुँच से परे है। इन स्थूल इन्द्रिय-भोक्ताओं की गणना वास्तव में पशुओं में की जानी चाहिए, क्योंकि मनुष्य को अपनी इन्द्रियों को सहलाने की अपेक्षा अन्य अधिक गम्भीर विषयों में लगाना होता है। इसीलिए उसे समस्त जीवों में सर्वाधिक बढ़ा-चढ़ा माना जाता है। हाँ, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो मनुष्य जीवन के गाम्भीर्य को समझते हैं। वे अस्त-व्यस्त जीवन शैली का सावधानी से तिरस्कार करते हैं, वे सन्तपुरुषों के आदर्श जीवन से बराबरी करना चाहते हैं और अपने जीवन को ऐसी दिशा प्रदान करते हैं कि जिससे मनुष्य जीवन का उद्देश्य पूरा हो जाय।

विभिन्न धर्मों के अनुयायी, यथा ईसाई, हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध अपने अपने धार्मिक सम्प्रदायों के नियमों पर, अपने अपने विश्वास तथा अपने अपने देशों की परिस्थितियों के अनुसार चिपके रहते हैं। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में (७.३) ऐसे लोगों का उल्लेख किया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

"कई हजार मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है और सिद्धि पाने वालों में से विरला ही कोई एक मुझे वास्तव में जान पाता है।"

अनादि काल से सारे जीव निम्नतर जीवयोनियों में से होते हुए क्रमशः विकास प्रक्रिया द्वारा उठते रहे हैं और सौभाग्य-वश ही मनुष्य जन्म को प्राप्त करते रहे हैं। निम्नतर जीव योनियों में आत्माएँ भौतिक

गुणों द्वारा बुरी तरह से प्रच्छन्न रहती हैं; फलस्वरूप उनके जीवन में कामेच्छा-भूख की प्रधानता बनी रहती है। मनुष्ययोनि में से कुछ जीव ऐन्द्रिय भोग का परित्याग करते हैं और संसार द्वारा साधुओं, योगियों, दार्शनिकों, विद्वानों आदि के रूप में समादरित होते हैं। वे मानसिक अनुभूतियों को स्थूल ऐन्द्रिय अनुभवों से कही अधिक श्रेष्ठ मानते हैं और हो सकता है कि वे सूक्ष्म बुद्धि के और भी अधिक सूक्ष्म स्तरों को प्राप्त हो लें। किन्तु बुद्धि से भी अधिक सूक्ष्म आत्मा है। अतः जीव की असली आध्यात्मिकता या असली धर्म का अर्थ है आत्मा में स्थित होना।

आत्मा के धर्म के अतिरिक्त जितने सारे मार्ग तथा धर्म हैं वे छद्म-आध्यात्मिक क्रियाएं हैं जो खाने, सोने, संभोग करने तथा संकट से अपनी रक्षा करने तक सीमित हैं। ये सभी पशुओं के प्रारम्भिक कार्य हैं। निम्नतर जीवयोनियाँ आत्मा का धर्म सम्पन्न करके अपने को ऊपर नहीं उठा सकतीं। किन्तु चूँकि मनुष्यों में आत्मा के धर्म का अभ्यास स्वभावतः निहित होता है, अतः कुछ लोग पूर्णता तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। मनुष्य योनि में ही जीव इस तरह की जिज्ञासा कर सकता है कि मैं कौन हूँ? और तीन प्रकार के ताप मुझे क्यों सताते हैं?

एकमात्र मनुष्य जीवन अनन्त सुख प्राप्त करने का अवसर प्रदान करता है। इस जीवन में मनुष्य को यह सोचना चहिए "यद्यपि मैं कष्ट भोगना नहीं चाहता फिर भी कष्ट आता ही है। यद्यपि मैं मृत्यु नहीं चाहता, किन्तु यह जबरदस्ती मुझसे मेरा जीवन छीन लेती है। यद्यपि मुझे वृद्धावस्था से घृणा है, किन्तु युवावस्था समाप्त होते ही मैं निश्चित रूप से बूढ़ा होने लगूँगा और यद्यपि मैं रोग तथा विपदा से अपने को मुक्त रखना चाहता हूँ, किन्तु वे मुझे छोड़ते नहीं।"

यद्यपि उसे ये कष्ट दिखते हैं फिर भी मूर्ख व्यक्ति अपने जीवन को सुविधा-पूर्ण बनाने के लिए कठिन श्रम करता है जब कि बुद्धिमान व्यक्ति शान्तचित्त से अपनी स्थिति पर विचार करता है और अपने कष्टों का सदा सदा के लिए अन्त करने के सर्वोत्तम उपायों के बारे में सोचता है। जब वह निष्ठा के साथ प्रायः इस तरह सोचता है तो वह परब्रह्म के विषय में जानना चाहता है। ऐसा व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार का पथगामी होता है। भले ही उसके पास अनेक कार्य हों, किन्तु अपने पूर्व पुण्यकर्मों के कारण ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति इन कार्यों को सम्पन्न करेगा और साथ ही जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि की सच्चाइयों का सामना करेगा।

सिद्धि के लिए प्रयत्नशील लोगों में से निम्नतर स्तर उन कर्मियों का है जो अपनी इन्द्रियों को तृप्त करना चाहते हैं। उनके ऊपर ज्ञानी हैं जो इन्द्रियों के वेग को रोकते हैं और सूक्ष्म मानसिक धरातल पर स्थित हो जाते हैं। इनसे भी श्रेष्ठ होते हैं योगी जो योगसिद्धि की खोज करते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इन सारे लोगों को अशान्त कहा है। इनमें से जो लोग समस्त भौतिक उपाधियों से और मिथ्या अहंकार से मुक्त होते हैं तथा जो इस तरह आत्मस्थ मुक्त होते हैं वे ही परमपुरुष भगवान् कृष्ण को ठीक से समझ सकते हैं। जब ऐसे लोग कृष्णभावनामृत के विज्ञान से पूर्णतया अवगत हो लेते हैं तो ऐसे साधुपुरुष समस्त मानवता के लिए गुरु का कार्य कर सकते हैं, चाहे उनकी बाह्य उपाधि कुछ भी हो। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस बात की पुष्टि *चैतन्य चरितामृत* में (मध्य८.१२८) की है—

किबा विप्र, किबा संन्यासी, शूद्र केने नय।
येइ कृष्ण-तत्त्ववेत्ता, सेइ 'गुरु' हय॥

"कोई चाहे ब्राह्मण हो, संन्यासी हो या शूद्र, वह चाहे जो कुछ हो, यदि वह कृष्ण-विज्ञान जानता है तो वह गुरु बन सकता है।"

इस तरह हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि न तो कर्मीजन, न ही ज्ञानीजन कृष्णभक्ति के विज्ञान की थाह पा सकते हैं। विशेष रूप से मूर्ख कर्मी इसके पात्र नहीं हैं, क्योंकि वे प्रायः कृष्ण को एक सामान्य मर्त्य प्राणी मानते हैं और भगवान् के प्रति इस अनादर के कारण वे *भगवद्गीता* में उनके शब्दों का गलत अर्थ लगाते हैं।

कलियुग के बुरे प्रभाव से ग्रस्त होने से मानवता किसी भी आध्यात्मिक संस्कृति के प्रति कठोर बन चुकी है। इस तरह लोग अपना समय खाने, सोने, मैथुन करने तथा रक्षा करने के पाशविक कार्यों में बिताते हैं। भगवान् कृष्ण के विषय में आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करने की बात तो जाने दें, वे धार्मिक अनुष्ठानों या दिव्य ज्ञान की खोज करने तक में अपना समय नहीं लगा सकते। यदि कोई कर्म तथा ज्ञान के अनुशीलन के विषय में शास्त्रों के निर्देशों का दृढ़ता से पालन करे तो वह अपनी चेतना को इतना शुद्ध तो बना ही लेता है जिससे कि वह कुछ हद तक कृष्णविज्ञान को समझ सके। ज्ञान का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि ज्योंही कोई ब्रह्म से तादात्म्य की अवस्था प्राप्त कर लेता है, त्योंही इससे भी उच्चतर अवस्था के लिए, जो कि भगवान् कृष्ण की भक्ति है, द्वार खुल जाते हैं। चूँकि कलियुग के लोगों के लिए यह तादात्म्य अवस्था प्राप्त कर सकना एक तरह से असम्भव है इसलिए भगवान् कृष्ण ने स्वयं ही *भगवद्गीता* में यह शिक्षा दी है कि उनकी भक्ति किस तरह की जाय। तत्पश्चात् यह जानते हुए कि इस युग के अभागे मनुष्य उनके ही शब्दों का गलत अर्थ लगा लेंगे भगवान् कृष्ण पुनः प्रकट

हुए—इस बार, श्रीचैतन्य महाप्रभु, भगवान् के शुद्ध भक्त के रूप में, जिससे वे निजी उदाहरण के माध्यम से *भगवद्गीता* का सार विश्व को पढ़ा सकें।

भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि वे सभी वस्तुओं के उद्गम हैं, किन्तु ईर्ष्यालु चालाक लोग इस तथ्य का खंडन करने का प्रयास करते हैं। इसीलिए वे चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने यह शिक्षा दी कि कृष्ण ही समस्त वस्तुओं के उद्गम हैं। भगवान् कृष्ण के उपदेशों तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु के उपदेशों में कोई अन्तर नहीं है। पूजा का लक्ष्य एक ही है। फिर भी इस युग के अभागे लोग इन शिक्षाओं को ग्रहण करने से इनकार करते हैं। उन्हें कृष्णभावनामृत प्रदान करने का प्रयास "अंधे के आगे रोवे अपना दीदा खोवे" वाली कहावत को चरितार्थ करना है। कलियुग द्वारा पीड़ित मनुष्य सूकर-झुंड के समान हैं। महाप्रभु ने उन्हें कृष्ण-भक्ति का विज्ञान सिखाकर उन पर वह असीम कृपा दर्शाई है जिसे ब्रह्माजी तक मुश्किल से पाते हैं। फिर भी चूँकि उन्हें यह दुर्लभ अमूल्य सामग्री इतनी सहजता से मिली है इसलिए उन्होंने इस कृपा का दुरुपयोग किया है। यह उनके दुर्भाग्य की दूसरी अभिव्यक्ति है। आत्मसाक्षात्कार के विज्ञान की शिक्षा देकर भगवान् कृष्ण ने इस युग के लोगों को दो दो बार पाशविक विलास-क्रियाओं में गिरने से बचाने का प्रयास किया है, किन्तु दोनों ही बार उन्होंने इन दैवी शिक्षाओं को अपनी इन्द्रियतृप्ति का साधन एवं बहाना बना लिया है।

यदि किसी बालक के सामने एक रंगीन काँच का खिलौना और एक हीरा रखा जाय तो स्वभावतः बालक खिलौने की ओर आकृष्ट होगा, अमूल्य रत्न की ओर नहीं। इसी तरह कलियुग के अल्पज्ञ

लोगों ने कृष्णभक्ति रूपी अमूल्य हीरे को ठुकरा कर सकाम कर्म तथा शुष्क ज्ञान रूपी सस्ते खिलौने को चुन लिया है। जिस तरह बालक यह नहीं समझ सकता कि यह अमूल्य हीरा हजारों सस्ते काँच के खिलौने खरीद सकता है उसी तरह कलियुग के कम बुद्धिमान लोग यह नहीं समझ सकते कि *कृष्णे भक्ति कइले सर्व-कर्म-कृत हय*—भगवान् कृष्ण की दिव्य भक्ति करने से मनुष्य अन्य सारे गौण कर्मों को स्वतः सम्पन्न कर लेता है।

जो लोग कृष्णभावनामृत के विज्ञान को जानते हैं वे स्वयमेव सकाम कर्म, ज्ञान, योग, दान, तपस्या, तथा मन्त्रोच्चार जैसे गौण विषयों को जानते हैं। इसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण ने *श्रीमद्भागवत* में की है—

"मेरी भक्ति सम्पन्न करने पर मेरे भक्त उन सारी वस्तुओं को सहज ही पा लेते हैं जो तपस्या, कर्म, चिन्तन, त्याग, योग, दान, धर्म तथा अन्य पुण्यकर्म करने पर प्राप्त की जा सकती हैं।"

भगवान् कृष्ण ही परम सत्य हैं

सुप्रसिद्ध नास्तिक कपिल ने सांख्य दर्शन का प्रसार किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह संसार २४ भौतिक तत्त्वों से युक्त है। ये हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश; रूप, स्वाद, गंध, शब्द, तथा स्पर्श; आँखें, जीभ, नाक, कान, तथा त्वचा; मुँह, हाथ, पाँव, गुदा तथा प्रजनेन्द्रियाँ; मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार; और प्रकृति के तीन गुणों की अव्यक्त अवस्था (प्रधान)। जब कपिल चौबीस तत्वों का विश्लेषण करने पर अव्यक्त आत्मा का अनुभव नहीं कर पाये तो उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। अतः भक्तों का समुदाय कपिल को नास्तिक मानता है।

देवहूति-पुत्र भगवान् कपिल इस नास्तिक कपिल से भिन्न व्यक्ति हैं। इन भगवान् कपिल को भगवान् का शक्त्यावेश अवतार माना जाता है। कृष्ण ने *भगवद्गीता* में नास्तिक कपिल के सांख्य दर्शन का तथा उनके इस विचार का कि अव्यक्त आत्मा अस्तित्वरहित है, खण्डन किया है।

गीता में (७.४) भगवान् कृष्ण यह भी स्थापित करते हैं कि सारे भौतिक अवयव उनके नियन्त्रण तथा निरीक्षण के अन्तर्गत हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार—ये आठों मिलकर मेरी भिन्ना (अपरा) भौतिक शक्तियों की रचना करते हैं।"

भगवान् कृष्ण कौन हैं? और उनका आदि रूप क्या है? जब तक उनके ऐश्वर्यों, शक्तियों, यश, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य के विषय में जान न लिया जाय तब तक शुद्ध भक्ति के प्रदेश में प्रवेश नहीं किया जा सकता। जैसा कि *चैतन्य चरितामृत* में (आदि २.११७) कहा गया है—

सिद्धान्त बलिया चित्ते ना कर अलस
इहा हइते कृष्णे लागे सुदृढ मानस।

"निष्ठावान छात्र को ऐसे दार्शनिक निष्कर्षों पर विचार-विमर्श की उपेक्षा उन्हें विवादात्मक मानकर नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसे विचार-विमर्श से मन प्रबल होता है। इस तरह उसका मन श्रीकृष्ण में अनुरक्त हो जाता है।"

जो कृष्ण-ज्ञान को प्राप्त है और तदनुसार कर्म करता है वह भक्ति सम्पन्न करता है। कपिल द्वारा प्रवर्तित विधि का पालन करते हुए हजारों वर्षों तक लोग उसकी गहराई को नहीं समझ पाये। भगवान् कृष्ण ने थोड़े से शब्दों द्वारा इस रहस्य के पर्दे को उठाकर सत्य का उद्घाटन किया है।

"पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार—इन्हीं आठ से मेरी भिन्न भौतिक शक्तियाँ बनी हैं। हे महाबाहु अर्जुन! इनके अतिरिक्त भी मेरी एक अन्य परा शक्ति है जो उन जीवों से युक्त है जो इस भौतिक अपरा प्रकृति के साधनों का विदोहन कर रहे हैं। सारे प्राणियों का उद्गम इन्हीं दोनों शक्तियों में है। इस जगत में जो कुछ भी भौतिक और आध्यात्मिक है उसकी उत्पत्ति और संहार मुझे ही जानो।"

जो लोग इस सच्चाई को नहीं समझ सकते वे भक्ति के विज्ञान से कोसों दूर रहते है जबकि इसे समझने वालों का भक्तिपूर्ण जीवन पुष्ट होता है। भगवान् कृष्ण परमेश्वर हैं—परम पुरुष; अतः जब परम पुरुष उपस्थित होते हैं, तो उनकी अर्धांगिनी—भौतिक प्रकृति—उनकी सेवा के लिए होती है। जो लोग अपने को झूठे ही परम पुरुष मानते हैं, वे यह दावा करते हैं कि भौतिक प्रकृति उनके वश में है और वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रकृति अब भगवान् कृष्ण की अनुयायिनी नहीं रही है। स्वाभाविक है कि यह बात बेतुकी है और मूर्ख ही ऐसा दावा कर सकते हैं।

इसी तरह वे दार्शनिक पंथ, जो यह स्थापित करते हैं कि परम पुरुष प्रकृति के अधीन है, सच्चाई से कोसों दूर हैं। जब कोई प्रकृति के अतिरिक्त और किसी विषय में नहीं सोचता तो उसका यह विचार अपूर्ण रह जाता है। उसे यह पूछना चाहिए, "यह प्रकृति किसकी

है?" प्रकृति किसी न किसी की तो होनी चाहिए; वह अपने आप विद्यमान नहीं रह सकती। अतः जिस बात को स्थापित किया जाना चाहिए, वह है परम पुरुष या पुरुष की पहचान। प्रकृति शक्ति ही है। इसी शक्ति के माध्यम से बुद्धिमान व्यक्ति शक्ति के स्वामी को ढूँढ़ निकालेगा। *उपनिषद्* तथा अन्य वैदिक शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि ब्रह्म परम सत्य है और विविध शक्तियों का स्वामी और उद्गम है। *भगवद्गीता* में (१४.२७) इस ब्रह्म को कृष्ण का शारीरिक तेज कहा गया है (*ब्रह्मणो ही प्रतिष्ठाहम्*)। इसकी पुष्टि *ब्रह्मसंहिता* में (५.४०) हुई है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्ड-कोटि-
कोटिश्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम् ।
तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेष भूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जिनका तेज उपनिषदों में उल्लिखित अभिन्न ब्रह्म का स्रोत है और संसारी ब्रह्माण्ड के यश की अनन्तता से भिन्न है। वह अविभाज्य, अनन्त, असीम सत्य है।"

ब्रह्म इस दृश्य जगत में सर्वव्यापक शक्ति के रूप में विद्यमान है। इसीलिए वेदों में ब्रह्म की परिभाषा रूपहीन, निर्विशेष, शुद्ध आदि की गई है। किन्तु ब्रह्म का उद्गम एक नित्यपुरुष है जिसके कोई भौतिक रूप नहीं है, किन्तु जिसका रूप दिव्य है जो आध्यात्मिक शक्तियों तथा समस्त दैवी गुणों से ओत-प्रोत है। वह सत्-चित-आनन्द रूप भगवान है। उसमें छहों दिव्य ऐश्वर्यों की असीम मात्रा रहती है; वे अति उत्कृष्ट दैवी लीलाएँ करते हैं। एकमात्र उन्हीं की खोज

की जानी चाहिए तथा सारे शास्त्रों से उसे ही जाना जाना चाहिए। भौतिकतावादी सकाम कर्मी के सोचने में यह त्रुटि है कि यह दिव्य परम पुरुष लौकिक है। इस तरह वे गिरकर छद्म भक्त बन जाते हैं। ज्ञानी लोग ब्रह्म ज्ञान की खोज करते हुए भौतिक जगत से विकर्षित होकर यह सोचते हैं कि भगवान् का दिव्य रूप भी विकर्षक है। इस तरह वे सिद्ध कर देते हैं कि ज्ञान प्राप्त करने की इनकी आरोही विधि अपर्याप्त तथा निकृष्ट है। ये दोनों ही वर्ग दयनीय आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त होते हैं। इसीलिए उनपर अपनी अहैतुकी कृपा-वृष्टि करने के लिए भगवान् ने *भगवद्गीता* में अपने तथा अपनी दिव्य शक्तियों के विषय में सच्चाई का उद्घाटन किया है।

उपर्युक्त आठ अवयवों से भौतिक प्रकृति या परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति बनी है। ये भौतिक अवयव—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि—स्वतन्त्र इच्छा से विहीन हैं, अतएव वे भगवान् की निकृष्ट शक्ति कहलाते हैं। इसके विपरीत, वह शक्ति जो निकृष्ट शक्ति को सक्रिय बनाती है भगवान् की श्रेष्ठ (परा) शक्ति या आध्यात्मिक शक्ति कहलाती है। सिद्धान्ततः शक्ति भोक्ता नहीं हो सकती, न ही एक शक्ति दूसरी शक्ति का भोग कर सकती है। शक्ति भोग्या है और शक्तिमान भोक्ता है।

जीव भगवान् की श्रेष्ठ आध्यात्मिक शक्ति की उपज हैं; अतएव वे पृथ्वी, जल, अग्नि, आदि से श्रेष्ठ हैं, जो सदैव चेष्टा से विहीन हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सारे जीव उसी स्तर पर हैं जिस पर कि परम नियामक तत्त्व भगवान् है। जड़ पदार्थ पर आत्मा की श्रेष्ठता को पहचानना सरल है। जीव तत्त्व इस जगत में प्रत्येक वस्तु को गति प्रदान करता है और उसको धारण करता है और यदि जीव भौतिक प्रकृति पर अपना प्रभुत्व न जताते तो इस दृश्य

जगत में कोई विविधता ही न होती। यदि जीव भौतिक तत्त्वों को नियन्त्रित करने तथा भोगने की प्रकृति न रखते तो ये भौतिक तत्त्व अपरिवर्तित रह गए होते। चेतन जीव के साथ भौतिक शक्तियों के सम्बन्ध के माध्यम से ही पृथ्वी, लकड़ी, पत्थर तथा लोहे जैसी वस्तुओं के तालमेल से विशाल शानदार इमारतों, फैक्टरियों तथा नगरों का निर्माण हो सका है। पदार्थ स्वयं को व्यवस्थित नहीं कर सकता।

जो कुछ कहा जा चुका है उससे यही समझा जा सकता है कि यह विराट सृष्टि जिसमें असंख्य ग्रह तथा स्वर्गिक पिंड हैं किसी श्रेष्ठ तथा शक्तिशाली चेतना के हस्तक्षेप से उत्पन्न हुई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पदार्थ जड़ है और स्वेच्छिक क्रिया में असमर्थ है और चेतना ने २४ भौतिक तत्त्वों को सक्रिय करके प्रकृति में विविधता प्रदर्शित की है। इससे प्रकृति की अन्तर्निहित अपर्याप्तता तथा अपूर्णता सिद्ध होती है। इस तरह दिव्य सुख एकमात्र आध्यात्मिक विविधता में ही सम्भव है। *भगवद्गीता* में (७.५) भगवान् कृष्ण इसकी पुष्टि करते हैं कि जीवों का सम्बन्ध उनकी श्रेष्ठ शक्ति से है।

अप्रमेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतं महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

"हे महाबाहु अर्जुन! इनके अतिरिक्त मेरी एक परा शक्ति है जो उन जीवों से युक्त है जो इस भौतिक अपरा प्रकृति के साधनों का विदोहन कर रहे हैं।"

चूँकि जीव भगवान् की श्रेष्ठ आध्यात्मिक शक्ति से उत्पन्न है, अतः भौतिक शक्ति के साथ इसका कोई मिलान नहीं है उसी तरह

जैसे जलचरों में स्थल के लिए कोई आकर्षण नहीं होता और स्थलचारियों में जल के लिए। भौतिक शक्ति तथा आध्यात्मिक शक्ति के मध्य दिखने वाला घनिष्ठ सम्बन्ध वस्तुतः भ्रामक है। जीव आध्यात्मिक शक्ति की उपज होने से भौतिक शक्ति का विदोहन करना चाहते हैं किन्तु अन्ततः ऐसे प्रयास विफल होते हैं, क्योंकि किसी एक शक्ति के लिए दूसरी शक्ति का सदा विदोहन करना और उसपर प्रभुत्व जताना असम्भव है। किन्तु सारे जीव परम शक्तिमान भगवान् कृष्ण की शाश्वत सेवा कर सकते हैं। जब जीव भगवान् की सेवा करने के प्रयास में भौतिक शक्ति का विदोहन करता है तो यह कर्म दिव्य होता है—यह तो यज्ञ सम्पन्न करना है। अन्य किसी तरह का कर्म मात्र भौतिकतावादी सकाम कर्म होता है।

विष्णु पुराण में (६.७.६१) तीन प्रकार की शक्तियों का उल्लेख है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्या-कर्म-संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

"भगवान् विष्णु की शक्ति को संक्षेप में तीन कोटियों में रखा जाता है, अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति, जीव तथा अज्ञान। आध्यात्मिक शक्ति ज्ञानपूर्ण है। यद्यपि सारे जीव आध्यात्मिक शक्ति से सम्बन्धित होते हैं, किन्तु वे मोहग्रस्त होते हैं और तीसरी शक्ति जो कि अज्ञान से पूर्ण होती है सकाम कर्मों में सदैव दृष्टिगोचर होती है।"

इस तरह इस भौतिक जगत की सारी घटनाएँ भगवान् की श्रेष्ठ आध्यात्मिक शक्ति और उनकी निकृष्ट भौतिक शक्ति की अन्योन्य प्रक्रियाएँ मात्र हैं। भौतिक शक्ति क्षेत्र कहलाती है और आध्यात्मिक शक्ति क्षेत्रज्ञ कहलाती है। विभिन्न प्रकार के जीव, अपने विविध गुणों समेत, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ की अन्योन्य प्रक्रिया से उत्पन्न होते

हैं। इन दोनों शक्तियों का नियन्त्रक शक्तिमान पुरुष भगवान् कृष्ण है। उसे इस विराट जगत के सृजन, पालन तथा संहार के चरम कारण के रूप में जानना चाहिए। *भगवद्गीता* में (७.६-७) कृष्ण कहते हैं—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किं किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

"सारे प्राणियों का उद्गम इन दोनों शक्तियों में है। इस जगत में जो कुछ भी भौतिक तथा आध्यात्मिक है उसकी उत्पत्ति तथा प्रलय मुझे ही जानो। हे धनञ्जय! मुझसे श्रेष्ठ कोई सत्य नहीं है। जिस प्रकार मोती धागों में गुँथे रहते हैं, उसी प्रकार सब कुछ मुझी पर आश्रित है।"

ब्रह्म विषयक विविध उद्धरण, जो वेदों में पाये जाते हैं— *एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म*—ब्रह्म अद्वितीय हैं; *नेह नानास्ति किञ्चन*—"इसके अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं है;" *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—"ब्रह्म सर्वस्व तथा सर्वत्र है;" *अहं ब्रह्मास्मि*—"मैं ब्रह्म हूँ" आदि *भगवद्गीता* के उपर्युक्त श्लोकों में निहित हैं। छः दिव्य सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त परमेश्वर सर्वोच्च नियामक तत्त्व है। इस तरह कोई अन्य पुरुष उनके तुल्य या उनसे बढ़कर नहीं है। इसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण यह कह कर करते हैं "मुझसे बढ़कर कोई सत्य नहीं है" और उसके बाद बताते हैं कि वे किस तरह सर्वत्र उपस्थित हैं और अपनी सर्वव्यापक शक्तियों के माध्यम से हर व्यक्ति के साथ घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित हैं।

यह भौतिक प्रकृति भगवान् की शक्तियों के रूपान्तर का प्रतिफल है। शक्तियाँ तथा शक्तिमान दोनों अचिन्त्य हैं और वे एकसाथ एक तथा भिन्न हैं। अतः *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* वाक्य यह घोषित करता है कि सारी वस्तुएँ भगवान् की भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के रूपान्तर से बनी हैं। उनकी शक्तियों के रूपान्तर से परब्रह्म में न तो वृद्धि होती है, न ह्रास। अतः ब्रह्म को अपरिवर्तनीय कहा गया है। और निकृष्ट शक्ति जो कि ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मात्र है *निराकार* है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भगवान् और उनकी शक्तियों में अचिन्त्य भेदाभेद दर्शन का प्रचार किया। सर्वोच्च गुह्य सत्य यह है कि भगवान् कृष्ण परम सत्य हैं और जीव तथा भौतिक संसार उनकी निम्न शक्तियाँ हैं। जो लोग इस सिद्धान्त को नहीं समझ पाते वे भौतिकतावादी हैं और जो इसे समझकर भगवान् कृष्ण के साथ पुनः अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं वे मुक्त आत्माएँ अर्थात् भगवद्भक्त हैं। भगवान् कृष्ण ने इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में (७.१३-१४) की है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"तीनो गुणों (सतो,रजो तथा तमो) के द्वारा मोहग्रस्त यह सारा संसार मुझ गुणातीत तथा अविनाशी को नहीं जानता। भौतिक प्रकृति के तीन गुणोंवाली इस मेरी दैवी शक्ति को पार कर पाना कठिन है। किन्तु जो मेरे शरणागत हो चुके हैं वे सरलता से इसे पार कर

जाते हैं''

रुचि-अरुचि, अच्छे-बुरे जैसे द्वैत भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के कारण हैं—सतो, रजो तथा तमो गुण—ये गुण सभी बद्धात्माओं को अपने काबू में रखते हैं। अतः सारे बद्धजीवों के लिए यह समझ पाना कठिन है कि भगवान् पूर्णतया आध्यात्मिक होने से तीनों गुणों के ऊपर हैं और *परम् अव्ययम्* हैं। भगवान् द्वारा *परम् अव्ययम्* शब्दों का प्रयोग किए जाने का कारण यह है कि यद्यपि वे अपनी दिव्य शक्तियों के द्वारा सभी वस्तुओं में व्याप्त हैं, किन्तु वे नित्य अव्यय हैं और पूर्ण हैं। किसी को यह सोचने की भूल नहीं करनी चाहिए कि चूँकि परम ब्रह्म सम्पूर्ण विराट जगत में व्याप्त हैं इसलिए उनका कोई निश्चित स्वरूप या व्यक्तित्व नहीं हो सकता। अग्नि से निकलने वाली उष्मा चारों दिशाओं में फैलती है; फिर भी अग्नि अपरिवर्तित रहती है। इसी तरह सूर्य अनन्त काल से प्रकाश तथा उष्मा बिखेरता आ रहा है; फिर भी इसकी शक्ति में कोई कमी नहीं आई है। और इस सूर्य में भगवान् की अव्यय (अक्षय) शक्ति का केवल एक सूक्ष्म अंश ही होता है। अतः भगवान् की शक्ति के रूपान्तरित होने या कम होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् की शक्तियाँ अग्नि की उष्मा तथा प्रकाश की तरह सर्वत्र फैली हैं; फिर भी उनमें कभी कोई ह्रास नहीं आता। इस तरह वे *भगवद्गीता* में अपने आपको *परम् अव्ययम्* कहते हैं। वेदों में उनका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते

''पूर्ण से जो कुछ उत्पन्न होता है वह भी पूर्ण है। चूँकि वह पूर्ण है अतः उससे अनेक पूर्ण इकाइयाँ उद्भूत होते रहने पर भी वह

पूर्ण बना रहता है''। (*ईशोपनिषद्*)।

भगवान् की तरह भौतिक शक्ति के मायाजाल से छूटने तथा भगवान् के निकट आने की विधि भी अद्वितीय है। जिस तरह सूर्य को देखने का एकमात्र साधन सूर्यप्रकाश है, उसी तरह भगवान् कृष्ण को देखने का एकमात्र साधन साक्षात् कृष्ण रूपी सूर्य का प्रकाश है। उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करके तथा उनकी प्रेमाभक्ति करके ही उन तक पहुँचा जा सकता है। न तो शरीर को कष्ट देते हुए सकाम कर्म से, न ही मानसिक व्यायाम के द्वारा प्राप्त ज्ञान से ईशचेतना की सर्वोच्च सिद्धि पाने में सहायता मिल सकती है। एकमात्र भक्ति के द्वारा ही परमेश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान तथा योग से बहुत हुआ तो परम सत्य की आंशिक अनुभूति अर्थात् क्रमशः ब्रह्म तथा परमात्मा की अनुभूति हो सकती है। एकमात्र भक्ति के द्वारा ही सच्चिदानन्द-रूप भगवान् कृष्ण का साक्षात्कार किया जा सकता है। जब उगता सूर्य रात्रि के अंधकार को भगा देता है तो प्रत्येक वस्तु स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगती है। इसी तरह जब कृष्ण रूपी सूर्य मनुष्य की चेतना के क्षितिज के ऊपर उठता है तो माया का नारकीय अंधकार भाग जाता है और प्रत्येक वस्तु का असली रूप दृष्टिगोचर होने लगता है। इस तरह परब्रह्म का पूर्ण ज्ञान तथा अनुभूति एकमात्र परमेश्वर की भक्ति से प्राप्त होते हैं।

किन्तु इस पूर्ण अनुभूति तक का मार्ग माया—अजेय भौतिक शक्ति—द्वारा उत्पन्न अनेक अवरोधों से पटा हुआ है। इस सन्दर्भ में प्रश्न किया जा सकता है, ''यदि भगवान् कृष्ण की सेवा करके समस्त गौण कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं तो फिर विश्व का हर व्यक्ति उनकी शरण में क्यों नहीं जाता और परब्रह्म के रूप में उनकी पूजा क्यों नहीं करता? इस विश्व का लगभग हर व्यक्ति

थोड़ा बहुत यह स्वीकार करता है कि ईश्वर एक है, दो या अधिक नहीं। किन्तु जब वही एक भगवान् कृष्ण स्वयं आकर इस सत्य की घोषणा करते हैं तो फिर लोग उनकी शरण में जाने से इनकार क्यों करते हैं? यह तो समझ में आता है कि जो लोग अशिक्षित तथा अज्ञानी हैं वे भगवान् की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार नहीं कर सकते और इसलिए वे उनकी शरण में नहीं जा पाते। किन्तु ऐसे अनेक विद्वान पंडित, दार्शनिक तथा समाज के नेता हैं जो शास्त्रों पर विस्तार से विचार-विमर्श करते हैं किन्तु फिर भी वे भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण में नहीं जाते। ऐसा क्यों? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने स्वयं अपनी *भगवद्गीता* में (७.१५) दिया है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

"जो निपट मूर्ख हैं, जो मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान मोह द्वारा हर लिया गया हैं तथा जो असुरों की नास्तिक प्रकृति को धारण करने वाले हैं, ऐसे दुष्ट मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।"

आसुरी प्रकृति के लोग कभी भी भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करते। सदा से दो प्रकार के लोग पाये जाते रहे हैं—अच्छे पवित्र व्यक्ति तथा अपवित्र पापी। ये दो प्रकार के लोग हर युग में और हर देश में सदैव रहते हैं। पवित्र व्यक्ति ईश्वर के नियमों को शिरोधार्य करते हैं और क्रमशः सिद्धि प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर, अपवित्र लोग ईश्वर के नियमों का सनक में आकर उल्लंघन करते हैं और स्वतन्त्र बनने का प्रयास करते हैं। जाति-गत संघर्ष, गृह-युद्ध, भीषण विद्रोह तथा विश्व युद्ध जो वर्तमान युग में इतने सर्वसामान्य हैं, अपवित्र लोगों के मनमाने स्वार्थी स्वभाव के कारण उत्पन्न होते हैं।

पवित्र लोग किसी भी देश में रह सकते हैं और अपने शास्त्र के आदेशों का पालन कर सकते हैं या अन्य देश के पवित्र लोगों से संगति करके ज्ञान तथा अनुभूतियों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। फलस्वरूप परब्रह्म की खोज करने वाले ये लोग निश्चय ही यह अनुभव कर सकते हैं कि कृष्ण ही भगवान् हैं। दूसरी ओर, पापी लोगों की एक ही रुचि रहती है। वह यह कि अहं की तुष्टि की जाय। वे ऊपर से अपने धर्म के अग्रणी होने का दिखावा कर सकते हैं, किन्तु इस दिखावे के पीछे वे अपने दोषपूर्ण कार्यकलापों को जारी रखते हैं।

वे अपने जन्मजात धर्म की पवित्रता को बदनाम करते हैं और अपने देश के हित के विरुद्ध कार्य करते हैं। आत्मकेन्द्रित होने के कारण वे मानव आचरण के सामान्य शिष्टाचार को भी नहीं निभा पाते, भगवद्भक्ति के लिए जीवन अर्पित करना तो दूर रहा। ऐसे आसुरी पुरुष विषैले सर्पों से भी अधिक घातक हैं।

सामान्यतया निपट मूर्ख तथा अज्ञानी कर्मी भगवान् की शरण में नहीं जाते। ऐसे लोग कभी भी ब्रह्म-जिज्ञासा नहीं करते। वे कभी इस तरह के प्रश्न नहीं पूछते कि ईश्वर कौन है? संसार क्या है? मैं कौन हूँ? मैं सारे जीवन भर गधे की तरह क्यों श्रम करता हूँ? या मेरे प्रयासों का क्या परिणाम है? मुट्ठी भर घास के लिए गधा सारे जीवन भर धोबी का बोझा ढोता है। इसी तरह कर्मीजन भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए अथक परिश्रम करते हैं। गधा मूर्खता का प्रतीक है, क्योंकि वह अपना पेट भरने तथा गधी के साथ संभोग करने के लिए ही कठिन श्रम करता है। उसी तरह से ये गधे कर्मी स्नेह तथा आसक्ति वश अपनी गृहस्थी तथा अपनी आराध्य जन्मभूमि का पालन पोषण करने के लिए अथक

परिश्रम करते हैं। घर पर कर्मी का एकमात्र भोग-साधन उसकी पत्नी होती है जो उसके लिए भोजन बनाती है और चिन्ताग्रस्त इन्द्रियों के लिए आनन्द प्रदान करती है। ये अल्पदृष्टि वाले कर्मीजन स्वयं के या अपने जगत से सम्बन्धित किसी बृहत्तर मामले को जानना नहीं चाहते। वे अपने घर तथा शारीरिक चिन्ताओं में ही बन्धे रहते हैं। और वे नेतागण जो लोगों के ऐन्द्रिय जीवन को बढ़ावा देते हैं, सामान्य लोगों की अपेक्षा बड़े मूर्ख और धूर्त हैं। इसलिए वे कभी भी *भगवद्गीता* या कृष्ण के सम्पर्क में नहीं आते। उनके लिए शरणागति कोई अर्थ नहीं रखती

जो लोग भगवान् की शरण में नहीं जाते वे नराधम कहलाते हैं। ऐसे लोग पशुओं जैसा आचरण करके अपना मनुष्य जीवन गँवाते हैं। दूसरे शब्दों में जब कोई व्यक्ति इस दुर्लभ मनुष्य जीवन का उपयोग इसके वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त करने में नहीं करता अपितु अधम कार्यों में बर्बाद करता है तो वह नराधम कहलाता है। जब किसी भिखारी को अचानक कोई खजाना मिल जाता है, किन्तु फिर भी यदि वह भीख माँगता रहता है तो वह निश्चय ही कंजूस तथा नराधम है। इसी तरह जब किसी को अमूल्य मनुष्य-जन्म प्राप्त हो जाय और फिर भी वह पशुवत् केवल खाने, सोने, मैथुन करने तथा रक्षा करने में जीवन नष्ट कर दे तो ऐसा व्यक्ति नराधम है। ऐसे मूर्ख लोग यह नहीं समझते कि निम्न योनियों में लाखों जन्म लेने के बाद ही आत्मा को दुर्लभ मनुष्य-जन्म मिल पाता है। और उन्हें इसी जन्म में आत्मा को अपने को दिव्य पद तक उठाने, परब्रह्म को प्राप्त करने तथा अपने आदि घर आध्यात्मिक जगत में लौटने का प्रयास करना चाहिए। यदि आत्मा इस मनुष्य जीवन में यह जानते हुए कि वह पिछले लाखों जन्मों में घोर कष्ट भोग चुका

है, अपनी स्थिति सुधारने का प्रयास नहीं करता तो ऐसा व्यक्ति अवश्य ही कंजूस तथा नराधम है। किन्तु यदि वह अपने दुर्लभ मनुष्य जीवन का उपयोग ब्राह्मण श्रेणी तक ऊपर उठ कर आत्म-साक्षात्कार के लिए करता है तो उसका जीवन सार्थक है। ब्राह्मण का अर्थ 'जन्म से' ब्राह्मण नहीं होता। ब्राह्मण वह है जो ब्राह्मणों के स्वामी भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करता है। नराधम ऐसा नहीं कर सकता। इसलिए नराधम का एक अन्य अर्थ है "वह जो भक्ति को नकारता है।"

अन्य श्रेणी के लोग जो कृष्ण की शरण ग्रहण नहीं करते, असुर हैं, जो उनके कट्टर शत्रु होते हैं। रावण, हिरण्यकशिपु, जरासन्ध तथा कंस जैसे प्रसिद्ध एवं बलशाली असुर राजाओं ने विद्या तथा कठोर तपस्या द्वारा अनेक शक्तियाँ प्राप्त की थीं। किन्तु भगवान् के विविध अवतारों यथा राम, नृसिंह देव, विष्णु तथा कृष्ण को सदैव ललकारने के कारण वे असुर कहलाते हैं। प्रायः असुरों में शिक्षा या बुद्धि की कमी नहीं रहती। किन्तु भगवान् के प्रति दुष्ट प्रवृत्ति के कारण उनकी विद्या तथा बुद्धि की क्षमता व्यर्थ हो जाती है। उनकी क्षमताएँ पूरी तरह से भौतिक प्रकृति की मुट्ठी में होने से अन्ततः उनसे छिन जाती हैं। असुरों की विफलता के कारण का उल्लेख पहले किया जा चुका है; यदि कोई भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण नहीं करता तो प्रकृति पर काबू पाना असम्भव है।

कृष्णभक्तों को यातना देना असुरों का पूर्वाग्रह है। वे सोचते हैं कि भगवान् राम तथा कृष्ण उन्हें दण्ड नहीं दे सकते, क्योंकि वे सामान्य मर्त्य प्राणी हैं। इस तरह असुरगण इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे स्वयं भगवान् राम तथा कृष्ण के समान विद्वान तथा बुद्धिमान हैं। नवद्वीप के नास्तिक छात्र श्रीचैतन्य महाप्रभु को सामान्य मनुष्य

समझते थे, अतः इन लोगों से आदर पाने के लिए महाप्रभु ने संन्यास आश्रम ग्रहण कर लिया। इस तरह महाप्रभु ने स्वयं को दैवी वदान्यता का साक्षात् रूप प्रदर्शित किया। असुरगण बातों में सदा गड़बड़ पैदा कर देते हैं—वे मनुष्यों की पूजा देवताओं के रूप में करते हैं और ईश्वर को मनुष्य कहते हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* में (९.११) ऐसे निपट मूर्ख व्यक्तियों का ठीक ही वर्णन किया है—*अवजानन्ति मां मूढा मानुषी तनुमाश्रितम्*—जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। असुरों की विद्या, बुद्धि तथा उपाधियाँ उन रत्नों के समान हैं जो विषैले सर्प के फन पर चमकते हैं। सर्प के फन पर अमूल्य रत्न होने से उसका विष घटता नहीं। इसी तरह असुर का पाण्डित्य, बुद्धि तथा उपाधियाँ उसे कोई छोटा असुर नहीं बनातीं। इस प्रकार वह विषैले साँप की तरह ही भयावह है।

शव को फूलों से सजाकर धूमधाम से चिता पर ले जाना केवल आमोद-प्रमोद के लिए खुला प्रदर्शन है। इसी तरह जब किसी असुर के पास पाण्डित्य की उपाधियों का ढेर लग जाता है जो भगवान् का कुख्यात प्रतियोगी है तो जनता ठगी जाती है। आधुनिक विश्वविद्यालयों में नवयुवकों को जो नास्तिकतावादी आसुरी शिक्षा दी जाती है उससे उपाधि-धारी असुर-वृन्द उत्पन्न होते हैं। इसका प्रमाण हाल की एक घटना है जिसमें अलीगढ़ विश्वविद्यालय के प्रिंसिपल गर्ग महोदय की हत्या कुछ छात्रों द्वारा कर दी गई। समूचे उत्तर प्रदेश को आघात लगा और इस दूषित कर्म की जाँच की जा रही है। गवर्नर ने नेताओं तथा अध्यापकों की एक सभा बुलाई है, किन्तु भूतकाल में ऐसी सभी सभाओं से निराशा ही हाथ लगी है, कोई हल नहीं निकला। हमारे विचार से वर्तमान सभा भी असफल रहेगी। समाज में आसुरी प्रवृत्ति का उन्मूलन करने का एकमात्र उपाय है कृष्णभावनामृत विज्ञान

की शिक्षा देना। असुरों द्वारा ढाई जाने वाली विपत्तियों एवं भ्रष्टाचार को देखते हुए संसार के प्रत्येक नागरिक का नैतिक उत्तरदायित्व है कि कृष्णभावना के विज्ञान को सीखे और सिखाए।

शिक्षा प्रणाली पर डॉ. एणे की टिप्पणी

१२ जनवरी १९५७ को कलकत्ता विश्वविद्यालय में डॉ. एणे के भाषण को सुन कर हमें प्रसन्नता हुई। सम्प्रपित डॉ. एणे बिहार राज्य के माननीय गवर्नर हैं। उनके भाषण का एक अंश यहाँ दिया जा रहा है—

"हमारे नवयुवकों का पालनपोषण धर्म तथा किसी भी धार्मिक विषय पर अवगुंठित अवहेलना की परम्परा में होता है। आध्यात्मवादी तथा भक्तगण शिक्षित युवकों के उपहास के विषय हैं, किन्तु चूँकि सामान्य जनता धार्मिक है तथा उनके मनों में ऐसे भक्तों एवं आध्यात्मवादियों के प्रति अत्यधिक सम्मान है, अतः वे ऐसी शिक्षित जनता के रवैये के प्रति प्रायः निराश हो जाते हैं और उनको कोई आदर नहीं देता। शिक्षित वर्ग भी जनता के लिए कोई स्नेह नहीं रखती जिनकी जीवन शैली अधिकतर धार्मिक विचारों द्वारा ढाली हुई है। परिणाम यह होता है कि शिक्षित वर्ग ऐसे पर्याप्त सेवकों को जन्म नहीं दे सका है जो जनता को कष्टों से उबारने के लिए असली मिशनरी उत्साह से कार्य कर सकें।"

आगे डॉ. एणे यह कहते हैं कि स्कूलों तथा कालेजों के वर्तमान शैक्षिक पाठ्यक्रमों में धर्म की कक्षाओं को बहिष्कृत किया जाता है।

हमने डॉ. एणे के भाषण का यह अंश स्थानीय समाचारपत्र से लिया है और यहाँ सम्मिलित किया है, क्योंकि हम पाठकों को बताना चाहते हैं कि विश्वविद्यालयों में धार्मिक अध्ययन को चालू

करने की नितान्त आवश्यकता है। चूँकि भूतकाल में स्कूलों में धार्मिक कक्षाएँ चलाने के लिए प्रबल आक्षेप किये जाते रहे हैं, अतः उनका बहिष्कार हुआ है और अब आज के युवाओं में गम्भीर प्रतिक्रियायें देखने को मिल रही हैं। मेरे विचार से शिक्षा से आध्यात्मिक अध्ययन हटा देने से मानव मन को जगाने तथा पुष्पित होने के सभी अवसर निष्फल हो जाते हैं। आध्यात्मिक शिक्षा के अभाव के कारण आज का युवा-वर्ग अनुशासनहीन है। वे छात्र जो प्रातः तथा संध्या समय प्रार्थना या ध्यान नहीं करते, क्रमशः नास्तिक बन जाते हैं और उनके मन इधर उधर निरुद्देश्य मँडराते रहते हैं। वे धार्मिक विचारों तथा नीतिशास्त्र का तिरस्कार करके तर्क को सर्वोपरि मान लेते हैं। प्रायः वे कुछ निर्लज्ज राजनीतिज्ञों के चंगुल में फँस जाते हैं। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में से धार्मिक पाठ्यक्रमों का बहिष्कार ही प्रधान कारण है जिसके फलस्वरूप आजकल छात्र तथा शिक्षक के बीच शुद्ध तथा उदात्त सम्बन्ध देखने को नहीं मिलता। अनेक शिक्षा-शास्त्री आज धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

कुछ मास पूर्व (१८ जनवरी १९५७) हमें पटना के राजभवन में डॉ. एणे से भेंट करने का अवसर प्राप्त हुआ तो हमने कुछ विचार-विमर्श किया। पवित्र व्यक्ति होने से वे हमारे आध्यात्मिक विषयों की प्रशंसा करते रहे और उन्होंने आसुरी मनोवृत्ति को समूल नष्ट करने वाले हमारे मिशनरी कार्यों के लिए पूरी सहायता करने का वचन दिया।

विकृत बुद्धि के कारण असुर, धूर्त तथा मूर्ख लोग कभी भी कृष्ण की शरण ग्रहण नहीं कर सकते। इसीलिए कृष्ण भी उनपर कभी दया नहीं दर्शाते। भगवान् के परम वदान्य अवतार चैतन्य महाप्रभु ने पापी गोपाल चापल को इसलिए त्याग दिया, क्योंकि वह भगवद्भक्त

से ईर्ष्या करता था। इस सन्दर्भ में भगवान् ने अपना मत *भगवद्गीता* में (४.११) व्यक्त किया है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—जिस प्रकार लोग मेरी शरण में आते हैं, उन्हें मैं उसी तरह पुरस्कृत करता हूँ। इस तरह भगवान् ऐसी व्यवस्था करते हैं कि असुरगण अधम से अधम जीवयोनियों में जाते हैं और करोड़ों वर्षों तक नरक का जीवन भोगते हैं। अध्याय १६ में (१९-२०) भगवान् कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

"जो लोग ईर्ष्यालु तथा क्रूर हैं और नराधम हैं उन्हें मैं निरन्तर भवसागर में विभिन्न आसुरी योनियों में डालता हूँ। हे कुन्तीपुत्र! ऐसे व्यक्ति आसुरी योनि में बारम्बार जन्म लेते हुए कभी भी मुझ तक पहुँच नहीं पाते। वे धीरे धीरे अत्यन्त अधम गति को प्राप्त होते हैं।"

फिर भी भगवद्भक्त स्वयं भगवान् से अधिक दयालु होने के कारण हम जैसे निम्नतम असुरों के प्रति भी कृपालु रहते हैं।

भगवद्भक्त उन लोगों को भी बचा सकते हैं जिन्हें स्वयं भगवान् ने नकार दिया हो। यही उनका अद्वितीय चरित्र है। इसीलिए भक्तगण दुराचारी पतितों को विनाश से बचाने के लिए तरह तरह के उपाय करते हैं। निस्सन्देह, वे इन आध्यात्मिक परित्यक्तों को आध्यात्मिक सिद्धि की ओर प्रोत्साहित करने के लिए किसी भी सुलभ विधि का यहाँ तक कि चालबाजियों का भी, प्रयोग करते हैं और उन

लोगों के बीच में रहते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपाद लन्दन में एक छात्रावास खोलना चाहते थे। तर्क यह था कि उन चरित्रहीन छात्रों को ईशसाक्षात्कार के पथ पर चलाने के लिए स्वल्प इन्द्रितृप्ति के रूप में मधुरित गोलियाँ खिलाना आवश्यक था।

यदि शक्तिमान गुरु या शुद्ध भगवद्भक्त चाहें तो क्षण भर में पूरे विश्व का उद्धार कर सकते हैं और हर व्यक्ति को भगवान् के चरणकमलों की शरण में ले जा सकते हैं। श्रील वासुदेव दत्त ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से कहा था कि वे विश्व के हर जीव के समस्त पापफलों को अपने ऊपर लेने को तथा नरक में शाश्वत दुख भोगने को तैयार हैं यदि भगवान् एक ही बार में सारे जीवों को मुक्त करने के लिए इच्छुक हों। शुद्ध भक्त इतने वदान्य होते हैं कि वे प्रत्येक आत्मा के आध्यात्मिक कल्याण के विषय में सदैव चिन्तित रहते हैं। भगवान् की कृपा पाने का एकमात्र उपाय है ऐसे शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की धूल में डूब जाना।

भगवद्भक्त जानते रहते हैं कि माया के प्रभाव से ही लोग चौपट हुए हैं और असुर बने हैं। इस प्रकार भक्तों के सहज नेक स्वभाव के कारण ही वे, बिना किसी द्वेष के, असुरों के लाभ के लिए ही सोचते रहते हैं। इसीलिए भक्त गण *पतितपावन* कहलाते हैं। वस्तुतः भक्तगण भगवान् से अधिक दयालु होते हैं। निस्सन्देह यह तो एकमात्र भगवान् की कृपा ही है जो भक्तों को भगवान् की अपेक्षा अधिक दयालु बनाती है और ऐसे भक्तों की कृपा से ही अधम से अधम पापी पुरुष तथा स्त्रियाँ भगवान् के चरणकमलों को प्राप्त कर सकते हैं।

दूसरी ओर यदि ऐसे शुद्ध भक्तों का अपमान किया जाता है तो मोक्ष की सारी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। यदि कोई भगवान्

का अपमान करता है तो केवल उनके शुद्ध भक्त ही अपराधी को बचा सकते हैं। किन्तु यदि कोई शुद्ध भक्त का अपमान करता है तो भगवान् भी अपराधी को नहीं बचाएंगे। इसी कारण से ही शुद्ध भक्त कभी भी अपमानित अनुभव नहीं करते। जब जीसस क्राइस्ट को क्रास पर चढ़ाया जा रहा था तो उन्होंने किसी पर दोषारोपण नहीं किया। हरिदास ठाकुर पर बाईस बाजारों में मुसलमान काजी के सन्तरियों ने बुरी तरह से कोड़े बरसाये थे। फिर भी उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की थी कि वे उनके उत्पीड़कों को दण्ड न दें। नित्यानन्द प्रभु को जगाइ तथा माधाई नामक दो धूर्तों ने बुरी तरह जख्मी कर दिया था; फिर भी वे उसी तरह रक्त से सने खड़े रहे। उन्होंने इन दोनों कुख्यात भाइयों का उद्धार किया और पतित पावन पदवी को सुन्दर रीति से उजागर किया। ऐसी है शुद्ध भक्तों की अगाध दया।

इसलिए पापियों के लिए किसी तरह की दया प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है भक्तों की संगति। हमें तो उस दिन की प्रतीक्षा है जब वैष्णवों के उस मुकुटमणि श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपाद के दिग्गज शिष्य अपने गुरु से आशीर्वाद प्राप्त करके, और समय खोये बिना, पुनः एक होकर श्रील रूप गोस्वामी तथा श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी के सन्देश का प्रचार करेंगे। श्रील गौरकिशोर दास बाबा सदैव अपने शिष्य श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर को कलकत्ता जाने से विरत करते रहे, क्योंकि वे उसे कलियुग की मीनार मानते थे। यद्यपि कुछ लोग सोच सकते हैं कि श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने अपने गुरु के आदेशों का उल्लंघन किया, किन्तु फिर भी उन्होंने न केवल कलकत्ता में अपितु कलियुग की अन्य राजधानियों में यथा लन्दन, बर्लिन, बम्बई, मद्रास तथा दिल्ली में

भी प्रचार किया।

वे किसी एकान्त स्थान में मन्दिर बनाने तथा मठ में निश्चेष्ट तथा निष्क्रिय जीवन बिताने के विरोधी थे। वे व्यक्ति की शतप्रतिशत शक्ति को मानवता के आध्यात्मिक उत्थान के लिए भगवान् की सेवा में लगाने के आदर्श के समर्थक थे। उनके एक गुजराती मित्र बम्बई में विलेपार्ले नामक शान्त तथा सुदूर स्थान में उनके लिए मन्दिर बनवाने को तैयार थे, किन्तु उन्होंने तुरन्त मना कर दिया। यह तो हमारा परम सौभाग्य था कि हमने उन्हें इस प्रकार कार्य करते हुए तथा प्रचार करते हुए देखा और अब हमारा दुर्भाग्य है कि पतित पावन के आदर्श श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के दिवंगत होने के बाद हम अपने अत्यन्त ओछे तरीकों पर उतर आये हैं। क्या हमारे उद्धार की कोई आशा किरण दिखती है?

नित्यानन्द प्रभु ने प्रेममयी दया के अवरुद्ध समुद्र में से ईश्वर-प्रेम रूपी एक नहर काट निकाली जिससे सम्पूर्ण जगत आप्लावित हो उठा। तत्पश्चात् कुछ गोस्वामी जाति के कहलाने वाले लोगों ने अपने को प्रभु का वंशज बतला कर पुनः अपने सकाम कर्मों तथा कर्मकाण्डों की कुटेवों से दया के समुद्र को अवरुद्ध कर दिया। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने एक बार फिर ईशप्रेम रूपी नहर काट निकाली और बाढ़ के जल को ले आये। क्या अब हम एक बार पुनः गोस्वामी जाति वालों ही की तरह उसे अवरुद्ध करना चाह रहे हैं? भगवद्भक्तों की सत्संगति से मुझ जैसा मूर्ख तथा धूर्त भी, जिसमें ध्वंसात्मक आसुरी मनोवृत्ति है पर्याप्त पुण्य संचित करके परमेश्वर की सेवा करने के लिए प्रेरित हो सकता है।

चूँकि बच्चे स्वभाव से चंचल तथा खिलाड़ी होते हैं, अतः किंडरगार्टन (बाल विहार) पाठशाला में उन्हें खिलौने दिये जाते हैं जो सीखने

में उन्हें रुचि दिला सकें। इसी तरह नवदीक्षित को त्यागी की भावना से कर्म करने का प्रशिक्षण दिया जाता है और उसे शास्त्रीय आदेशों के अनुसार अर्चाविग्रह की पूजा करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। तब दक्ष वैष्णव उपदेशक कृष्णभावनामृत की प्रभावशाली कहानियाँ सुनाकर तथा भगवान् को अर्पित भोजन का उच्छिष्ट देकर उसे शुद्ध भक्ति के पद तक लाता है। भक्तिमय जीवन के ये दो पहलू उस नवदीक्षित पर औषधि का काम करते हैं जो शेष संसार की तरह भवरोग से प्रभावित रहता है। भगवान् कृष्ण की भक्ति जीव का नित्य जन्मसिद्ध अधिकार है। यह मानव मस्तिष्क की कोई नई उपज नहीं है। ओछा मूर्ख व्यक्ति सोचता है कि भगवान् कृष्ण की भक्ति मन की लौकिक मनोवैज्ञानिक स्थिति है। किन्तु सच्चाई तो यह है कि भक्ति हमारी नित्य आध्यात्मिक वस्तु है "वास्तव वस्तु" (*श्रीमद्भागवतम्* १.१.२)। भगवान् कृष्ण की भक्ति को भक्तों के शुद्ध बनाये गये हृदयों में स्वभावतः पुनर्जीवित किया जा सकता है। जब रोग ठीक हो जाता है तो रोगी को भूख लगती है। इसी तरह जब नवदीक्षित भक्त अन्य भक्तों की संगति से पर्याप्त शुद्धता कमा लेता है तो उसे अपने हृदय में भक्ति के प्रति आकर्षण का अनुभव होता है।

चार प्रकार के पवित्र व्यक्ति भगवान् कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। *भगवद्गीता* में (७.१६) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

"हे भारत श्रेष्ठ! चार प्रकार के पुण्यात्मा—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी—मेरी भक्ति करना शुरू करते हैं।"

वर्णाश्रम धर्म प्रणाली के अन्तर्गत अपने कार्यों को दृढ़ता-पूर्वक सम्पन्न करते हुए एक दूसरे प्रकार का पुण्य प्राप्त किया जा सकता है। विद्वान् मुनियों ने इस प्रणाली का चिरकाल से प्रचार किया है। *विष्णु पुराण* में (३.८.९) कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोष कारणम्॥

"भगवान् विष्णु की पूजा वर्ण तथा आश्रम प्रणाली में नियत किये गये कर्तव्यों को सही ढंग से सम्पन्न करके की जाती है। भगवान् को तुष्ट करने का कोई अन्य उपाय नहीं है। मनुष्य को चारों वर्णों तथा आश्रमों की संस्था में स्थित होना चाहिए।"

ब्राह्मण (बुद्धिजीवी, पुरोहितवर्ग), क्षत्रिय (राजा तथा प्रशासक), वैश्य (व्यापारी समुदाय) तथा शूद्र (निम्न श्रमिक)—ये चार सामाजिक वर्ग अर्थात् वर्ण हैं। यदि लोग वर्ण-विशेष से सम्बद्ध शास्त्रानुमोदित आदेशों के अनुसार जीवन बिताते हैं तो वे पुण्य कमा सकते हैं। इसी तरह यदि चारों आश्रमों के लोग—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी—भी शास्त्रानुमोदित आदेशों के अनुसार कर्म करते हैं तो वे भी प्रचुर पुण्य संचित करते हैं। किन्तु जब कलियुग का कुप्रभाव इस वर्णाश्रम प्रणाली को भ्रष्ट कर देता है तो मानव समाज में सभी प्रकार का ह्रास आने लगता है। फलस्वरूप जीवों को भगवान् की माया शक्ति द्वारा उत्पन्न नाना प्रकार की प्राकृतिक विपदाओं के द्वारा दण्डित किया जाता है। जब नागरिक राजा के नियमों का पालन करते हैं तो शासन अच्छी तरह चलता है और हर व्यक्ति समृद्ध तथा संतुष्ट रहता है। किन्तु जब चोरों, धूर्तों तथा अपराधियों की आसुरी जनसंख्या निरन्तर बढ़ती जाती है तो राज्य में अव्यवस्था

तथा आतंक फैल जाते हैं।

परमेश्वर की खोज में

वर्णाश्रम धर्म ऐसी अव्यवस्था तथा हिंसा के वातावरण में नहीं चल सकता। अब जिसे वर्णाश्रम प्रणाली कहा जाता है वह वस्तुतः छद्मवेश में ईश्वर-विहीन आसुरी धर्म है। इस आसुरी प्रणाली के अन्तर्गत यज्ञोपवीत धारण करने तथा शुद्धि-संस्कार सम्पन्न करने से पुण्य नहीं मिलता है। सभी प्रकार के शुद्धि-संस्कार तथा धार्मिक प्रथाओं का परित्याग करके कलियुग के लोग महानतम तथा अधिकाधिक बलशाली बनने के लिए एक दूसरे से होड़ लगाते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने गले में मात्र जनेऊ पहन कर ब्राह्मण बन जाता है—ऐसी शास्त्रों में भविष्यवाणी की गई है—किन्तु इससे उसे कोई पुण्य नहीं मिलता। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस प्रकार की ठगने वाली वर्णाश्रम प्रणाली का निषेध किया है। कलियुग की पतित अवस्था को (पूर्वाभास लेकर) भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* में वर्णाश्रम धर्म की व्याख्या नहीं करते हैं। उल्टे वे यज्ञ के रूप में कर्म करने पर बल देते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि परम पुरुष भगवान् विष्णु के लिए यज्ञ करने से वे तुष्ट होते हैं और सारे कुप्रभाव समूल नष्ट हो जाते हैं।

रोग या अन्य कष्टों से पीड़ित व्यक्ति आर्त कहलाते हैं। सामान्यतया बीमार व्यक्ति अपने रोग के अच्छा होने के लिए डाक्टर तथा औषधि पर निर्भर रहता है। किन्तु दूरद्रष्टा विद्वानों का कहना है कि किसी भी प्रकार का कष्ट भूतकाल में किये गये पापकर्मों का फल है। सामान्य लोग नहीं समझ पाते कि पापफल अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। यह अज्ञान प्रारब्ध, अप्रारब्ध तथा कूटस्थ रूपों में विद्यमान रहता है।

इन पापफलों के निराकरण का कोई भौतिक साधन नहीं है। पीड़ाहारी दवा खिला देने से क्षणिक राहत मिलती है किन्तु इससे रोग का मूलकारण समाप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार पापफलों के निराकरण के उद्देश्य से किया गया कोई भी भौतिकतावादी प्रयास पूरी तरह राहत नहीं दिला सकता। एकमात्र भगवान् की शरण ग्रहण करके ही अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है। *भक्तिरसामृतसिन्धु* में हमें इसके अनेक प्रमाण प्राप्त हैं कि भगवद्भक्ति किस तरह पापफलों, पापफलों के बीजों तथा समस्त पापों के मूल अज्ञान को विनष्ट करती है। अतः हम देखते हैं कि पवित्र पुरुष संकट के क्षणों में एकमात्र भगवान् पर निर्भर रहते हैं।

मनुष्य का यह सर्वोपरि कर्तव्य नहीं कि वह अपने वर्तमान कष्टों से राहत पाने का प्रयास करे। जीवन में उस औषधि की—रामबाण औषधि की—खोज की जानी है जो भौतिक रोग को पूरी तरह ठीक कर दे। यह रोग असंख्य प्रकारों से प्रकट होता है—यथा जन्म, वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु। पवित्र व्यक्ति संत-पुरुषों की संगति खोजता है और शास्त्रों का अनुसरण करता है। इस तरह वह अपने सर्वोच्च कल्याण के लिए प्रयास करता है। भक्ति का आरम्भ शास्त्रों में तथा सन्तवचनों में श्रद्धा को विकसित करना है। यह श्रद्धा हृदय की समस्त अवांछित इच्छाओं को नष्ट करती है और परमेश्वर की इच्छा के प्रति समर्पण भाव को बढ़ाती है।

अबोध पूछताछ करने वाले जिज्ञासु (जो जानने के इच्छुक हैं) कहलाते हैं। ये जिज्ञासु ही भविष्य के लिए समाज की आशा हैं। अधिकांश बुद्धिमान तथा अबोध शिशु जिज्ञासु होते हैं। वे अपने मातापिता से अनेक बातों के विषय में पूछते हैं और उनके उत्तर स्मरण रखते हैं। जब ये तेजस्वी युवक तथा युवतियाँ अपने माता

पिता तथा अध्यापकों से जो कि उनके प्रश्नों का स्पष्टता से उत्तर दे सकते हैं, समुचित मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं तो वे हर बात को आसानी से समझ लेते हैं और धीरे धीरे अच्छा मस्तिष्क विकसित कर लेते हैं। इन बुद्धिमान जीवात्माओं में से जो विशेषरूप से पवित्र होते हैं वे ईश्वर तथा अन्य आध्यात्मिक विषयों के सम्बन्ध में उत्सुकतापूर्वक पूछताछ करने लगते हैं। अन्य लोग, जो अधम भौतिक ज्ञान का अनुसरण करते हैं वे जीवन में सफल नहीं हो पाते और भूसे को पीटते रह जाते हैं। जो लोग आत्मा तथा ब्रह्म के विषय में जिज्ञासु होते हैं वे शीघ्र ही भगवान् कृष्ण तथा उनके भक्तों की शरण ग्रहण कर लेते हैं। ऐसी शरणागति उनके पूर्वजन्मों के संचित अच्छे पुण्य को प्रमाणित करती है। वे ब्रह्म के विषय में मूलभूत जिज्ञासाओं से शुरू करके तेजी से ऊपर उठते हैं और *भगवद्गीता* में (१४.२७) दिये हुए कृष्ण के इन वचनों को समझते हैं कि वे निर्विशेष ब्रह्म के आधारभूत हैं। इस तरह वे उनकी पूजा शुरू कर देते हैं।

फिर भी स्वल्प पुण्य वाला व्यक्ति कभी भी भगवद्भक्त नहीं बन सकता। जैसा कि शास्त्र का कथन है—

महाप्रसादे गोविन्दे नामब्रह्मणि वैष्णवे।
स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥

"हे राजा! स्वल्प पुण्य वाला व्यक्ति कभी भी भगवान् गोविन्द, उनकी कृपा, उनके पवित्र नाम या उनके शुद्ध भक्तों में श्रद्धा विकसित नहीं कर पाता।"

अधिकांश गृहस्थ भौतिक लाभ चाहते हैं। आजकल तो विशेष रूप से हर किसी को निर्धनता चिकोटी काटती है। सामान्य व्यक्ति

को धन की प्यास एकमात्र अपनी इन्द्रियों का आनन्द लूटने के लिए होती है। यदि एक बार कोई व्यक्ति इन्द्रिय-भोक्ताओं की व्यर्थ संगति में पड़ जाता है तो वह अपनी सारी सम्पत्ति सुन्दर वस्तुओं, कंचन-कामिनी को खरीदने पर लगा देता है और अधिक धन मिल जाने पर वह प्रशंसा तथा वाहवाही चाहता है और इन्हीं के साथ साथ उसे महल, मोटर कार आदि मिलते हैं। इस प्रयास में उसका एकमात्र स्वार्थ यही होता है कि वह इन्द्रियों का आनन्द लूटे। ऐसे लोग, जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति हो, उन्हें इसके पूर्व अल्पज्ञ सकाम कर्मी या कर्मी कहा जा चुका है। यदि इनमें से किसी के पास कुछ पुण्य हुआ तब ये गिने-चुने लोग अपना सारा समय केवल अपनी इन्द्रियों की तृप्ति में नहीं बिताएँगे, अपितु अपना कुछ समय भगवान् की पूजा करने में लगाएँगे। यद्यपि ये श्रेष्ठ कर्मी शुद्ध भगवद्भक्त की संगति नहीं करते, किन्तु ये अपने को आध्यात्मवादी कहते हैं। वस्तुतः ये अपनी विषयी इच्छाओं की तृप्ति चाहते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि भगवान् हृषीकेश यानी इन्द्रियों के परम स्वामी कहलाते हैं। कभी कभी ज्ञानी या योगाभ्यास-कर्ता भी भगवान् की पूजा करते हैं, किन्तु वे भी अन्ततः इन्द्रिय-सुख में ही रुचि रखते हैं। एकमात्र विधि जिससे ऐसे दूषित भक्त शुद्ध बन सकते हैं वह श्रील रूप गोस्वामी कृत *भक्तिरसामृतसिन्धु* का अध्ययन है। यह भक्ति योग पर प्रामाणिक ग्रन्थ है।

असली ज्ञानी जानते हैं कि हर वस्तु ब्रह्म से किस तरह जुड़ी हुई है। वे विनीत, दिखावे से रहित, स्वच्छ, ब्राह्मण-गुण सम्पन्न तथा गुरु को सम्मान देने वाले होते हैं। यही नहीं, उनमें अन्य अनेक सद्गुण होते हैं। अधिकांशतः वे संन्यास ग्रहण करते हैं और शुद्ध एवं सन्तों का जीवन बिताते हैं। तो भी इन संन्यासियों में प्रायः

एक प्रधान दोष उत्पन्न हो ही जाता है—वे अपने को ईश्वर समझते हैं। वे *अहं ब्रह्मास्मि*—मैं ब्रह्म हूं—इस वैदिक वाक्य का गलत अर्थ लगाते हैं। इस तरह उन्हें ब्रह्म का शुद्ध ज्ञान नहीं हो पाता। वे निषेध विधि का समापन देवता बनने में करते हैं जिससे अन्त में वे अद्वैतवाद को प्राप्त होते हैं। इस तरह अनेक ज्ञानी, जो परब्रह्म को जानना चाहते हैं, माया के द्वारा दिग्भ्रमित हो जाते हैं। माया अपना अन्तिम पाश यानी मोक्ष तैयार करती है जिससे वह अद्वैतवादियों को भवसागर में भटकाती रहती है। वह उन्हें यह सोचने पर विवश कर देती है कि "मैं यह हूँ", "मैं वह हूँ" मानो वे मदान्ध हों।

यदि संयोगवश मायावादी संन्यासी थोड़ा पुण्य कमा लेते हैं, फिर किसी शुद्ध वैष्णव भक्त के द्वारा सम्मानित हो जाते हैं— जिस तरह चैतन्य महाप्रभु द्वारा बनारस के मायावादी हुए थे—तब वे आसानी से अनुभव कर सकते हैं कि उनका निर्विशेष ब्रह्म या परमात्मा विषयक ज्ञान अधूरा है। तब उन्हें भगवान् के दिव्य ज्ञान से आलोकित किया जा सकता है। भूतकाल में अनेक ऋषियों को, जैसे कि महान सनक ऋषि तथा अनेक स्वरूपसिद्ध संन्यासी, यथा सुप्रसिद्ध शुकदेव गोस्वामी को, भगवद्ज्ञान का आस्वाद निर्विशेषवाद का अभ्यास करने के बाद ही मिला। तब उन्होंने भगवान् की दिव्य लीलाओं को सुनकर अवर्णनीय आनन्द प्राप्त किया। *श्रीमद्भागवत* में (२.१.९) शुकदेव गोस्वामी कहते हैं—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥

"हे राजर्षि (परीक्षित)! मैं निश्चित रूप से दिव्य स्थिति में था, फिर भी मैं उत्तमश्लोक भगवान् की लीलाओं के चित्रण से आकृष्ट

हुआ, जिनका वर्णन ज्ञानप्रद श्लोकों में किया जाता है।

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के दिग्गजों में से श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भगवान् के पास पहुँचने वाले चार प्रकार के पवित्र व्यक्तियों—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी—के विषय में अपना मत व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

"आर्त, अर्थार्थी तथा जिज्ञासु—ये तीन नवदीक्षित सकाम भक्त हैं। उनकी भक्ति सकाम इच्छाओं से मिश्रित रहती है। वे सभी अपने अपने विशिष्ट गुणों के अनुसार अपनी अपनी इच्छाएँ पूरी करना चाहते हैं। अन्त में जब वे शुद्ध हो जाते हैं तो वे भगवद्धाम—वैकुण्ठ लोक—जाना चाहते हैं। वे उन कर्मियों की तरह नहीं जो स्वर्गलोक जाना चाहते हैं। *भगवद्गीता* में (९.२५) कृष्ण कहते हैं—*यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*—मेरी पूजा करने वाला मेरे परम धाम को प्राप्त होता है। ज्ञानी यानी वह जो वस्तुओं को यथारूप में जानता है, चौथे प्रकार का पुण्यात्मा है। वह अन्य तीन प्रकारों से श्रेष्ठ है। चूँकि उसकी भक्ति ज्ञानमिश्रित होती है, अतः उसे उच्चतर फल मिलता है। वह सनक ऋषि के समान शान्त भक्तिरस को प्राप्त होता है। यही नहीं, चूँकि भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त ज्ञानी भक्त पर अपनी अहैतुकी कृपा की वृष्टि करते हैं इसलिए वह भगवान का शुद्ध प्रेम पा सकता है जिस प्रकार शुकदेव गोस्वामी के साथ हुआ। जब भक्ति सकाम इच्छाओं से मिश्रित होकर उन सकाम इच्छाओं से मुक्त हो जाती है तो वह स्वयमेव ज्ञानमिश्रित भक्ति में परिणत हो जाती है। इस ज्ञानमिश्रित भक्ति का अभ्यास करने से जो फल मिलता है उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

कभी कभी जब मिश्रित भक्ति की कोटि वाले भक्त दास्य भाव के लिए रुचि विकसित कर लेते हैं और उसका अभ्यास करने लगते

हैं तो वे भय तथा सम्मान से मिश्रित दास्य भक्ति को प्राप्त होते हैं। जब उनकी भक्ति और अधिक शुद्ध हो जाती है तो उन्हें दास्य, सख्य भाव आदि की शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है और भगवान् के प्रति प्रेम के कारण वे उनके नित्य पार्षद बन जाते हैं। इन सब का स्पष्टीकरण *श्रीमद्भागवत* में हुआ है। हमने प्रसंगवश कुछेक बातों की व्याख्या कर दी है।

एकमात्र कृष्ण ही परम भगवान् हैं; अन्य सब उनके भृत्य हैं— सामान्यतया ज्ञानी-जन निर्विशेष अद्वैतवादी विचार की दिशा में बदल जाते हैं। उनका अद्वैतवाद का विचार इस तरह का होता है—इस भौतिक जगत की क्षणभंगुरता तथा कटुता का अनुभव करने तथा सकामकर्म की व्यर्थता को पहचान लेने के बाद वे अब यह अनुभव करते हैं कि वे आत्मा या ब्रह्म हैं। वस्तुतः जब ब्रह्म की अनुभूति पूर्ण हो जाती है तो उन्हें वैकुण्ठवासी परब्रह्म के साकार पक्ष की अनुभूति होती है और जब भगवान् के साकार पक्ष की अनुभूति प्रगाढ़ हो जाती है तो वे भगवान् कृष्ण के परम दिव्य सौन्दर्य के प्रति स्वभावतः आकर्षित होते हैं। *भगवद्गीता* में (७.१९) भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"जिसे सचमुच ज्ञान प्राप्त होता है वह अनेकानेक जन्मों के बाद मुझको समस्त कारणों का कारण जानकर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।"

जो भगवान् कृष्ण को पूरी तरह समझता है वह सम्पूर्ण भौतिक जगत में कहीं भी किसी प्रकार की कटुता का अनुभव नहीं करता।

वह भगवान् के साथ उनके नित्य सम्बन्ध के ज्ञान के बल पर फलता-फूलता है। निस्सन्देह, वह सारी वस्तुओं को और जगत को कृष्ण के सापेक्ष देखता है। इस तरह वह उन निर्विशेषवादी मुक्तिकामियों से भिन्न है जो इस जगत को मात्र क्षणिक पदार्थ मानते हैं। ऐसा बुद्धिमान भक्त अनुभव करता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की सेवा में नियोजित है और कृष्ण से स्वतन्त्र, इस सम्बन्ध से बाहर कुछ भी विद्यमान नहीं रह सकता। दूसरे शब्दों में, हर वस्तु में कृष्ण की उपस्थिति के कारण आवेशित होने से यह संसार भक्त के लिए रूपान्तरित हो जाता है। माया विस्मृति के गर्त में चली जाती है और यह संसार आध्यात्मिक जगत यानी वैकुण्ठ के गुण प्राप्त कर लेता है। कृष्ण का ऐसा शुद्ध भक्त स्वार्थी नहीं होता और वह यह नहीं सोचता है कि केवल वह ही कृष्ण के चरणकमलों पर शरण लेने का लाभ उठायेगा, प्रत्युत वह संसार के हर व्यक्ति को कृष्ण की ओर आकृष्ट कराने का प्रयास करता है और इस प्रयास के फलस्वरूप वह महात्मा कहलाता है। ऐसे महात्मा सचमुच ही दुर्लभ हैं।

यह देखा जाता है कि अनेक तथाकथित महात्मा बिना समझे-बूझे कि यह सारा संसार भगवान् कृष्ण की उपस्थिति से व्याप्त है, स्वयं भगवान् तथा स्वामी बनना चाहते हैं और उस रूप में सेवा करवाना चाहते हैं। इस तरह वे भगवान् की माया शक्ति से पूरी तरह बन्दी बना लिये जाते हैं। उनमें असीम इच्छाएँ घर कर लेती हैं जिससे उन्हें बाध्य होकर उन देवताओं की पूजा करनी पड़ती है जो परमेश्वर से निकृष्ट होते हैं। *भगवद्गीता* में (७.२०) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

"जिनकी बुद्धि भौतिक इच्छाओं द्वारा मारी गई है वे देवताओं की शरण में जाते हैं और वे अपने अपने स्वभावों के अनुसार पूजा के विशेष विधि-विधानों का पालन करते हैं।"

इस तरह वे पुरुष जो असीम इच्छाओं द्वारा निरन्तर सताये जाते हैं अधिक कष्ट पाते हैं जिससे उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इसीलिए कृष्ण उन्हें *हृतज्ञानाः* "ऐसे व्यक्ति जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है" कहते हैं। वे बहुदेववादी बन जाते हैं और देवताओं की पूजा करने में तेजी दिखाते हैं। ये बहुदेववादी यह नहीं समझ पाते कि *कृष्णे भक्ति कैले सर्व-कर्म कृत हय*—भगवान् कृष्ण की पूजा करने से मनुष्य स्वतः अन्य सारे गौण कर्मों से निपटता है। बहुदेववादी सोचते हैं कि सूर्यदेव जैसे देवता भगवान् कृष्ण के तुल्य हैं। ऐसी विकृत बुद्धि वाले लोग कभी भी कृष्ण के चरण-कमलों की शरण में नहीं जा सकते। दूसरी ओर, विशाल हृदय वाले पुरुष तीक्ष्ण बुद्धि के बल पर आश्वस्त रहते हैं कि भगवान् कृष्ण ही परम जीव हैं। यदि किसी तरह उनमें कोई भौतिक इच्छा घर करती है तो वे तुरन्त भगवान् कृष्ण के पास जाकर उनसे प्रार्थना करते हैं। *श्रीमद्भागवत* में (२.३.१०) निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है—

अकामः सर्वकामोवा वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत् पुरुषं परम्॥

"उदार बुद्धिवाले व्यक्ति को, चाहे वह सकामी हो या निष्कामी, अथवा मोक्षकामी हो, उसे हर तरह से परमपूर्ण भगवान् की पूजा करनी चाहिए।"

मनुष्य में चाहे जो भी इच्छा हो, उसकी पूर्ति के लिए उसे गहन तथा अविचल भक्ति के साथ भगवान् की सेवा करनी चाहिए।

(इस बात की व्याख्या इसके पूर्व श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर द्वारा की जा चुकी है)। यदि इस आदेश का अनुसरण किया जाय तो वे लोग भी, जिनमें भगवान् कृष्ण के प्रति वितृष्णा है, अन्ततः उनकी शरण में जाने का निर्णय करेंगे।

भगवान् कृष्ण परम नियन्ता तथा परब्रह्म हैं; फिर भी वे अत्यन्त अणु जीवों पर अपनी इच्छा नहीं लादते। प्रत्युत यह तो जीव का अपना लाभ है कि वह पहचाने कि कृष्ण ही एकमात्र भगवान् हैं और अन्य सारे लोग उनके सेवक हैं। सूर्यदेव तथा अन्य देवता भगवान् कृष्ण की इच्छा के अनुसार ही अपना कर्तव्य-पालन करते हैं, इसीलिए वे देवता कहलाते हैं। चूँकि भगवद्भक्त भी उनकी इच्छाओं का पालन करता है अतः वह भी सुर यानी देवता कहलाता है। इसके विपरीत जो लोग भगवान् की इच्छाओं का विरोध करते हैं वे असुर कहलाते हैं।

देवताओं के पास कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं होती। तथ्य तो यह है कि उनमें इतनी भी शक्ति नहीं होती कि वे अपना सम्मान करा सकें। यह तो परमेश्वर द्वारा किया जाता है। कृष्ण का आंशिक विस्तार, परमात्मा, हर एक के हृदय में निवास करता है और वे ही मनुष्य के हृदय के भीतर विभिन्न देवताओं के लिए श्रद्धा तथा सम्मान की प्रेरणा देते हैं। वस्तुतः सूर्यदेव तथा अन्य देवों में दिखने वाली असामान्य शक्तियाँ परमेश्वर की शक्तियाँ हैं। एक बार इन असामान्य शक्तियों के प्रति आकृष्ट होने पर बुद्धिमान व्यक्ति क्रमशः उस शक्ति के स्रोत, परम शक्तिमान भगवान् कृष्ण की ओर आकृष्ट होता है। देवताओं की पूजा भगवान् की अप्रत्यक्ष, निकृष्ट तथा अव्यवस्थित पूजा है। जो लोग अपनी भौतिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं वे शक्ति के स्रोत यानी शक्तिमान् की

अपेक्षा शक्ति के प्रति अधिक अनुरक्त रहते हैं। अतः *भगवद्गीता* में (७.२१-२२) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥

"मैं प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मास्वरूप स्थित हूँ। जैसे ही कोई किसी देवता की पूजा करने की इच्छा करता है मैं उसकी श्रद्धा को स्थिर करता हूँ जिससे वह उस विशेष देवता की भक्ति कर सके। ऐसी श्रद्धा से समन्वित वह देवता विशेष की पूजा करने का यत्न करता है और अपनी इच्छा की पूर्ति करता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि ये सारे लाभ केवल मेरे द्वारा प्रदत्त हैं।"

देवताओं की शक्तियाँ राजा के अधिकारियों जैसी हैं। देवताओं के पास स्वतन्त्र शक्तियाँ नहीं होतीं क्योंकि वे जीव हैं। राजा का अधिकारी कुछ दया तो कर सकता है, क्योंकि राजा द्वारा उसमें कुछ शक्तियाँ प्रदत्त की हुई रहती हैं। इसी तरह देवता अपने पूजक को लाभ पहुँचा सकता है, क्योंकि परमेश्वर ने देवता को कुछ शक्ति दे रखी है। यदि इच्छापूरित देव-पूजक इस बारे में थोड़ा जागरूक बन जाय कि वह जिस देवता की पूजा करता है वह भगवान् की कृपा से उसकी इच्छा पूरी कर रहा है तो वह शुद्ध बुद्धि से कृष्ण की प्रत्यक्ष पूजा करना शुरू कर देगा।

भिन्न भिन्न देवताओं के पास विभिन्न शक्तियाँ होती हैं। सूर्यदेव में रोगों को ठीक करने की शक्ति है, चन्द्रदेव पौधों में स्वाद तथा

पोषक या ओषधीय शक्ति भरता है, देवी दुर्गा बल तथा धैर्य प्रदान करती हैं, देवी सरस्वती विद्या देती हैं, देवी लक्ष्मी सम्पत्ति देती हैं, देवी चण्डी मांस तथा मादक द्रव्यों को खाने का अवसर प्रदान करती हैं और गणेश जी मनुष्य के प्रयासों को सफल बनाते हैं। किन्तु देवताओं में ये सारी शक्तियाँ भगवान् द्वारा न्यस्त की जाती हैं। इस तरह केवल वे यानी परमपूर्ण ही हर तरह का वर प्रदान कर सकते हैं। कूप तथा सागर में विशाल अन्तर होता है।

हम पहले ही इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि संसार की हर वस्तु भगवान् की क्षेत्र शक्ति तथा उनकी क्षेत्रज्ञ शक्ति की अन्योन्य क्रिया से उत्पन्न होती है। अतः इस जगत की हर वस्तु कृष्ण की शक्तियों का रूपान्तर मात्र है। एक तरह से शक्तिमान तत्व तथा शक्ति तत्व अभिन्न हैं। दुर्भाग्यवश निर्विशेषवादी यानी अद्वैतवादी दार्शनिकों ने भगवान् की शक्ति के रूपान्तर विषयक अपने दिग्भ्रमित मतों के कारण संसार में तबाही मचा रखी है।

देवता तथा अन्य सारे जीव शक्ति तत्व से सम्बन्धित हैं जिस तरह स्वयं भौतिक प्रकृति है। शक्तिमान तत्त्व की श्रेणी में भगवान् तथा उनके स्वांशों के अतिरिक्त और कोई नहीं आता। इस तरह शक्ति तथा शक्तिमान एक तथा साथ ही साथ भिन्न हैं। जो व्यक्ति भगवान् तथा उनकी शक्तियों की अचिन्त्य एकात्मकता तथा विभिन्नता के समकालिक सिद्धान्त को समझ नहीं सकता वह निश्चय ही निर्विशेषवादी या मायावादी हो जाएगा। वह भक्ति मार्ग से विलग कर दिया जाएगा और मौन हो जाएगा। समस्त ऐश्वर्य के उद्गम भगवान् शक्तिमान तत्व हैं। यदि हम उसे निर्विशेष मानें तो हम उनकी पूर्णता को सीमित करते हैं। 'परब्रह्म' शब्द एकमात्र कृष्ण पर लागू होता है। भगवान् तो परब्रह्म तत्व हैं जो अनुल्लंघनीय तथा अद्वितीय हैं। इसीलिए वेद

उन्हें "असमौर्ध्व" कहते हैं। भगवान् की शक्तियाँ विविध रूपों में व्यक्त होती हैं और जो लोग इन विविध अभिव्यक्तियों द्वारा मोह लिये जाते हैं उनका अन्त बहु-आस्तिक बनने में होता है। यह बात सबों को स्पष्ट हो जानी चाहिए कि हमें इस ब्रह्माण्ड में जो भी विविधता दिखती है वह परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों का रूपान्तरण मात्र है।

मायावादी लोग शक्ति के रूपान्तर सिद्धान्त को ठुकराते हैं और साक्षात् ब्रह्म के रूपान्तर के सिद्धान्त को मानते हैं। इस तरह वे अपने इस विश्वास पर दृढ़ रहते हैं कि ब्रह्म निर्विशेष है। परमेश्वर ने उन विशिष्ट परिस्थितियों का वर्णन किया है जिसमें वे अपने निराकार रूप में स्वयं को प्रकट करते हैं। इस बात की पुष्टि करने वाले अनेक शास्त्रीय उद्धरण हैं। परमेश्वर ने अपने साकार तथा निर्विशेष—इन दोनों ही रूपों को प्रकट करके इस सिद्धान्त को दृढ़ता से स्थापित किया है कि परम पुरुष अचिन्त्य रूप से अपनी शक्तियों से एकाकार तथा भिन्न है। इस दार्शनिक निष्कर्ष की जो *अचिन्त्य भेदाभेद तत्व* कहलाता है, स्वयं कृष्ण ने *भगवद्गीता* में (७.१२) व्याख्या की है—*मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि*—एक तरह से मैं सब कुछ हूँ, किन्तु मैं स्वतन्त्र हूँ। मैं प्रकृति के गुणों के अधीन नहीं, क्योंकि उल्टे वे मेरे अधीन हैं।

परमशक्तिमान समस्त शक्तियों के स्रोत हैं। फिर भी यद्यपि सारी शक्तियाँ उन्हीं से निकलती हैं तो भी वे इन शक्तियों की कार्यप्रणाली से पृथक रहते हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि देवताओं की अद्वितीय शक्तियाँ भगवान् की शक्तियों के अभिन्न अंश हैं, किन्तु देवता भगवान् से पृथक हैं। अतः देवताओं द्वारा दिये गये वरदान प्राप्तकर्ता को केवल क्षणिक रूप से लाभ पहुँचाते हैं। इस

तथ्य की पुष्टि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में (७.२३) की है—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति भद्भक्ता यान्ति मामपि॥

"अल्पबुद्धि वाले व्यक्ति देवताओं की पूजा करते हैं और उन्हें मिलने वाले फल सीमित तथा क्षणिक होते हैं। देवताओं की पूजा करने वाले देवलोक को जाते हैं। किन्तु मेरे भक्त अन्ततः मेरे परम धाम को प्राप्त होते हैं।"

हम पहले ही बता चुके हैं कि यदि सकाम इच्छाओं से पूरित कर्मीजन देवताओं के पास न जाकर भगवान् के पास जाते हैं तो वे भगवान् से ऐसे वर प्राप्त करते हैं जो अजर-अमर होते हैं। वे स्वतः योग की सीढ़ी में एक डंडा ऊपर चढ़ जाते हैं—सकाम कर्म से ज्ञान योग पर। इसका अर्थ हुआ कि इस भौतिक जगत में स्वर्ग जाने के बजाय वे इस भौतिक जगत के परे भगवान् के आध्यात्मिक धाम वैकुण्ठ लोक में मोक्ष प्राप्त करेंगे। देवताओं के पूजक देवलोकों यानी स्वर्गलोक को जाते हैं जो नश्वर है। जब एक बार मनुष्य द्वारा संचित पुण्य चुक जाते हैं तो उसे पृथ्वी पर वापस आना होता है। दूसरी ओर, यदि भगवद्भक्त एकबार वैकुण्ठलोक प्राप्त कर लेते हैं तो उन्हें कभी मर्त्यलोक में वापस नहीं आना पड़ता।

कलियुग में भगवान् कृष्ण का अपने पवित्र नाम के रूप में अवतरित होना

अल्पज्ञ व्यक्ति अल्पकालिक सम्पत्ति के लिए देवताओं की पूजा करते हैं, अतः यह पूछा जा सकता है, "यदि भगवान् की पूजा करने से मनुष्य की सारी इच्छाएँ पूरी हो जायँ तो फिर प्रत्येक व्यक्ति उनकी ही पूजा क्यों नहीं करता?" एक बार देवर्षि नारद ने युधिष्ठिर

महाराज द्वारा पूछे गये ऐसे ही प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया था—

महाप्रसादे गोविन्दे नामब्रह्मणि वैष्णवे।
स्वल्प-पुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥

"हे राजन! कम पुण्यवान् व्यक्ति कभी भी भगवान् गोविन्द, उनकी कृपा, उनके पवित्र नाम या शुद्ध भक्तों के प्रति श्रद्धा विकसित नहीं कर सकता।"

इसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में (७.२८) इस प्रकार की है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

"जिन मनुष्यों ने पूर्वजन्मों में तथा इस जन्म में पुण्यकर्म किये हैं और जिनके पापकर्मों का पूर्णतया उच्छेदन हो चुका होता है वे मोह के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं और वे संकल्पपूर्वक मेरी सेवा में तत्पर होते हैं।"

आसुरी मनोवृत्ति वाले लोग पाप में निमग्न रहते हैं, अतएव आध्यात्मिक ज्ञान की महत्ता के विषय में उनका ज्ञान न के बराबर है। जिन लोगों ने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करके अपने पापों का समूल विनाश कर दिया है और इस तरह पर्याप्त पुण्य कमा लिया है वे ही कर्मयोग का अभ्यास करने के पात्र हैं। वे क्रमशः ज्ञानयोग को प्राप्त होते हैं और अन्त में वे ध्यान में रह कर भगवान् के दिव्य तथा परम पद का अनुभव करते हैं। ऐसे ही अति भाग्यशाली स्वरूपसिद्ध व्यक्ति अपने हृदयों में नित्य दिव्य भगवान् के द्वि-भुजी स्वरूप में, बंशी बजाते हुए श्याम सुन्दर को देख सकते हैं। *श्रीब्रह्म*

संहिता में (५.३०) भगवान् का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

वेणुं क्वणन्तम् अरविन्ददलायताक्षं
बर्हावतंसम् असिताम्बुदसुन्दराङ्गम्॥
कन्दर्पकोटिकमनीयविशेषशोभं
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपनी वंशी बजाने में दक्ष हैं, जिनके नेत्र कमल की पंखुड़ियों के समान खिले हुए हैं, जिनका सिर मोरपंख से सुशोभित है, जो नीले रंग के बादलों जैसे सौंदर्य रूप वाले हैं और जिनका अद्वितीय सलोनापन लाखों कामदेव को मोहने वाला है।"

जो लोग अवैध यौन, छिद्रान्वेषण तथा अवैध हिंसा जैसे पाप करते हैं उन्हें विरले ही आध्यात्मिक ज्ञान या आत्म-अनुभूति हो पाती है। पापकर्म अज्ञान के गहन अंधकार को गहनतर बनाते हैं जबकि पुण्यकर्म जीवन में दिव्य ज्ञान का प्रकाश लाते हैं। यह ज्ञान कृष्ण के साक्षात्कार में पूरा होता है। किन्तु मात्र पुण्यकर्म करने से कोई ईश-साक्षात्कार का पात्र नहीं बन जाता। जब कोई व्यक्ति पुण्य कर्म करता है और साधुजनों की संगति करता है तभी उसकी चेतना में आध्यात्मिक ज्ञान का उदय होता है। जब वह द्वैत दशा को लाँघ जाता है—विशेषतया जब वह परब्रह्म के अद्वैतवाद या द्वैतवाद के विवाद में नहीं पड़ता—तो वह प्रबुद्ध होकर कृष्ण का दर्शन करता है और अद्वय, सर्वोच्च के रूप में संकल्प के साथ उनकी पूजा करता है। पुण्यकर्मों की परिपूर्ण अवस्था में सतोगुण चेतना पर हावी हो जाता है और अविद्या और मोह के अंधकार को दूर कर देता है जो रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। ज्योंही चेतना

के रजोगुण का पूरी तरह दमन हो जाता है त्योंही मनुष्य की चेतना के आकाश को आध्यात्मिक अनुभूति प्रकाशित कर देती है।

यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि क्या इस कलियुग में यज्ञ, दान, तपस्या जैसे पुण्यकर्मों को ठीक तरह से करने के लिए साधन उपलब्ध हैं? यह सार्वजनिक रूप में स्वीकार किया जाता है कि कलियुग के अभागे लोग ऐसा अपव्यय करने में समर्थ नहीं हैं। इसी कारण से ईश्वर के सर्वाधिक वदान्य अवतार तथा कलियुग के त्राता श्रीचैतन्य महाप्रभु ने *बृहन्नारदीय पुराण* के निम्नलिखित मन्त्र की सत्यता घोषित की—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"कलह तथा दिखावे के इस युग में उद्धार का एकमात्र उपाय भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन है, पवित्र नाम का कीर्तन है, पवित्र नाम का कीर्तन है। इसका कोई अन्य उपाय नहीं है। कोई अन्य उपाय नहीं है। कोई अन्य उपाय नहीं है।"

कलियुग में सिद्धि पाने की एकमात्र विधि परमेश्वर के पवित्र नाम का श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण है। इसकी पुष्टि शास्त्रों से अनेक उद्धरणों से होती है कि कृष्ण के कल्याणकारी नाम का कीर्तन करने से समस्त अमंगल विनष्ट हो जाता है। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में (१२.१२.५५) हुई है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

"भगवान् कृष्ण के चरणकमलों का स्मरण हर अमंगल को नष्ट करने

वाला तथा सर्वोच्च सौभाग्य प्रदान करने वाला है। यह हृदय को शुद्ध करता है और अनुभूति तथा वैराग्य से युक्त ज्ञान सहित परमात्मा की भक्ति प्रदान करता है।"

अतः मोह तथा द्वन्द्व की पहुँच से बाहर रहने के लिए सदैव उन कृष्ण के सुन्दर रूप का स्मरण तथा ध्यान करना होता है जिनका वर्ण साँवला है और जो अपनी वंशी बजाते हैं। मनुष्य को कृष्ण के पवित्र नाम का स्मरण तथा कीर्तन भी करना चाहिए जो कृष्ण से अभिन्न है और यह नित्य, पूर्ण शुद्ध तथा स्वतन्त्र है। *भगवद्गीता* में (८.६-७) कृष्ण ने नित्य अपने स्मरण किये जाने की महत्ता का वर्णन किया है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः॥

"हे कुन्तीपुत्र! शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस जिस भाव का स्मरण करता है वह उस उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है। अतएव हे अर्जुन! तुम्हें सदैव कृष्ण रूप में मेरा चिन्तन करना चाहिए और साथ ही युद्ध करने के कर्तव्य को पूरा करना चहिए। अपने कर्मों को मुझे समर्पित करके तथा अपने मन एवं बुद्धि को मुझ में स्थिर करके तुम मुझे निश्चित रूप से प्राप्त कर सकोगे।"

मृत्यु के समय हमारी जैसी चेतना रहती है उसी से हमारा अगला जन्म निर्धारित होता है। मृत्यु पंचतत्वों से बने शरीर को नष्ट कर देती है लेकिन मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहँकार से युक्त सूक्ष्म शरीर बना रहता है। जिस तरह से वायु जहाँ से होकर बहती है वहाँ

की सुगन्ध अपने साथ ले जाता है उसी तरह आत्मा पुरुष के मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार के सूक्ष्म शरीर को उसकी चेतना समेत उसके अगले जन्म तक ले जाती है और उसी के अनुसार उसका शरीर सुनिश्चित किया जाता है। जब मन्द वायु बगीचे में से होकर बहती है तो अपने साथ फूलों की सुगन्ध ले जाती है, किन्तु जब यही कूड़े के ढेर के ऊपर से बहती है तो यह दुर्गंध से भर जाती है। इसी तरह मनुष्य अपने जीवनकाल में जो जो कर्म करता है वे निरन्तर उसकी मनोवृत्ति को प्रभावित करते हैं और मृत्यु के समय इन कर्मों के सम्मिलित प्रभाव से उसकी चेतना की दशा निर्धारित होती है। इस तरह मनुष्य के जीवनकाल में निर्मित सूक्ष्म शरीर अगले जन्म में ले जाया जाता है और आत्मा के अगले स्थूल शरीर के रूप में प्रकट होता है। इसलिए स्वाभाविक है कि स्थूल शरीर मनुष्य की चेतना की दशा को प्रतिबिम्बित करता है। एक प्रसिद्ध कहावत है, "चेहरा मन का दर्पण है" और यह मन मनुष्य के वर्तमान तथा पूर्वजन्मों के कर्मों का फल है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य का मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार, जो मनुष्य के इस तथा पहले के जन्मों की आदतों से प्रभावित होते हैं, वे पैमाने हैं जो इसका निर्धारण करते हैं कि अगले जीवन में मनुष्य किस तरह का शरीर तथा मनोवृत्ति पाएगा। अतः मनुष्य के विगत, वर्तमान तथा भावी जीवनों के मध्य का सम्बन्ध मन, बुद्धि तथा मिथ्या अहंकार हैं।

दिन के कार्य रात में सपनों को उत्पन्न करते हैं और इन कार्यों के उपयुक्त मनोभावों को प्रेरित करते हैं। इसी तरह मनुष्य अपने जीवन-काल में जो जो कर्म किये रहता है वे मृत्यु के समय उसके मन में दीपित होते हैं और उसके अगले जन्म को निर्धारित करते हैं। इसलिए यदि किसी के वर्तमान कर्म भगवान् के दिव्य नाम के

कीर्तन, श्रवण तथा स्मरण के साथ साथ उनके सौन्दर्य, गुण, लीलाओं, पार्षदों तथा साजसामग्री के वर्णनों की ओर निर्देशित होते हैं तो शरीर त्यागते समय मनुष्य की चेतना स्वतः भगवान् की ओर आकृष्ट रहेगी। मृत्यु के समय चेतना की ऐसी आध्यात्मिक दशा से उसके अगले जन्म में आत्मा का भगवान् के नित्य धाम में प्रवेश सुनिश्चित हो जाता है। इस आध्यात्मिक चेतना को जागृत करना मनुष्य जीवन का मूल उद्देश्य है। अतः हम देखते हैं कि बद्धजीवों पर दयावश भगवान् कृष्ण अर्जुन को युद्ध करने तथा उसी के साथ अपना स्मरण करने की शिक्षा देते हैं। यह *कर्मयोग* कहलाता है। अतः सारे भक्त अपने सारे कर्मों में—भोजन तथा सुरक्षा के प्रयासों में तथा युद्ध करते समय युद्धभूमि के मध्य में भी—उनका सदैव स्मरण करते हैं। जीवन एक युद्धस्थल है जिसमें मनुष्य किसी भी क्षण मर सकता है, अतः भक्तगण प्रतिक्षण उनका स्मरण करते हैं और वे खुशी खुशी उनके रथ-रूपी शरीरों के सारथी बनते हैं। इस तरह उनके शरीरों, मनों तथा शब्दों के कर्म भगवान् की इच्छा से प्रेरित होते हैं और अन्त में जब वे अपने स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों को छोड़ते हैं तो वे सीधे वैकुण्ठ जाते हैं।

शुद्ध भक्ति का मुख्य लक्षण पवित्र नाम का निरन्तर कीर्तन, श्रवण तथा स्मरण है। मिश्रित भक्ति कर्म तथा ज्ञान से मिश्रित भक्ति है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। ऐसी भक्ति प्रायः उस स्थिति या संगति से अवरुद्ध होती है जिसमें मनुष्य अपने को पाता है। किन्तु शुद्ध भक्ति में कोई अवरोध नहीं है। भगवान् की पूर्ण अनुभूति तब तक नहीं होती जब तक कोई शुद्ध भक्ति में दृढ़तापूर्ण स्थित न हो। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में (१८.५५) इसकी पुष्टि की है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः*—केवल शुद्ध भक्ति

से कोई व्यक्ति मुझे भगवान् के रूप में समझ सकता है। भगवान् ने अन्यत्र (८.१४) इस शुद्ध भक्ति के मूल गुण का उल्लेख किया है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

"हे अर्जुन! जो अनन्य भाव से निरन्तर मेरा स्मरण करता है उसके लिए मैं सुलभ हूँ, क्योंकि वह मेरी भक्ति में लगातार प्रवृत्त रहता है।"

भगवान् पर अविचल एकाग्रता शुद्ध भक्ति का प्रथम लक्षण है। दूसरे शब्दों में, शुद्ध भक्त वह है जो भगवान् की अविचल भक्ति से सम्बन्ध न रखने वाली समस्त इच्छाओं तथा विचारों को दूर रखता है। अनेक आध्यात्मिक दिग्गजों ने शुद्ध भक्ति के विषय में टीका-टिप्पणी की है। उदाहरणार्थ, श्रील चैतन्य महाप्रभु के समय में सर्व-अग्रणी महान आध्यात्मिक उपदेशक श्रील रूप गोस्वमी ने अपने *भक्तिरसामृतसिन्धु* में (१.१.११) लिखा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

"मनुष्य को चाहिए कि सकाम कर्मों या दार्शनिक चिन्तन द्वारा किसी भौतिक लाभ की इच्छा से रहित भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति अनुकूल भाव से करे। यही शुद्ध भक्ति कहलाती है।"

लोग देवताओं की पूजा अपनी भौतिक इच्छाओं को तुष्ट करने के लिए करते हैं। वे नौसिखिये कृष्ण-भक्त जो रोग से बचने के लिए सूर्यदेव जैसे देवताओं को प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं ऐसा

इसलिए करते हैं, क्योंकि उन्हें कृष्ण के परम देवत्व के विषय में गम्भीर सन्देह रहते हैं। *अन्याभिलाष* शब्द का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि जब कोई यह सोचता है कि सूर्यदेव, जो भगवान् की शक्ति की अभिव्यक्ति मात्र हैं, रोग से उसकी रक्षा कर सकते हैं किन्तु परमेश्वर कृष्ण नहीं कर सकते, तभी वह इस प्रकार की विकृत बुद्धि को प्रश्रय देता है। एक बार मन के इन सन्देह रूपी बादलों के छँट जाने पर मनुष्य शुद्ध भक्ति के द्वार में प्रवेश करता है। कर्मी तथा ज्ञानी भी भौतिक इच्छाओं से दूषित रहते हैं। उनमें क्रमशः अपनी इन्द्रियों के भोग तथा मोक्ष की इच्छा पाई जाती है। शुद्ध भक्ति तभी प्राप्त होती है जब ये भौतिक इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं और मनुष्य भगवान् कृष्ण की अविच्छिन्न अनुकूल भक्ति करता है। महर्षि नारद ने कहा है (*नारद पञ्चरात्र*)—

सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

"भक्ति का अर्थ है अपनी सारी इन्द्रियों को समस्त इन्द्रियों के स्वामी भगवान् की सेवा में लगाना। जब आत्मा उनकी सेवा करता है तो दो प्रकार के पार्श्व प्रभाव होते हैं—मनुष्य सारी भौतिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है और भगवान् की सेवा मात्र में लगी रहने से उसकी इन्द्रियाँ शुद्ध बन जाती हैं।"

अपने मन तथा शरीर के सन्दर्भ में कोई व्यक्ति जो विविध स्वरूप धारण करता है वे सभी भौतिक उपाधियाँ हैं। शुद्ध आत्मा पर ऐसी संसारी उपाधियों से कोई गतिरोध नहीं पड़ता, क्योंकि उसके पास जो एकमात्र उपाधि रहती है वह भगवान् के दास तथा उनके अविभाज्य अंश होने की पहचान है। इस तरह समस्त मिथ्या उपाधियों को

निकाल फेंकने पर मनुष्य अध्यात्म अवस्था में प्रवेश करता है और जब वह अध्यात्म अवस्था में दृढ़ता से स्थित होता है तो वह शुद्ध हो जाता है। समस्त इन्द्रियों के स्वामी भगवान् की सेवा ऐसी शुद्ध इन्द्रियों द्वारा करना अनन्य भक्ति है।

भगवद्गीता में (८.१४) आये दो शब्द *अनन्यचेताः* तथा *नित्य-युक्त* अत्यन्त सार्थक हैं। अविचल श्रद्धा में स्थिर हुए बिना भक्ति में अविचल नहीं हुआ जा सकता। जब कोई व्यक्ति नियमित रूप से इस श्रद्धा के साथ भगवान् की सेवा करता है तो वह सकाम कर्म, ज्ञान, देव पूजा, कर्मकाण्डीय पुण्यकर्म आदि की सारी इच्छाओं को स्वतः त्याग देता है और अपनी भक्ति में अविचल हो जाता है। *सततम्* शब्द से यह भाव निकालना चाहिए कि भक्ति काल, देश, परिस्थिति, संकट आदि से स्वतन्त्र है। हर व्यक्ति नस्ल, जाति, लिंग या अन्य भौतिक उपाधियों के भेदभाव के बिना ज्ञान, कर्म तथा योगाभ्यास को छोड़ सकता है और अविचल भाव से भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण कर सकता है। *नित्य* शब्द का अर्थ है "रोजाना, नियमित रूप से या निरन्तर।" जो लोग भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करते हैं वे उन्हें आसानी से पा सकते हैं। *ब्रह्म संहिता* में (५.३३) ब्रह्माजी कहते हैं—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्
आद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।
वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो वेदों के लिए अगम्य हैं किन्तु आत्मा की शुद्ध भक्ति से प्राप्त किये जा

सकते हैं, जो अद्वय हैं, जो अक्षय हैं, जो अनादि हैं, जिनके रूप अनन्त हैं, जो आदि हैं और नित्य पुरुष हैं; फिर भी वे एक पुरुष हैं जो नवयौवन के सौन्दर्य से युक्त हैं।"

धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने, सकाम कर्म करने, ज्ञान का अनुशीलन करने तथा योग का अभ्यास करने में काफी परिश्रम, समय तथा धन का व्यय होता है। मनुष्य को ऐसे कर्मों के पवित्र फलों के साथ ही पाप फलों को भी स्वीकार करना होता है। इन फलों को निरस्त करने का एकमात्र उपाय भगवान् कृष्ण की पूजा करना है। इस प्रकार भगवान् कृष्ण की पूजा करना और सेवा करना ही सम्पूर्ण विश्व के लिए लाभप्रद कर्म है।

भगवान् साक्षात् नित्य आनन्द स्वरूप हैं और सदैव दिव्य लीलाओं में व्यस्त रहते हैं। उनकी पूजा करने के लिए केवल अविचल भक्ति चाहिए। दिखावेपन से वे प्रसन्न नहीं हो सकते। भगवान् कृष्ण की भक्ति से न तो घृणा उत्पन्न होती है न ईर्ष्या। केवल नास्तिक ही भगवान् की भक्ति तथा उनके भक्तों के प्रबल विरोधी हैं। मनुष्य को भक्ति में सर्वोच्च आनन्द मिलता है। निस्सन्देह जब किसी को अन्ततः भगवान् मिल जाते हैं तो यह असीम आनन्द के सागर में निमग्न होने जैसा है। एकमात्र कृष्णभक्त ही इस आनन्द का आस्वादन कर सकते हैं और सदा प्रसन्न रह सकते हैं।

माया के मोह में फंसकर मनुष्य ने भगवान् कृष्ण को भुला दिया है—

इस जगत में चाहे कर्मी हों, ज्ञानी, योगी या सामान्य राजनीतिज्ञ या कोई और हों, वे आरामदेह तथा शान्तिपूर्ण स्थिति लाने के लिए कठोर श्रम कर रहे हैं। उन्हें स्पष्ट अनुभव कर लेना चाहिए कि यह संसार क्षणिक एवं दुखमय है। इस जगत में स्थायी रहने

के लिए कोई कितना ही प्रयास करे, किन्तु अन्त में उसे जाना ही होता है। जब तक मनुष्य यहाँ पर रहता है, उसे कष्ट की असलियत का शिकार होना ही पड़ता है। आत्मा तो अनादि काल से आता जाता रहा है। किन्तु भगवान् के भक्त, इस जगत में न केवल सुखपूर्वक रहते हैं, अपितु इसे छोड़ने के बाद वे भगवान् के नित्य आनन्दमय धाम में प्रवेश करते हैं। *भगवद्गीता* में (८.१५) भगवान् कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

"मुझे प्राप्त करने के बाद महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, कभी भी दुखों से पूर्ण इस अनित्य जगत में नहीं लौटते, क्योंकि वे परम सिद्धि प्राप्त कर चुके होते हैं" उपर्युक्त श्लोक के अनुसार भक्तगण उच्चतम सिद्धि प्राप्त करते हैं, अर्थात् वे भगवान् के नित्य पार्षदों की पंक्ति में सम्मिलित होते हैं। योगी की अष्ट-सिद्धि भक्त की परासिद्धि जैसी नहीं है। योग द्वारा प्राप्त सिद्धियाँ भौतिक तथा नश्वर होती हैं, किन्तु भगवद्भक्ति परम सिद्धि लाती है जो दिव्य तथा शाश्वत है। भगवान् इस असीम भौतिक ब्रह्माण्ड में, जो उन्हीं के द्वारा सृजित है, लगातार अपनी नित्यनूतन दिव्य लीलाएँ प्रकट करते हैं। ये लीलाएँ *भौमलीला* कहलाती हैं और अनन्त काल से होती आ रही हैं। सूर्य एक ही स्थान पर रहता है फिर भी पृथ्वी में कहीं पर लोग सूर्य को उदय होते देखते हैं तो कहीं पर अस्त होते। यह उदय और अस्त सृष्टि के प्रारम्भ से चलता रहा है। इसी तरह यद्यपि कृष्ण अपने शाश्वत धाम गोलोक में सदा से वास करते आ रहे हैं, किन्तु वे इस विराट सृष्टि के अनन्त ब्रह्माण्डों में प्रतिक्षण अपनी दिव्य लीलाएँ प्रकट करते रहते हैं। जिस तरह यह सोचना भूल है

कि सूर्य उदय और अस्त होता है उसी तरह यह सोचना निपट भ्रान्ति है कि भगवान् कृष्ण अमुक तिथि को उत्पन्न हुए और अमुक तिथि को उनकी हत्या कर दी गई। भगवान् का जन्म तथा उनके कार्यकलाप दिव्य तथा चमत्कारिक हैं। जो इस गुह्य सत्य को जान लेते हैं वे सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करते हैं। *भगवद्गीता* में (४.९) भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

जब कृष्ण अपनी पार्थिव लीलाएँ प्रकट करना चाहते हैं तो वे अपने नित्य माता-पिता देवकी तथा श्री वसुदेव से जन्म लेते हैं और बाद में अपने पोष्य माता पिता यशोदा तथा नन्द महाराज द्वारा लालित-पालित होते हैं। वे सन्त पुरुष जो भगवान् के नित्य माता पिता के चरणचिन्हों पर चल कर उनकी भक्ति करते हैं वे भगवान् के पार्षदों के रूप में उच्च पद को प्राप्त करने के बाद भगवान् के सर्वोच्च भक्तिरस का आस्वादन करते हैं।

भगवान् कृष्ण अपने घनिष्ठ मित्र तथा नित्यसंगी अर्जुन के साथ असंख्य ब्रह्माण्डों में अपनी पार्थिव लीलाएँ प्रकट करते हैं। इसका स्पष्टीकरण *भगवद्गीता* में (४.५-६) भगवान् द्वारा हुआ है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

"तुम्हारे तथा मेरे अनेकानेक जन्म हो चुके हैं। मुझे तो उन सबका स्मरण है किन्तु हे परंतप! तुम्हें उनका स्मरण नहीं हो सकता है। यद्यपि मैं अजन्मा हूँ तथा मेरा दिव्य शरीर अविनाशी है और यद्यपि मैं समस्त जीवों का स्वामी हूँ तो भी मैं प्रत्येक युग में अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होता हूँ।"

जहाँ तक उन अभागे लोगों की बात है जो भगवान् की नित्य लीलाओं में प्रवेश करने के परम लक्ष्य के लिए प्रयत्नशील नहीं रहते वरन् कर्म, ज्ञान तथा योग की संसारी बातों के प्रति आकृष्ट होते हैं जो अन्ततः उन्हें स्वर्गलोक ले जाने वाली हैं, ऐसे लोगों को इस भौतिक जगत में पुनः जन्म धारण करना पड़ता है। भले ही वे इस विराट जगत में उच्चस्तर तक पहुँच लें, किन्तु उन्हें नीचे आना होगा जिस तरह घूमने वाले विशाल चक्र पर सवार व्यक्ति को। भगवान् कृष्ण ने इसका वर्णन *भगवद्गीता* में (८.१६) किया है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

"इस जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम सारे लोक दुखों के घर हैं जहाँ जन्म तथा मरण का चक्कर लगा रहता है। किन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है वह फिर कभी जन्म नहीं लेता।"

इस जगत में उच्चतर लोक हैं भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक,

जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक या ब्रह्मलोका मनुष्य अगले जन्म में इनमें से चाहे किसी भी लोक तक पहुँच जाए, उसे अन्त में पृथ्वी पर लौटना पड़ता ही है। अगले जन्म की बात ही क्या, इसी जीवन में ही कठिन श्रम के बाद प्राप्त उच्चपद—यथा राजा, सम्राट, मंत्री, गवर्नर, या राष्ट्रपति पद—कुछ काल के बाद हाथ से निकल जाता है और मनुष्य किसी निम्नस्तर पर फेंक दिया जाता है। जिन नेताओं ने इस प्रकार का मान-मर्दन (तिरस्कार) अनुभव किया है वे ही जान सकते हैं कि इसके साथ कितना संक्षोभ होता है। किन्तु यदि *गीता* में वर्णित नितान्त मूर्ख दुष्ट लोग जीवन की किसी अवस्था में भी कृष्ण की भक्ति करने का निर्णय करते हैं तो वे कर्म के विशाल चक्र से बच सकते हैं। इस चक्र में कोई कभी स्वर्ग जाता है तो कभी नर्क, कभी राजा के रूप में जन्म लेता है तो कभी दास रूप में, कभी कोई ब्राह्मण बनता है तो कभी शूद्र और यह चक्र चलता रहता है। किन्तु एक बार भगवान् के आध्यात्मिक धाम में प्रविष्ट करने पर मनुष्य अपनी आदि वैधानिक स्थिति में अपना नित्य जीवन शुरू करता है।

जो व्यक्ति भौतिक शरीर तथा मन में लिप्त रहता है उसे कर्म के प्रभाव से जन्म-जन्मान्तर शरीर बदलने पड़ते हैं। इस तरह आत्मा इस भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर चौदहों लोकों में भ्रमण करता है, कभी ऊपर तो कभी नीचे। ये लोक नश्वर हैं—ऐसे मंच जिन पर आत्मा अपने संसारी जीवन का अभिनय करता है। किन्तु जब जीव को आध्यात्मिक सिद्धि मिल जाती है और वह अपनी शुद्ध नित्य पहचान में स्थित होता है, जो समस्त संसारी उपाधियों से रहित है, तो वह इस भौतिक सृष्टि तथा अव्यक्त ब्रह्म तेज के बीच के क्षेत्र को लाँघ कर आत्मा के प्राकृतिक वासस्थान को प्राप्त होता

है।

पृथ्वी, जल, वायु अग्नि आदि से निर्मित यह भौतिक शरीर मर्त्य है। इसी तरह यह भौतिक ब्रह्माण्ड भी नश्वर है, क्योंकि यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि का मिश्रण है। किन्तु आत्मा (जिसकी प्रतिकृति असंख्य प्रयासों के बावजूद, आज तक प्रयोगशाला में नहीं बनाई जा सकी है) उसी तरह अविनाशी है जिस तरह इसका प्राकृतिक नित्य धाम, भगवद्धाम है। जिस विधि से आत्मा अपने नित्य धाम जाता है वह सनातन धर्म कहलाती है।

कपिल जैसे ज्ञानी नास्तिक दार्शनिकों ने इस विराट सृष्टि के विषय में शोध करते हुए अथक परिश्रम किया है। फिर भी वे अपनी सीमित बुद्धि से जान नहीं पाये कि इस व्यक्त भौतिक जगत से कई गुना श्रेष्ठ दिव्य जगत का अस्तित्व है। अन्त में जब उन्हें कल्पना सागर में कोई भूखण्ड नहीं दिखा तो वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि परम सत्य अव्यक्त है।

अन्य जीवयोनियों की तुलना में मनुष्यों को निश्चित रूप से उत्तम बुद्धि मिली हुई है; फिर भी जब तक वे भगवद्भक्त नहीं होते उनका सारा चिन्तन संसारी सीमाओं के भीतर संकुचित रहता है। अतएव संसारी मस्तिष्क के लिए ब्रह्म तक पहुँच पाना असम्भव है। ज्ञानी दार्शनिक भगवान् या उनके प्रतिनिधि की शरण ग्रहण न करके इसे अव्यक्त बताने का प्रयास करते हैं, क्योंकि यह उनके भौतिक मस्तिष्क की पहुंच से परे है। यह कूपमंडूक तर्क कहलाता है।

तुच्छ जीव कितना ही बड़ा चिन्तक क्यों न हो, उसके सारे कार्य-कलाप संसारी सीमाओं द्वारा सीमित होते हैं जिस तरह कुएँ के भीतर एक मेढ़क यह नहीं समझ सकता कि उसकी सीमा के परे सागर जैसी कोई वस्तु विद्यमान है। वह यह मानने से इनकार

कर देता है कि उसके क्षुद्र गड्ढे से भी बड़ी कोई जलराशि हो सकती है। इसी तरह हम अपने शरीर तथा मन रूपी अंधकारपूर्ण कुएँ में बन्दी हैं। भले ही हम अपनी सीमाओं पर विजय पाने के लिए योग या ज्ञान द्वारा प्रयास करें, भले ही हम कितने ही बड़े पंडित क्यों न हों, स्वनिर्मित कुएँ की सीमाओं से बाहर निकल पाना हमारे लिए असम्भव है।

तो हमारे लिए विशाल समुद्र का समाचार कौन ला सकता है? क्या इसका कोई रिकार्ड है कि हम इस संसार रूपी कुएँ के जल में कितने समय से तैरते रहने का संघर्ष कर रहे हैं, कभी हम उच्चतर लोकों को जाते रहे हैं तो कभी नीचे आते रहे हैं? एकमात्र भगवान् या उनका शक्त्याविष्ट प्रतिनिधि ही हमें इस अंधकूप रूपी बन्दीगृह से छुड़ा सकता है। उनके मार्गदर्शन में हम आध्यात्मिक आकाश रूपी असीम सागर के विषय में जान सकते हैं। उच्च अधिकारियों से सुनने की यह विधि ज्ञान की अवरोही विधि कहलाती है। दिव्य ज्ञान सीखने की यही एकमात्र वैध विधि है। एकमात्र इसी विधि से सनातन सत्य का सम्प्रेषण होता है।

और इस विधि से हम क्या सीख पाते हैं? भगवान् कृष्ण ने आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का वर्णन *भगवद्गीता* में (८.१७-२०) इस प्रकार किया है—

'मानवीय गणना के अनुसार एक हजार युग मिला कर ब्रह्मा का एक दिन बनता है और इतनी ही बड़ी अवधि ब्रह्मा की रात्रि भी होती है। ब्रह्मा के दिन के शुभारम्भ में सारे जीव अव्यक्त अवस्था से व्यक्त हो जाते हैं और रात्रि आने पर पुनः अव्यक्त में मिल जाते हैं। जब ब्रह्मा का दिन आता है तब सारे जीव प्रकट होते है और ब्रह्मा की रात्रि होते ही वे असहायवत् अव्यक्त हो जाते

हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य अव्यक्त प्रकृति है जो शाश्वत है और इस व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थ से परे है। यह प्रकृति परा (श्रेष्ठ) है और कभी नाश न होने वाली है। जब इस संसार का लय हो जाता है तब भी उसका नाश नहीं होता।''

लोग जब यह सुनते हैं कि ब्रह्मलोक की आयु कई लाख वर्ष है तो वे आश्चर्यचकित रह जाते हैं। ब्रह्मलोक पहुँचने के लिए संन्यास धारण करके अनेक तपस्याएँ तथा त्याग करने होते हैं। लेकिन हमें इस आवश्यक तथ्य पर विचार करना चाहिए कि उस लोक के अधिष्ठाता देव ब्रह्मा भी अमर नहीं हैं। वैदिक शास्त्रों के खोजी ही ब्रह्मा की आयु की गणना कर सकते हैं। मनुष्यों के एक वर्ष में ३६५ दिन होते हैं और चार युगों के एक चक्र में ऐसे लगभग ४३,२०,००० वर्ष होते हैं। चार युगों तक ऐसे एक हजार चक्र ब्रह्मा की आयु के एक दिन (१२ घंटे) के तुल्य हैं। इस तरह ब्रह्मा के मास तथा वर्ष की गणना की जा सकती है। ब्रह्मा अपने समय के एक सौ वर्षों तक जीवित रहते हैं। किन्तु इतनी दीर्घ आयु—३१ खरब १४ अरब वर्ष—होते हुए भी ब्रह्मा मर्त्य जीव हैं और उनके द्वारा रचा गया यह संसार भी नश्वर है। इसलिए यह कोई विचित्र बात नहीं कि मनुष्य भी, जो कि उनकी सृष्टि हैं, मरणशील हों। जिस तरह एक क्षुद्र कीड़े की दृष्टि में मनुष्य अमर लगते हैं उसी तरह ब्रह्मा तथा अन्य देवता हमें अमर लगते हैं। किन्तु तथ्य तो यह है कि किसी रूप में भी भौतिक शरीर शाश्वत नहीं होता।

ब्रह्मा का दिन समाप्त होने पर जब रात आती है तो देवताओं के धाम स्वर्गलोक समेत, यह ब्रह्माण्ड आंशिक प्रलय की बाढ़ से आप्लावित हो जाता है। इस जगत के सारे प्राणी ब्रह्मा के दिन के प्रभातकाल में उत्पन्न होते हैं और सन्ध्या समय नष्ट हो जाते हैं।

यह सृजन तथा संहार सतत चक्र के रूप में चलता रहता है।

परमेश्वर सदैव नित्य वैकुण्ठ लोकों में निवास करते हैं

यह भौतिक सृष्टि ब्रह्मा के दिन के समय प्रकट होती है तथा रात के समय विलीन हो जाती है। लेकिन इस भौतिक जगत के परे नित्य जगत—आध्यात्मिक आकाश—है जो सृष्टि तथा संहार से अछूता रहता है। यह आध्यात्मिक धाम वैकुण्ठ लोक कहलाता है। जब यह भौतिक सृष्टि तक विनष्ट हो जाती है तो वैकुण्ठ लोक अछूता रहता है और जैसे का तैसा बना रहता है। यदि कोई एक बार इन लोकों में प्रवेश करता है तो वह पुनः जन्म-मृत्यु की पुनरावृत्ति नहीं करता जो पार्थिव व्यक्तियों के लिए अनिवार्य है। जहाँ भौतिक जगत भौतिक आकाश द्वारा आच्छादित है वहीं आध्यात्मिक लोक आध्यात्मिक आकाश में, जिसे परव्योम कहते हैं, लटके हुए हैं। परव्योम के अन्तर्गत सारे लोक दिव्य धाम हैं, जहाँ भगवान् अपनी लीलाएँ शाश्वत रूप से करते रहते हैं।

इसके पूर्व हम बता चुके हैं कि परमेश्वर की दो मुख्य शक्तियाँ होती हैं—भौतिक शक्ति तथा आध्यात्मिक शक्ति। वैकुण्ठलोक भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति के प्रतिफल हैं। जीवों का सम्बन्ध इसी आध्यात्मिक शक्ति से हैं, किन्तु क्योंकि वे आध्यात्मिक जगत में या भौतिक जगत में ही निवास कर सकते हैं इसलिए मूलतः आध्यात्मिक होने पर भी वे तटस्था शक्ति कहलाते हैं।

वैकुण्ठलोक भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है जबकि भौतिक जगत उनकी बहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति है। चूँकि परमेश्वर समस्त शक्तियों के स्वामी हैं, अतः यह निर्विवाद तथ्य है कि वे आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों जगतों के पूर्ण नियन्त्रक हैं। यहाँ

पर मिट्टी का पात्र उपयुक्त दृष्टान्त होगा—मिट्टी के पात्र को बनाने के लिए मिट्टी, चाक तथा कुम्हार की आवश्यकता पड़ती है। मिट्टी पात्र का भौतिक या अवयव कारण है, चाक सक्षम और साधक कारण है और कुम्हार मूल कारण है। इसी तरह भौतिक शक्ति इस विराट जगत का अवयव तथा दक्ष दोनों कारण हैं। भगवान् कृष्ण प्रमुख कारण हैं। भौतिक शक्ति छाया की भाँति परमेश्वर के आदेशानुसार ही कार्य करती है। *भगवद्गीता* में (९.१०) भगवान् बतलाते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरी शक्तियों में से एक है और मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है जिससे सारे चर तथा अचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। उसके अधीन यह जगत् बारम्बार सृजित और विनष्ट होता रहता है।"

दुख की बात यह है कि यद्यपि कृष्ण *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में अपने विषय में सत्य का उद्घाटन करते हैं, किन्तु अभागी जनता उन्हें परमेश्वर नहीं मान सकती। विशेषतया निर्विशेषवादी दार्शनिक जो धर्मध्वज होने का दावा करते हैं भगवान् को सामान्य मर्त्य प्राणी बना देते हैं और इस तरह घोर पाप कमाते हैं। ऐसे नास्तिक अपराधी कभी भी अपनी योग्यता के बल पर ईश्वर के विषय तक नहीं पहुँच पाते। भगवान् तथा उनके शरणागत सेवकों ने अनेक प्रकार से परब्रह्म विषयक ज्ञान को स्पष्ट किया है और संप्रेषण किया है किन्तु जो लोग परमेश्वर तथा उनके भक्तों का अनादर करते हैं वे कभी भी ऐसे विषयों को समझ नहीं पाते। जैसा कि श्री प्रह्लाद महाराज ने *श्रीमद्भागवत* में (७.५.३०-३१) कहा

है—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्त गोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥
न ते विदुःस्वार्थ गतिं हि विष्णुं
दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमानास्
तेऽपीशतन्त्र्याम् उरुदाम्नि बद्धाः॥

"अपनी असंयमित इन्द्रियों के कारण जो लोग भौतिकतावादी जीवन के प्रति अत्यधिक लिप्त रहते हैं वे नरकगामी परिस्थितियों का सृजन करते हैं और चबाये हुए को ही बारम्बार चबाते रहते हैं। ऐसे लोगों का कृष्ण के प्रति झुकाव न तो अन्यों के उपदेशों से, न अपने निजी प्रयासों से, न दोनों को मिलाकर ही होता है। जो लोग भौतिक जीवन के भोग की भावना द्वारा दृढ़ता से बँधे हैं और जिन्होंने अपने ही समान बाह्य इन्द्रियविषयों से आसक्त किसी अन्धे व्यक्ति को अपना नेता या गुरु स्वीकार कर रखा है वे यह नहीं समझ सकते कि जीवन का लक्ष्य भगवद्धाम को वापस जाना तथा भगवान् विष्णु की सेवा में लगना है। जिस प्रकार किसी अन्धे व्यक्ति द्वारा ले जाए गए दूसरे अन्धे व्यक्ति सही मार्ग भूल सकते हैं और गड्ढे में गिर सकते हैं उसी प्रकार भौतिकता से आसक्त व्यक्ति अपने ही जैसे भौतिकता से आसक्त अन्य व्यक्ति के समान सकाम परिश्रम की रस्सियों द्वारा बँधे रहते हैं जो अत्यन्त मजबूत धागों से बनी होती हैं और ऐसे लोग तीनों प्रकार के कष्ट सहते हुए पुनः पुनः

भौतिक जीवन को प्राप्त होते हैं।"

भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार के व्यक्ति का वर्णन भी *भगवद्गीता* में (९.११) किया है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

"जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा मजाक उड़ाते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।"

क्षुद्र मनुष्य तो बर्तन, कड़ाही तथा फैक्ट्री जैसी नगण्य वस्तुएं ही तैयार कर सकता है। इसलिए जब अभी बहुत साल नहीं हुए, मथुरा में एक ऐसा व्यक्ति उत्पन्न हुआ जो मनुष्य-जैसा दिखता था और जिसका परिचय सम्पूर्ण जगत् के नियन्ता, सभी गुणों से युक्त, सब के स्वामी के रूप में कराया गया तो कोई कितने ही स्पष्ट शब्द में क्यों न बताए सामान्य लोग अपनी क्षुद्र बुद्धि के कारण उसे आत्मसात् नहीं कर पाते। इस तरह वे एकेश्वरवादी, निर्विशेष दर्शन को अंगीकार करते हैं। वे "कृष्ण ही एकमात्र ईश्वर हैं" इससे इनकार करके इस बात पर बल देते हैं कि वे भी "ईश्वर" हैं। इस तरह वे अपने बारे में तथा ईश्वर के बारे में नितान्त मूर्खतापूर्ण विचारों को अंगीकार करते हैं और समस्त शिष्टाचार तथा दार्शनिक निर्णयों की अवहेलना करके ईश्वर से होड़ लगाते हैं।

पाश्चात्य आध्यात्मिक जन प्रायः इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐसे नास्तिक लोगों पर शैतान सवार रहता है। प्राचीन काल में ऐसे अनेक शैतानों—रावण, हिरण्यकशिपु, जरासन्ध, कंस—ने भगवान् की सत्ता को चुनौती दी थी। आधुनिक काल में उनकी संख्या बढ़ती जा रही है। इन असुरों ने श्रीचैतन्य महाप्रभु तक को "शची मौसी

का पुत्र'' जैसे नाम देकर अपमानित किया है।

विचार करने की बात यह है कि वास्तव में कोई भी ईश्वर की बराबरी नहीं कर सकता। परमेश्वर अद्वय हैं। *चैतन्य चरितामृत* में कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—एकमात्र कृष्ण ही भगवान् हैं और अन्य सारे लोग उनके दास हैं। जिन लोगों को जीवन में भाग्य ने दुलत्ती लगाई है, और जिन्होंने पेट भर पाने के लिए तथा सिर पर छत का सहारा पाने के लिए कठोर परिश्रम किया है, वे ही परम नियन्ता सर्वशक्तिमान से होड़ लेने की असंगत इच्छा पाल सकते हैं। यह हास्यास्पद लगता है। वे इस तरह की इच्छाओं को पालने का दुःसाहस इसलिए करते हैं, क्योंकि वे भगवान् के चरम, दिव्य पद से पूरी तरह अनभिज्ञ रहते हैं। तो भी परमेश्वर इतने दयालु हैं कि वे अनेक युक्तियों के द्वारा अपने दिव्य परम पद के विषय में इन मूर्खों को शिक्षा देने का प्रयास करते हैं। भगवान् के विश्वस्त सेवक भी अनेक विपदाएँ एवं कष्ट सहते हुए प्रत्येक सम्भव उपाय से इन लोगों का भूत उतारने का प्रयत्न करते रहते हैं जो नास्तिकता के असुर के वश में हैं।

तत्पश्चात् बारी आती है उन तथाकथित विद्वानों की जो यह दावा करते हैं कि वे ही शास्त्रों को जानते हैं और अन्य सारे लोग अशिक्षित मूर्ख हैं। ऐसे ''विद्वान'' कहते हैं कि पवित्र ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि कारणोदकशायी विष्णु इस भौतिक सृष्टि के कारण हैं और वसुदेव तथा देवकी पुत्र भगवान् कृष्ण यदि कुछ हो सकते हैं तो विष्णु के अंशमात्र। इस तरह हम देखते हैं कि कभी कभी बुद्धिमान व्यक्ति भी माया के द्वारा मोहित हो जाते हैं और आसुरी विचारों का समर्थन करते हैं। भला ऐसे मोहग्रस्त व्यक्तियों के लिए यह किस तरह सम्भव है कि वे यह स्वीकार

करें कि कृष्ण भगवान् हैं और समस्त कारणों के कारण हैं?

यदि इस विषय में हम श्रुति तथा स्मृति ग्रन्थों को देखें तो हमें ऐसे अनेक संदर्भ मिलेंगे जो यह सिद्ध करने वाले हैं कि भगवान् गोविन्द या कृष्ण ही कारणोदकशायी विष्णु के उद्गम हैं न कि विष्णु कृष्ण के। उदाहरणार्थ, *ब्रह्म संहिता* में (५.४७) कहा गया है—

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-
निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः ।
आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने विराट कर्ता रूप को धारण करके, शेष नाम धारण करने वाले, समस्त शक्तियों से परिपूर्ण और कारणार्णव में विश्राम करने वाले हैं तथा जिनके रोमकूपों से असंख्य जगत निकलते हैं और जो योगनिद्रा का आनन्द ले रहे हैं।''

बाइबल का कथन है, ''ईश्वर ने अपनी ही छाया के प्रतिरूप मनुष्य को उत्पन्न किया।'' इस कथन के अनुसार मनुष्य के दो हाथ हैं, क्योंकि मनुष्य का रूप ईश्वर जैसा है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर मनुष्य है, क्योंकि भगवान् के दो हाथ हैं। भगवान् कृष्ण के पद को घटा कर बताना इसलिए जघन्य अपराध है, क्योंकि वे मनुष्य रूप में प्रकट हुए। उनकी दैवी शक्ति तथा उनके परमपद के विषय में असलियत को स्वरूपसिद्ध गुरु, सन्तों तथा शास्त्रों से जानना चाहिए।

आसुरी पुरुष मानव जीवन के असली उद्देश्य को नहीं समझ

पाते। उल्टे, वे भगवान् कृष्ण के परम पद को छोटा करके बताने में सदैव तत्पर रहते हैं। ऐसे नास्तिक भले ही उच्च आकांक्षाओं वाले हों, भले ही वे बड़े बड़े सद्कार्य करें, किन्तु, चूँकि उनकी आकांक्षाएँ तथा कार्य भगवान् कृष्ण के प्रेमपूर्ण सम्बन्ध से विच्छिन्न रहते हैं इसलिए वे सब व्यर्थ होते हैं। रावण सीढ़ी बनाकर स्वर्ग पहुँचना चाहता था, किन्तु वह असफल रहा। समस्त नास्तिकों की आकांक्षाओं का यही परिणाम होता है। एक के बाद शून्य लगाने पर दस की संख्या बनती है और दूसरा शून्य लगाने पर सौ। इसी तरह आगे भी बड़ी संख्या बनती जाती है। जब तक एक का अंक रहता है तब तक शून्यों की संख्या बढ़ने से मान बढ़ता जाता है, लेकिन एक के अंक के बिना कितने ही शून्य क्यों न हों वे मूल्यहीन हैं। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति जीवन भर भौतिक सम्पत्ति, यश तथा विद्यारूपी शून्यों की संख्या बढ़ाता रहता है और कृष्ण रूपी "एक" के अंक से कोई सम्बन्ध नहीं रखता तो उसका पूरा जीवन व्यर्थ है। *भगवद्गीता* में (९.१२) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

"जो लोग इस प्रकार मोहग्रस्त होते हैं, वे आसुरी तथा नास्तिक विचारों के प्रति आकृष्ट रहते हैं। इस मोहमय अवस्था में उनके सकाम कर्म तथा उनके ज्ञान का अनुशीलन सभी निष्फल हो जाते हैं।"

भले ही कोई व्यक्ति अपने को भगवान् कृष्ण का भक्त कहे, किन्तु यदि वह कृष्ण को मनुष्य मानता है या यह सोचता है कि उन्होंने मनुष्य से शुरुआत की और तब ईश्वर बन गये (जैसाकि आजकल अनेक "अवतारों" की झड़ी लगाने का फैशन हो गया

है) तो ऐसा व्यक्ति भक्त नहीं, अपितु ठग है। प्रायः मनुष्य की अद्वैतवादी तथा छद्म भक्तों से भेंट होती है जो भगवान् कृष्ण के भक्त का दिखावा करते हैं, किन्तु बाद में वे कृष्ण के पद को हड़प जाना चाहते हैं। कृष्ण के प्रति ऐसी विश्वासघाती इच्छाओं से युक्त लोग पूर्णतया मोहग्रस्त होते हैं। यदि सकामकर्मी यह सोचता है कि भगवान् कृष्ण सामान्य मर्त्य हैं तो उसे अपने सकाम कर्म का लक्ष्य प्राप्त नहीं होता जो कि स्वर्ग लोक को जाना है। यदि कोई सगुणवादी ज्ञानी हुआ तब उसे अपने ज्ञान की खोज का लक्ष्य अर्थात् भौतिक गुणों से मुक्ति नहीं मिल पाती।

स्वरूपसिद्ध सन्तों के पद-चिन्हों का अनुसरण

नास्तिकों में क्रमशः आसुरी स्वभाव आ जाता है और वे इस संसार में भिखारियों की तरह नाम, यश, सम्पत्ति आदि का पीछा करते हुए रहते हैं। माया द्वारा निरन्तर ठगे जाने से वे व्यर्थ का जीवन बिताते हैं। दूसरी ओर, जो लोग सचमुच भगवान् की सेवा करने में लगे रहते हैं उन पर ऐसी आसुरी मनोवृत्ति कभी हावी नहीं होती। ये महान आत्माएँ "महात्मा" का बिल्ला नहीं लगातीं। जो शैतान के मार्ग पर चलता है और भगवान् को ललकारता है वह भले ही लोगों को यह सोचने पर विवश करा कर मूर्ख बना ले कि वह महात्मा है, किन्तु असली महात्मा के गुण तो *भगवद्गीता* में (९.१३) पाये जाते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

"हे पार्थ! मोहमुक्त महात्मा दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतः भक्ति में निमग्न रहते हैं क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी

भगवान् के रूप में जानते हैं।''

असली महात्माजन अपने मनों को इन्द्रियतृप्ति तथा भौतिक इच्छाओं के द्वारा पथभ्रष्ट नहीं करते, अपितु एकाग्र संकल्प से वे भगवान् की भक्ति में लगते हैं। चूँकि वे दैवी शक्ति के संरक्षण में होते हैं, अतः वे यह समझते हैं कि भगवान् कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं। केवल ऐसे लोग ही संत-गुणों को धारण किए रहते हैं, भगवान् कृष्ण के भक्तगण असाधारण व्यक्ति होते हैं, क्योंकि उनमें सदा ऐसे अद्वितीय गुण भरे रहते हैं जो देवताओं तक में भी नहीं पाये जाते। इस जगत में शान्ति का युग लाने के लिए ऐसे महात्माओं की उपस्थिति अत्यावश्यक है।

हाल ही में नई दिल्ली में हुई एक चिकित्सा-गोष्ठी में हमारे माननीय प्रधान मंत्री ने अपने भाषण में निम्नलिखित बात कही है-

''हम जन-स्वास्थ्य, सफाई तथा सभी प्रकार के निरोधक उपायों को अपनाते हैं। हम यह प्रतीक्षा नहीं करते कि लोग बीमार हों तो उनका उपचार हो। तो फिर इस सिद्धान्त को बृहत्तर क्षेत्र में क्यों न लागू करके सामाजिक रोगों को रोका जाय जिन्हें यदि बिना उपचार के छोड़ दिया जाता है तो बाद में हमें अधिक कठिन रूप में इनका सामना करना होगा? इसलिए जब आप जैसे बुद्धिमान लोग एकत्र होते हैं तो आप कदाचित् मानवता की बुराइयों और रोगों पर एकसाथ विचार कर सकते हैं जो अनेक झगड़ों तथा कष्टों को जन्म देते हैं और मानव प्रगति को रोकते हैं।''

वस्तुतः संसार में जितनी भी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं वे मन द्वारा उत्पन्न होती हैं। पंडितों ने शास्त्रों की पूरी तरह छानबीन की है और इस विषय में अनेक विचार-विमर्श किये हैं। यदि हम राजा अम्बरीष की प्रजा द्वारा स्थापित मानदण्डों का पालन करें, जिसने

उनके मार्गदर्शन में अपने मन को भगवान् कृष्ण के चरणारविन्दों पर एकाग्र किया तो मन की सारी बुराइयाँ दूर की जा सकती हैं। अन्य किसी विधि से हमें ऐसे भाग्य का सामना करना पड़ेगा जिसका वर्णन प्रह्लाद महाराज ने *श्रीमद्भागवत* में (५.१८-१२) किया है—*हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः मनोरथेनासति धावतो बहिः*। ''...भक्ति से विहीन तथा भौतिक कार्यों में व्यस्त व्यक्ति में सद्गुण नहीं होते। उसे योगाभ्यास में या अपने परिवार तथा सम्बन्धियों का पालन करने के सत्प्रयास में दक्ष होते हुए भी अपने भौतिक चिन्तन के अनुसार हाँका जाना पड़ता है तथा भगवान् की बहिरंगा शक्ति की सेवा में लगना पड़ता है। भला ऐसे मनुष्य में सद्गुण कैसे आ सकते हैं?''

इस मनोरोग को दूर करने का एकमात्र उपाय है—कृष्ण के पवित्र नामों का कीर्तन करने के श्रीचैतन्य के आदेश का प्राणपण से पालन करना। इससे हृदय का सारा मल धुल जाएगा। जब तक इस गुह्य सत्य का व्यापक प्रसार नहीं किया जाता तब तक विश्व उस रामबाण औषधि से वंचित रह जाएगा जो समस्त मनोरोगों को ठीक करती है। हमारे माननीय प्रधानमंत्री को इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। यदि भगवान् कृष्ण के भक्तों की संख्या थोड़ी सी भी बढ़ती है तो संसार में शान्ति तथा सम्पन्नता का तुरन्त पुनरुत्थान हो जाएगा। देवता की भव्य ऊँचाई तक उठने के लिए मनुष्य को अपने सुप्त कृष्णभावनामृत को पुनरुज्जीवित करने की जरूरत है। इस तरह कृष्णभावनामृत मानवता के लिए सबसे बड़ा वरदान है।

महात्माओं में अन्य अद्भुत गुण होते हैं जिनमें से कुछ का वर्णन भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में (९.१४) किया है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

"ये महात्मा मेरी महिमा का नित्य कीर्तन करते हुए, दृढ़ संकल्प के साथ प्रयास करते हुए, मेरे समक्ष नत-मस्तक होकर, भक्तिभाव से निरन्तर मेरी पूजा करते हैं।"

इस श्लोक से कुछ संकेत मिलते हैं कि भगवान् कृष्ण का भक्त कैसे बना जाय। *सततम्* शब्द का प्रयोग यह सूचित करने के लिए किया गया है कि अपनी चेतना को शुद्ध करने की विधि कर्म, ज्ञान, योग या काल, देश अथवा परिस्थिति पर निर्भर नहीं करती।

जीव जैसे ही स्वीकार कर लेता है कि वह भगवान् कृष्ण का नित्य दास है तो वह समस्त कष्टों से छुटकारा पा लेता है। ऐसे भगवत्-दास को न तो कर्म करने की, न ज्ञान के अनुशीलन की आवश्यकता पड़ती है, न ही उसे किसी और शुद्धि-विधि से गुजरना पड़ता है। आवश्यकता है तो केवल भगवान् की भक्ति के लिए उत्कट अभिलाषा की।

कृष्ण को प्राप्त करने का एकमात्र साधन उसके लिए उत्कट अभिलाषा है। इसी तरह अविचल गहन भक्ति अन्य लक्षण है महात्मा का। ये महात्मा भक्ति के नवो अंगों को सम्पन्न करते हैं जिनमें श्रवण, कीर्तन एवं नाम, रूप, गुण, लीलाएँ तथा साज-सामान का स्मरण आदि आते हैं। ऐसी भक्ति देश, काल या परिस्थिति जैसी किसी संसारी सोच-विचार से परे है। महात्मागण सदैव भगवान् की प्रेमाभक्ति करने के लिए उत्सुक रहते हैं। वे अपनी हर वस्तु—जीवन, शक्ति, शब्द, बुद्धि, शरीर, समाज—कृष्ण की सेवा में बिना थके समर्पित कर देते हैं।

भक्ति करने के लिए महात्मा को जो महान परिश्रम करना पड़ता है वह सामान्य व्यक्ति द्वारा अपने परिवार तथा घरबार का पालन करने के लिए स्वेच्छा से स्वीकार किये जाने वाले कष्टों से कहीं अधिक होता है। परिवार तथा सम्बन्धियों का पालन करने के लिए जो संघर्ष किया जाता है वह माया है, अतः यह सचमुच ही कष्टप्रद है। इसके विपरीत परमेश्वर की सेवा करने में जिन कठिनाइयों को स्वीकार करना होता है वे दिव्य हैं, अतएव उदात्त आनन्द के स्रोत हैं। यही नहीं, जो व्यक्ति परमेश्वर की सेवा करता है वह स्वतः अपने परिवार की भी सेवा करता है। किन्तु इसका विलोम सही नहीं है—परिवार की सेवा करना भगवान् की सेवा करने के तुल्य नहीं है। सारे महात्मा इस बात पर एकमत हैं। जो व्यक्ति भगवान् की सेवा करता है वह न केवल अपने सम्बन्धियों की सेवा करता है अपितु वह समस्त चराचर जगत की भी सेवा करता है। इस तरह भगवान् कृष्ण की सेवा विश्वशान्ति तथा एकता का मूल कारण है।

महात्मागण भगवान् की ऐसी सेवा बहुत ही संकल्प के साथ करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने एक बार अपने भाषण में यह टिप्पणी की थी—

"नवदीक्षित वैष्णव भक्त जो परमेश्वर के अर्चाविग्रह की पूजा के समय एक बार भी घंटी बजाते हैं, वह धर्मार्थी सकाम कर्मियों द्वारा अनेक अस्पताल बनवाने, हजारों गरीबों को भोजन देने या घर बनाने या ज्ञानियों के वैदिक अध्ययन, ध्यान, तपस्या से आध्यात्मिक दृष्टि-कोण से लाखों गुना अधिक मूल्यवान है।"

महात्माओं ने दान का सही मार्ग—भगवद्भक्ति—दिखलाया है। यदि कोई इस मार्ग की उपेक्षा करता है और अस्पताल बनवाता

है तो मानवता की सहायता करने का उसका प्रयास बहाना मात्र है। मानवता ऐसे कार्यों से कोई स्थायी लाभ नहीं पा सकती। निस्सन्देह अस्पतालों की संख्या में वृद्धि के साथ साथ रोगियों की संख्या भी बढ़ती है। जहाँ तक गरीबों को भोजन देने की बात है, इससे गरीबी का उन्मूलन कभी नहीं होना है अपितु इससे उसे प्रोत्साहन ही मिलेगा। साफ बात यह है कि हम अस्पताल खोलने या गरीबों को भोजन देने या अन्य किसी मानवतावादी सेवा के विरुद्ध नहीं हैं। लेकिन हमने अपने प्रिय गुरु से यह सीखा है कि जब भगवद्भक्ति की उपेक्षा की जाती है तो अन्य कोई भी कार्य व्यर्थ और मोहजन्य होता है। सच्ची भक्ति के बिना अस्पताल खोलना तथा कृष्ण के नाम पर गरीबों को भोजन देना भी व्यर्थ है। ऐसे आध्यात्मिक समूह जो श्रीचैतन्य महाप्रभु का कड़ाई से अनुगमन नहीं करते वे इसे नहीं समझ सकते क्योंकि वे महात्माओं के आदेशों का पालन नहीं करना चाहते। वे श्रीचैतन्य महाप्रभु के इस आदेश का पालन नहीं करते कि उन्हें "तिनके से भी अधिक विनम्र होना चाहिए।" यदि वे इतने विनम्र हो जायँ तो वे सद्कर्मों के कर्ता, सबसे चतुर व्यक्ति, सबसे बड़े भक्त होने का अपना अहंकार त्याग दें।

जो लोग महात्माओं का अनुकरण करने का प्रयास करते हैं वे कभी भी निष्क्रियता तथा प्रत्यावर्तन के शिकार नहीं होते। भगवान् की सेवा करने की उनकी उत्सुकता तथा संकल्प सतत बढ़ते हैं। ऐसे अनुयायी भगवान् की प्रसन्नता के लिए जन्माष्टमी तथा एकादशी (एकादशी चान्द्रमास के शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष का ग्यारहवां दिवस है। इस दिन वैष्णवजन अन्न का त्याग करते हैं।) जैसे उत्सव उस तरह से मनाते हैं, जिस तरह से मनाने की संस्तुति पूर्ववर्ती आचार्यों तथा महात्माओं ने की है। यही उचित भक्ति है। चूँकि महात्मागण

तिनके से भी अधिक विनम्र होते हैं अतएव वे कृष्ण तथा उनसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु की पूजा करते हैं। किन्तु नास्तिक लोग सर्वथा भिन्न मनोवृत्ति का प्रदर्शन करना चाहते हैं। वे अपनी योग्यताओं तथा दानवृत्ति के कारण शेखी बघारते हैं। भले ही वे भगवान् कृष्ण की सेवा करने का दिखावा करें, किन्तु एकबार सिद्धि पा लेने पर उनका लक्ष्य "भगवान् के सिर पर सवार होना" है। दूसरे शब्दों में, वे भगवान् के पद को हड़प कर लेना चाहते हैं। इसलिए वे असल में भगवान् कृष्ण की सेवा नहीं करते, न ही उनकी पूजा का असली लक्ष्य कृष्ण होते हैं। महात्मागण कभी भी ऐसे आसुरी लोगों की संगति नहीं करते। वे भगवान् की सेवा करने के लिए कृतसंकल्प होते हैं और इस तरह से वे भक्ति के माध्यम से उनसे सदैव जुड़े रहते हैं।

भगवान् अपने भक्तों के प्रेमी

तथाकथित शिक्षित वर्ग के सदस्य पूछते हैं "यदि कोई सारे समय कृष्ण की भक्ति करने में लगा रहे तो फिर वह अपना तथा अपने परिवार का पालन कैसे करेगा?" तथाकथित शिक्षित लोग सोचते हैं कि एकमात्र मूर्ख ही अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की अनदेखी करके भक्ति में अपना सारा समय नष्ट करके महात्मा पद तक उठना चाहेगा। वस्तुतः वे सोचते हैं कि असली महात्मा तो वह है जो अपनी भौतिक सुविधाओं को उत्तम से उत्तमतर बनाने का प्रयास करता है। वे कहते हैं कि अर्थशास्त्रियों की खराब योजना से संसार को अन्न उत्पादन के संकट का सामना करना पड़ रहा है। अर्थशास्त्रियों तथा उनके आलोचकों, इन दोनों को ही *भगवद्गीता* की ओर (९.२२) मुड़ कर इस विषय में जो कुछ कृष्ण ने कहा है उसे सुनना चाहिए—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यम्॥

"किन्तु जो लोग अनन्य भाव से मेरे दिव्य स्वरूप का ध्यान करते हुए निरन्तर मेरी पूजा करते हैं, उनकी जो आवश्यकताएँ होती हैं उन्हें मैं पूरा करता हूँ और जो कुछ उनके पास है उसकी रक्षा करता हूँ।"

यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि किस तरह पाश्चात्य जगत में एक नास्तिक सरकार ने अबोध नागरिकों को नास्तिक विचारों को स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया। सरकार ने अपने प्रचारकर्ताओं को गाँवों में भेजकर लोगों को धर्मान्तरित किया। उन्होंने अबोध ग्राम-वासियों से पूछा, "तुम गिरजाघर क्यों जाते हो? तुम ईश्वर से किस वस्तु के लिए प्रार्थना करते हो?" तो ग्राम-वासियों का भोरा जवाब था, "ईश्वर हमें भोजन देता है।" तब वे नास्तिक उन गाँव वालों को गिरजाघर लिवा ले गये और उनसे कहा कि ईश्वर से भोजन के लिए प्रार्थना करो। सीधे सादे ग्राम-वासियों ने प्रार्थना करना शुरु कर दिया। प्रार्थना के बाद उन अधिकारियों ने उनसे पूछा कि क्या तुम्हें भोजन मिला? मोहग्रस्त लोगों ने अपने सिर हिला दिये। तब नास्तिकों ने ग्रामवासियों से कहा कि तुम लोग हमसे भोजन के लिए प्रार्थना करो तो उन्होंने वैसा ही किया। अपने को विजयी पाकर नास्तिक तुरन्त ही रोटी की डलिया ले आये। ग्रामवासी प्रसन्न हो उठे और उन्होंने सोचा कि ये सरकारी प्रतिनिधि ईश्वर की अपेक्षा अधिक संवेदनशील तथा काम के हैं।

हाय! यदि एक भी भगवद्भक्त वहाँ उपस्थित होता तो उन ग्राम-वासियों की भक्ति के साथ इस तरह की छेड़छाड़ न हुई होती। नौसिखिया

भक्तों की सुकुमार भक्ति सदैव क्षतिग्रस्त हो सकती है। किन्तु रोटी आखिर ईश्वर से ही आती है, नास्तिकों से नहीं। यदि वे ग्रामवासी शास्त्रों से कुछ अधिक भिज्ञ होते तो नास्तिक लोग कभी भी अपनी दुष्ट योजना में सफल न हुए होते। सीधे-सादे ग्रामवासी अशिक्षित थे अतः उन्हें इसका कोई अनुमान न था कि एकमात्र भगवान् ही उन्हें भोजन दे सकता है। यदि धरती अन्न उत्पन्न न करे तो ये नास्तिक लोग भौतिक विज्ञान की उन्नति के बावजूद कभी रोटी या अन्य भोजन तैयार नहीं कर सकते।

बहुत से लोग यह दावा कर सकते हैं कि आधुनिक युग में भौतिक विज्ञानियों ने कृषि-उपज बढ़ाने में सहायता की है। किन्तु हम निर्भय घोषित करना चाहते हैं कि ऐसे नास्तिक विचारों के फलस्वरूप ही संसार को वर्तमान खाद्य संकट का सामना करना पड़ रहा है। यदि हम सतर्क नहीं हुये तो वह दिन दूर नहीं जब फलों में छिलके तथा गुठलियाँ ही होंगी, गौवों के थन सूख जाएँगे और धान के खेतों में केवल घास उगेगी। शास्त्र भविष्यवाणी करते हैं कि कलियुग में ऐसी बातें होंगी।

वास्तव में भगवान् सदैव हमारी रक्षा करता है। जेल के अन्तःवासियों को सरकार दण्ड देती है; फिर भी वही सरकार उन्हें भोजन देती है और उनकी देख-भाल रखती है। इसी तरह पापी नास्तिक लोग यद्यपि भगवान् की मोहनी शक्ति (माया जो साक्षात् दुर्गा देवी हैं) द्वारा दण्डित होते हैं तो भी भगवान् अधम से अधम पापियों, नीचों तथा असहाय लोगों का भरण-पोषण करते हैं। और यदि भगवान् बड़े से बड़े पापियों, दुराचारियों तथा असहाय जीवों को भोजन देते हैं और उनकी देखभाल करते हैं तो उन लोगों के विषय में क्या कहा जाय जो भगवान् के चरणकमलों में सदा से शरण लिये हुए

हैं? ईश्वर उस राजा के समान है जो अपनी प्रजा की सही देखभाल तो करता ही है, साथ ही अपने निकटतम सम्बन्धियों की आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखता है। इसलिए यह सच नहीं है कि सुखमय जीवन वे ही बिताते हैं जो सामान्य पुण्यकर्म करते हैं, वे भक्त नहीं जो कर्म तथा ज्ञान से मुक्त हैं। भक्तगण सदैव कष्ट नहीं पाते रहते क्योंकि भगवान् स्वयं ही उनकी देखरेख करते हैं। भक्तगण भगवान् के सम्बन्धी तथा पारिवारिक सदस्य हैं। जिस तरह सामान्य लोग अपने परिवार की सुख-सुविधाओं की देखरेख करते हुए हर्ष तथा सन्तोष का अनुभव करते हैं तो उन्हें भी आनन्द की अनुभूति होती है जब वे अपने भक्तों के कल्याण का ख्याल करते हैं। इस प्रकार परमेश्वर भक्तवत्सल यानी भक्तों के पालक कहलाते हैं। किन्तु वे कभी भी कर्मीवत्सल या ज्ञानीवत्सल नहीं कहलाते हैं।

भगवद्भक्त हर बात के लिए भगवान् पर पूर्णतया आश्रित रहते हैं और अपने लिए तथा अपने परिवारों के पालन-पोषण के लिए जो करते हैं वह भक्ति के अनुकूल होता है। ऐसे शुद्धात्मा सदैव भक्ति में स्थिर रहते हैं और भगवान् की सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में एक क्षण भी व्यर्थ नहीं करते। उन्हें भौतिक इच्छाएँ कभी नहीं सतातीं, क्योंकि वे जो भी कार्य करते हैं वह भगवान् की प्रसन्नता के लिए होता है। अतः केवल वे ही वास्तव में शान्ति से युक्त हैं।

भक्ति करने में जितना भी खर्च लगता है उसे भक्त स्वयं लगाता है। सामान्य व्यक्ति को इस तरह धन कमाना तथा खर्च करना इन्द्रियभोग जैसा प्रतीत हो सकता है। किन्तु जब भक्त समस्त इच्छाओं से रहित होता है तो भगवान् उसकी सारी आवश्यकताएँ पूरी करने में महान तुष्टि का अनुभव करते हैं। यद्यपि आज्ञाकारी पुत्र कभी भी अपने

पिता से अपनी आवश्यकताएँ व्यक्त नहीं करता, किन्तु वत्सल पिता स्वतः अपने पुत्र को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है और ऐसा करने में उसे आनन्दानुभूति होती है। इसलिए भगवद्भक्तों को किसी भी वस्तु की, यहाँ तक कि भौतिक वस्तुओं की भी कभी कमी अनुभव नहीं होती और जीवन के अन्त में इस शरीर को त्यागने के बाद वे नित्य आनन्द को प्राप्त करते हैं। यह वह दिव्य सम्पत्ति है जो उसे उत्तराधिकार में मिलती है। अन्य लोग—कर्मी, ज्ञानी, देवपूजक तथा योगी—नित्य आनन्द नहीं पा सकते।

यद्यपि भगवान् कृष्ण समदृष्टा हैं तो भी वे अपने भक्तों के कल्याण के विषय में विशेषतः चिन्तित रहते हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि भगवान् बन्धुपक्षपाती हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में (४.११) वे घोषित करते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—जिस तरह से लोग मेरी शरण में आते हैं उसी के अनुसार मैं उन्हें पुरस्कृत करता हूँ। यद्यपि भक्तगण निष्काम होते हैं और कुछ भी नहीं माँगते, किन्तु भगवान् सदा ही उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखते हैं। भक्तगण भगवान् से ऐसी दया प्राप्त करके सदैव प्रफुल्लित रहते हैं और उनका आशीर्वाद स्वीकार करना कोई अपराध या पाप नहीं।

यहाँ पर एक प्रश्न किया जा सकता है, "भला कृष्णभक्तों को ही उनका दिव्य धाम क्यों प्राप्त होता है? आखिर सारे देवता भगवान् कृष्ण की शक्ति मात्र हैं और शास्त्रों का निर्णय है कि शक्ति तथा शक्तिमान अभिन्न हैं। अतः जो लोग कृष्ण की शक्ति-रूप देवताओं की पूजा करते हैं वे भगवान् के दिव्य धाम को क्यों नहीं पा सकते?"

इसके उत्तर में सर्वप्रथम हम यह सन्दर्भित करना चाहेंगे कि इस विषय में स्वयं कृष्ण *भगवद्गीता* में (९.२३) क्या कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

"जो लोग अन्य देवताओं के भक्त हैं और श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा करते हैं वास्तव में वे भी मेरी ही पूजा करते हैं, किन्तु वे इसे त्रुटिपूर्ण ढंग से करते हैं।"

लोग देवताओं की पूजा अपनी क्षणिक भौतिक इच्छाओं की पूर्ति हेतु करते हैं और ऐसी पूजा से उन्हें जो फल मिलता है वह समान रूप से नश्वर तथा भौतिक होता है। किन्तु यदि कोई इस ज्ञान के साथ देवताओं की पूजा करता है कि वे भगवान् की शक्तियाँ हैं तो यह पूजा आधिकारिक मानी जाती है और ऐसे भक्त क्रमशः कृष्ण भक्त बन जाते हैं। किन्तु यदि कोई इस भाव से देवताओं की पूजा करता है कि वे भगवान् कृष्ण के समतुल्य पद पर हैं तो ऐसी पूजा अवैध है क्योंकि कृष्ण अद्वय तथा अतुलनीय भगवान् हैं। अतः कोई भी देवता भगवान् कृष्ण से स्वतन्त्र होकर विद्यमान नहीं रह सकता। भगवान् कृष्ण एक राजा के तुल्य हैं और देवतागण उनके मन्त्री तुल्य हैं। भले ही मन्त्री सिंहासन पर बैठ कर राजकाज चलाए किन्तु वह स्वतन्त्र नहीं होता । उसके अधिकार राजा से प्राप्त होते हैं।

परब्रह्म होने के कारण भगवान् कृष्ण ज्ञान तथा आनन्द से सदैव पूर्ण रहते हैं और इस भौतिक जगत से परे हैं। भौतिक जगत में हम प्रायः एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति से तुलना उनके पद तथा सत्ता से करते हैं। अतः हम यह ठीक से कह सकते हैं कि मनुष्यों की तुलना में देवताओं को अति उच्च स्थान प्राप्त है। किन्तु भगवान् तथा देवताओं के बीच कोई तुलना नहीं हो सकती क्योंकि देवतागण

मात्र उसी कोटि के सामान्य जीव हैं जिस तरह के मनुष्य हैं। जीव भगवान् की तटस्था शक्ति हैं जो उनकी दिव्य अन्तरंगा शक्ति से उद्भूत है। अतः जो भी देवाताओं को स्वतन्त्र परम ईश्वर मानता है वह मनोकल्पना करता है और पूर्णरूपेण गलत है क्योंकि जीव रूप में वे क्षणिक शक्ति तथा पद से ही समन्वित होते हैं।

यदि राजा के दरबार में किसी उच्चपदासीन दास का भूल से राजा जैसा सम्मान किया जाता है तो इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि राजा दास बन जाता है और दास राजा। इसी तरह भगवान् कृष्ण ही एकमात्र परम पुरुष हैं और अन्य सारे लोग उनके दास हैं। *ब्रह्मसंहिता* में भगवान् कृष्ण तथा देवताओं के मध्य जो सम्बन्ध है उसकी स्पष्ट विवेचना हुई है। इसके असंख्य प्रमाण हैं कि वे जीव जो विष्णुतत्त्व कोटि में आते हैं, सर्वोच्च प्राणी होते हैं। *श्रीमद्भागवत* इस सत्य की पुष्टि यह घोषित करके करती है कि सभी प्रकार की पूजा चाहे वह विष्णु की हो या कृष्ण की, अति उच्चस्तरीय होती है।

भारत में हिन्दू लोग अनेक देवताओं—सूर्यदेव, चन्द्रदेव आदि—की पूजा करते हैं। किन्तु पूजा के अनुष्ठान सदैव विष्णु पूजा से प्रारम्भ होते हैं और अन्त में हर वस्तु भगवान् विष्णु के चरणकमलों पर अर्पित की जाती है क्योंकि वे परम भगवान् हैं। पुरोहित वर्ग के ब्राह्मण को प्रत्येक पूजा-अनुष्ठान भगवान् विष्णु का परम पुरुष के रूप में आवाहन करते हुए शुरू करना चाहिए। अन्यथा उसकी सारी पूजा तथा अनुष्ठान व्यर्थ जाएँगे। यही भगवान् विष्णु वस्तुतः समस्त कारणों का कारण तथा आदि परमेश्वर कृष्ण का अंश है। अतएव भगवान् कृष्ण ही समस्त तर्पणों तथा यज्ञों के प्राप्तकर्ता हैं और समस्त पूजा के चरम कल्याणकर्ता हैं। *भगवद्गीता* में (९.२४) कृष्ण कहते

हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

"मैं ही समस्त यज्ञों का एकमात्र भोक्ता तथा स्वामी हूँ। अतः जो लोग मेरी वास्तविक दिव्य प्रकृति को नहीं पहचान पाते वे नीचे गिर जाते हैं।"

देवताओं की पूजा करते समय भगवान् नारायण या कृष्ण को यज्ञ के परम भोक्ता के रूप में सिंहासन पर बैठाने का कारण यही है कि विभिन्न देवता भी उनकी पूजा करते और उन्हें भेंट अर्पित करते हैं। अतएव वे समस्त यज्ञों के स्वामी हैं। परमेश्वर देवपूजकों की इच्छाएँ देवताओं के माध्यम से पूरी करते हैं किन्तु देवपूजक भगवान् के दिव्य पद से अवगत नहीं रहते हैं अतः उनकी अवैध देवपूजा उनमें उद्वेग तथा मोह उत्पन्न करती है।

देवपूजक प्रायः अपनी देवपूजा को यह सोचकर सर्वव्यापक बनाने का प्रयास करते हैं कि "मैं इस देवता का भक्त हूँ अतएव वह अवश्य ही मुझ पर कृपादृष्टि करेगा और मेरे मन की सारी इच्छाओं को पूरा करेगा। अतः वह देवता निस्सन्देह परमेश्वर है।" किन्तु प्रामाणिक शास्त्र ऐसे देवपूजकों तथा उनकी पूजा की भर्त्सना उसे अनैतिक तथा दार्शनिक रूप से गलत कहकर करते हैं। ऐसे पूजक यह नहीं समझ पाते कि कृष्ण परमेश्वर हैं और समस्त शक्तियों के चरम स्रोत हैं। वस्तुतः सारे देवता भगवान् की शक्तियों की अभिव्यक्तियाँ हैं किन्तु मोहग्रस्त देवपूजकों को वे पूजा तथा भक्ति के चरम लक्ष्य प्रतीत होते हैं। जो लोग इसी भ्रान्ति में रहते हैं वे कभी भी परब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकेंगे। दूसरी ओर, जो देवताओं की पूजा शास्त्र

के आदेशों के अनुसार करते हैं वे तुरन्त अनुभव करने लगते हैं कि उनकी पूजा का पात्र भगवान् कृष्ण के अधीन है। इसकी अनुभूति के साथ ही उनका मोह नष्ट हो जाता है और वे कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेते हैं।

पत्र, पुष्प, फल, तोय अर्पित करना

मनुष्य को मन में गाँठ बाँध लेनी चाहिए कि भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की पूजा अनावश्यक है। विशेषतया इस कलियुग में भव्य यज्ञ तथा पूजा कर पाना असम्भव है। हाल ही में सार्वजनिक रूप से बड़ी ही धूमधाम से देवताओं की पूजा का रिवाज चल पड़ा है। ऐसी पूजा शास्त्रीय नियमों का पालन किये बिना मनमाने तरीके से की जाती है। तमोगुणी के लिए छद्म इन्द्रियभोग तथा शैतान जैसी मस्ती में लगने का बहाना है। न तो कोई नैतिकता अपनाई जाती है, न ही भव्य सार्वजनिक भोज के लिए प्रबन्ध किया जाता है, न ही प्रामाणिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, न अर्चाविग्रहों को समुचित भेंटें चढ़ाई जाती हैं। ऐसे अवसर उन्मत्त गायन, नृत्य तथा अभद्र व्यवहार के बहाने मात्र होते हैं। इस प्रकार की पूजा अवैध है। इसलिए बुद्धिमान लोग ईश्वर के पवित्र नाम के सामूहिक कीर्तन की विधि अपनाएँगे और इस तरह से गौरांग महाप्रभु की पूजा करेंगे जो गौरवर्ण में साक्षात् कृष्ण हैं। कृष्ण की पूजा खर्चीली नहीं है और श्रीचैतन्य महाप्रभु की पूजा कृष्ण की पूजा से भी आसान और कम खर्चीली है। इसका कारण यह है कि कृष्ण की पूजा के लिए पत्ती, फूल, फल या जल जुटाने में थोड़ा सा प्रयास लगता भी है किन्तु चैतन्य महाप्रभु की पूजा में इसकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती। कुछ भी हो, इन दोनों ही ईश्वरों की पूजा किसी भी देश में, किसी भी स्थिति में तथा किसी के भी द्वारा—चाहे मूर्ख

हो या चतुर, पापी हो या पवित्र, उच्चजन्मा हो या निम्नजन्मा, धनी हो या गरीब —आसानी से की जा सकती है। *भगवद्गीता* में (९.२६) भगवान् कृष्ण कहते हुए पाये जाते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

"यदि कोई प्रेम तथा भक्ति के साथ मुझे पत्र, पुष्प, फल या जल प्रदान करता है तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।"

भगवान् के तुष्ट हो जाने पर सारा संसार स्वतः तुष्ट हो जाता है क्योंकि उनकी पूजा करने से मनुष्य हर किसी की पूजा कर लेता है। जिस तरह वृक्ष की जड़ों में जल डालने से पूरा वृक्ष—सारी डालें, पत्तियाँ आदि—जल पाता है उसी तरह जब कृष्ण की पूजा की जाती है और वे तुष्ट हो जाते हैं तो सारे देवता तथा मनुष्य पूजे जाते हैं तथा तुष्ट हो जाते हैं।

इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि भगवान् कृष्ण की पूजा में काफी धन व्यय किया जाय और तड़क-भड़क की जाय। न ही काल, स्थान या परिस्थिति का कोई प्रतिबन्ध है। जिस तरह गंगा में हर किसी को स्नान का अधिकार है उसी तरह भगवान् कृष्ण की सेवा करने का अधिकार हर एक को है। पुष्प, फल, पत्ती तथा जल हर स्थान पर उपलब्ध हैं। एक भिखमंगा भी अल्प प्रयास से और बिना मूल्य के इन चारों वस्तुओं को पा सकता है। इस तरह भगवान् कृष्ण की पूजा-विधि इतनी सरल है कि कहीं का कोई भी व्यक्ति इसमें भाग ले सकता है।

भगवान् कृष्ण अजन्मा हैं फिर भी वे कोई भी अकल्पनीय रूप धारण कर सकते हैं। और चूँकि वे हर प्राणी के परम पिता हैं

अतः कोई—चाहे वह उच्चकुलीन ब्राह्मण हो या अछूत—उन्हें प्रेम तथा भक्ति से फूल, फल, पत्ती तथा जल अर्पित कर सकता है। तब समस्त कारणों के कारण भगवान् कृष्ण इस भेंट को स्वीकार कर लेंगे और ऐसे आध्यात्मिक कर्म से पूजा करने वाला उनके नित्य धाम में प्रवेश करने का पात्र बनता है। भला उस व्यक्ति से अधिक मूर्ख कौन होगा जो इस सरल तथा सुखद विधि को छोड़ देता है और भौतिक जगत के जाल में फंसकर भौतिक सुविधाओं के लिए प्रयत्न करते हुए देवताओं की शरण ग्रहण करता है? हाल ही में संसार में एकता, शान्ति तथा सौहार्द लाने के लिए सभी दिशाओं में मिलजुल कर अच्छे प्रयास किए जा रहे हैं किन्तु ये तभी सम्भव हैं जब लोग कृष्ण की पूजा और भक्ति करें।

ऐसा प्रस्ताव न तो अस्वाभाविक है न ही हास्यास्पद। वस्तुतः यदि कोई परब्रह्म का निष्ठावान खोजी है, तो उसका वर्तमान पद चाहे जो भी हो, भगवान् को पत्र, पुष्प, फल तथा जल प्रेमपूर्वक तथा भक्ति सहित अर्पित करके वह आसानी से यह अनुभव करेगा कि धीरे धीरे परब्रह्म कृष्ण उसके अधिकाधिक निकट आते जा रहे हैं। अपने समस्त पाठकों से हमारा विनम्र अनुरोध है कि वे भगवान् कृष्ण के चरणकमलों तक पहुँचने की इस सर्वोत्तम विधि को अपनाएँ। इस विधि में किसी आर्थिक व्यय, शारीरिक प्रयास, दार्शनिक ज्ञान या कुलीन जन्म की आवश्यकता नहीं होती।

देवपूजक तथा कृष्ण-भक्त में अनेक अन्तर हैं। सामान्य रूप में लोग देवताओं के पास क्षणिक भौतिक इच्छाओं के वशीभूत होकर जाते हैं किन्तु भक्तों का लक्ष्य भगवान् के साथ अपना नित्य प्रेमपूर्ण सम्बन्ध पुनर्स्थापित करना होता है। इसके लिए भक्तगण उनकी पूजा करते हैं, उपहार चढ़ाते हैं या जो कुछ भी उन्हें मिल सके, और

साथ में प्रेम तथा भक्ति अर्पित करते हैं और भगवान् उन्हें आनन्द-पूर्वक स्वीकार करते हैं। ऐसी भक्तिमयी भेंटें किसी भौतिक लाभ की इच्छा से मुक्त होती हैं।

इसके विपरीत बहुदेववादियों की भेंटें भौतिक लाभ की स्वार्थमयी प्रेरणा से लदी हुई रहती हैं जिन्हें भगवान् कभी स्वीकार नहीं करते, चाहे ये भेंटें कितनी ही ऐश्वर्यमयी तथा विपुल क्यों न हों। देवपूजकों में अपने देवता विशेष के लिए असली प्रेम या भक्ति नहीं होती; फिर भी भगवान् कृष्ण इतने दयालु हैं कि वे मूर्ख देवपूजकों की भौतिक इच्छाओं को पूरा करते हैं।

प्रेम तथा भक्ति से विहीन कोई भी भेंट भगवान् कृष्ण को स्वीकार्य नहीं। जो व्यक्ति भूखा न हो उसे सहसा भूख नहीं लग सकती, भले ही उसे स्वादिष्ट भोजन क्यों न दिया जाय। इसी तरह भगवान् को बहुमूल्य भेंटों के प्रति कोई आकर्षण नहीं जो प्रेम तथा भक्ति के बिना दी गई हों। हम पहले ही बता चुके हैं कि भगवान् की अवैध पूजा भक्ति की अनुपस्थिति तथा भौतिक इच्छा की उपस्थिति से उत्पन्न होती है। जो भक्ति से पूरित होता है वह परमेश्वर की इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है जब कि भौतिक इच्छा से पूरित व्यक्ति अपनी ही इन्द्रियों की तुष्टि के उद्देश्य से ऐसा करता है। जिन लोगों के मनों में अपनी इच्छा पूरी करने की चाह रहती है किन्तु परमेश्वर की सेवा करने का दिखावा करते हैं उन्हें असली भक्त होने की प्रसन्नता की कभी अनुभूति नहीं हो पाती। शास्त्रों ने ठीक ही उन्हें धनलोलुप कहा है। भक्ति का मूल उद्देश्य ईश्वर-प्राप्ति है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने पास की हर वस्तु भगवान् को अर्पित कर दे। इसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, योग, तप, ध्यान आदि के फल सम्मिलित हैं। आत्मसमर्पण की इस पूर्ण विधि

से ईश्वर की प्राप्ति होगी। इसीलिए *भगद्गीता* में (९.२७) भगवान् कृष्ण ने खुली घोषणा की है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्तीपुत्र! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ यज्ञ रूप में अर्पित करते हो या दान देते हो और जो भी तपस्या करते हो, उसे मुझे अर्पित करते हुए करो।"

यदि कोई व्यक्ति इस आदेश का पालन करता है और अपने पास की हर वस्तु—पत्नी, घर, परिवार, बुद्धि, विद्या, व्यापार, धार्मिकता, श्रम, भोजन, जल, शरीर के पालने के लिए जिन जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, यहाँ तक कि विषय-वासना, लोभ तथा क्रोध भी—प्रेमपूर्वक अर्पण करता है तब भगवान इन भेंटों को स्वीकार करते हैं और अर्पणकर्ता को पूरी तरह तुष्ट करते हैं। मृत्यु के समय भगवान् ऐसे शरणागत व्यक्ति को अपने परम धाम ले जाते हैं।

देवताओं को कुछ ही प्रकार की भेंटें स्वीकार करने का अधिकार प्राप्त है जब कि भगवान् कृष्ण हर एक के कर्मफल को स्वीकार कर सकते हैं। एकमात्र भगवान् पर्याप्त शक्तिमान हैं कि विरोधी कर्मफलों तथा पूजा के रसों को स्वीकार करें। इससे कृष्ण का परम ईश्वरत्व तथा परम पद सूचित होता है। यह सम्भव नहीं कि सारे मानव शुद्ध भक्तियोग को समझें; फिर भी हर एक में सदैव यह सामर्थ्य है कि वह भगवान् के चरणकमलों को विषमताओं के होने पर भी प्राप्त कर सके। अतः सर्वोत्तम उपाय है कि हर वस्तु परमेश्वर को अर्पित कर दी जाय।

हमने निष्काम कर्म के विषय में जिन बातों की चर्चा की है

वे शास्त्रों में विस्तार से दी गई हैं। पंडितों ने निष्काम कर्म की परिभाषा "सकाम लाभ या ज्ञान की इच्छा से रहित कर्म" रूप में की है। केवल ऐसे दिव्य कर्म ही भगवान् कृष्ण को अर्पित किये जा सकते हैं। किन्तु सारे कार्यलाप चाहे वे मौखिक, शारीरिक या मानसिक हों, दिव्य होते हैं यदि ये प्रेम तथा भक्तिपूर्वक भगवान् को अर्पित किये जायँ। वे अपनी अहैतुकी कृपा से इन भेंटों को विधिपूर्वक ग्रहण करते हैं।

किन्तु इस सन्धिस्थल पर हमें त्रुटि करने से बचना होगा। हमारी इस विवेचना में भौतिकतावादी ब्राह्मण जाति द्वारा नारायण को दिये जाने वाले तर्पण या सकाम कर्म की भेंटें सम्मिलित नहीं हैं। चूँकि ऐसी भेंटें विषयवासना (काम) से रहित नहीं होतीं, इसलिए उनमें प्रेम या भक्ति नहीं होती। हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि भगवान् को समुचित भेंट चढ़ाने की मुख्य कसौटी यह है कि यह भेंट प्रेम तथा भक्तिपूर्वक भगवान् की इन्द्रियों की तुष्टि के लिए की जाय। अतः हमें समझना चाहिए कि जो वस्तुएँ या सेवाएँ एकमात्र भगवान् की प्रसन्नता हेतु अर्पित की जाती हैं, वे ही उनके द्वारा स्वीकार की जाती हैं।

अपनी भूख मिटाने के लिए श्रम करना *काम-कर्म* है किन्तु परमेश्वर को व्यंजन खिलाने के लिए अनथक प्रयास निष्काम कर्म है जिसका एकमात्र उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना होता है। वाणिज्य तथा व्यापार का एकमात्र उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना होना चाहिए; इसी तरह शोध, विज्ञान, दान, तप तथा अन्य सारे कार्यों का भी। ऐसा करने से मनुष्य को भगवान् कृष्ण सम्बन्धी दिव्य कथाओं को सुनने तथा कीर्तन करने को प्रोत्साहन मिलेगा और यह सुनना तथा कीर्तन करना नवधा भक्ति में सर्वोपरि है। वैदिक काल में सारे मानवीय

कार्यकलाप परमेश्वर की भक्ति से दृढ़तापूर्वक जुड़े होते थे। आज भी वही शाश्वत नियम लागू होता है—हर वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा में किया जाना चाहिए।

भगवान् कृष्ण समस्त यज्ञों के परम भोक्ता हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति के श्रम के फल को स्वीकार करके फलीभूत बनाते हैं। सर्वशक्तिमान प्रभु की दिव्य शक्ति ऐसी है। किन्तु भक्ति करते समय, हमारी चेतना में तृप्ति की इच्छा का प्रवेश नहीं होने देना चाहिए। हमें पूर्ववर्ती गुरुओं के पदचिन्हों का अनुसरण भर करना होता है। भगवान् के समक्ष सारे लोग समान हैं। अतः जो भी अविचल एकान्त भाव से भगवान् की सेवा करता है वह उनका निकट संगी गिना जाता है। वे सचमुच *हरिजन* यानी भगवान् हरि के निजी व्यक्ति हैं। जिस व्यक्ति में भक्ति की अनिवार्य योग्यता न हो उस पर हरिजन की छाप लगाना हास्यास्पद है और भक्ति के शरणागति मार्ग पर कष्टकर व्यवधान है।

भगवद्गीता में (९.२९) भगवान् कृष्ण स्पष्ट कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

"मैं किसी से न तो द्वेष करता हूँ न ही किसी के साथ पक्षपात करता हूँ। मैं सबों के लिए समभाव रखता हूँ। किन्तु जो भी भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है वह मेरा मित्र है, मुझमें स्थित है और मैं भी उसका मित्र हूँ।"

समः अर्थात् समान का गलत अर्थ नहीं लगाना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान् निराकार हैं और वे किसी भी मनमाने कार्य को, चाहे वह अनुशासनहीन आचरण हो, आशीर्वाद देंगे। भगवान्

नितान्त साकार हैं, दैवी अनुभूतियों के आगार हैं और दिव्य लीलाओं के दिव्य कर्ता हैं और वे सभी के शुभेच्छुक मित्र हैं। लेकिन मैत्री में घनिष्ठता की विभिन्न कोटियाँ होती हैं। इस तरह भगवान् का समभाव साकारवाद की विविधताओं से रहित नहीं होता। दूसरे शब्दों में, भगवान् अपने प्रति हमारे प्रेम की मात्रा के अनुसार ही आदान-प्रदान करते हैं। *गीता* में (४.११) वे कहते हैं—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*—लोग मेरी शरण में जिस तरह से आते हैं उसी के अनुसार मैं उन्हें पुरस्कृत करता हूँ। वे समस्त भक्तिरसों—दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य—के प्रति अपनी अनुक्रिया दिखाते हैं। इसी तरह जो लोग उन्हें सामान्य मर्त्य मानकर तिरस्कृत करते हैं, वे उनकी अवहेलना करते हैं। इसके विपरीत जो उन्हें परमेश्वर मानते हैं और पुराने सन्त-स्वामियों के पदचिन्हों पर चलते हुए उनकी सेवा करते हैं उन्हें वे सदैव शरण देते हैं और उनकी रक्षा करते हैं।

"सब धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ"

तथाकथित प्रगतिशील आधुनिक सभ्यता ने ऐसे पापी मनुष्यों को जन्म दिया है, जिनके पाप अनेक जन्मों से संचित होते रहे हैं। फिर भी, यदि वे कृष्ण की शरण ग्रहण करते हैं तो उनके भी सारे पाप सदा के लिए समूल नष्ट हो जाते हैं। भक्ति की विधि तथा कृष्ण के स्मरण से क्रमशः अवांछित निम्न इच्छाएँ उनके हृदयों से नष्ट हो जाएँगी और जिन हृदयों में पहले अनैतिक इच्छाएँ शरण पाती थीं अब वे पूरी तरह स्वच्छ तथा शुभ बन जाएँगे।

पापी तथा दीन जन अपनी त्रुटियों तथा दुर्भाग्य को एकमात्र कृष्ण की कृपा के द्वारा ही समझ सकते हैं। एक बार अपने पापों पर पश्चाताप शुरू कर देने तथा भगवान् की शरण में जाने पर वे बच जाते हैं, वे शुद्ध हो जाते हैं और उनमें साधु पुरुषों के गुण दिखने

शुरू हो जाते हैं। यदि भक्ति अंगीकार करने पर भी उनके आचरण में कुछ अनैतिकता बची रहती है तो भगवत्कृपा से वह भी शीघ्र ही समूल नष्ट हो जाएगी। जो कभी भगवान् का या उनके भक्तों का अपमान नहीं करता ऐसे एकाग्र भक्त को महात्मा मानना चाहिए। यदि ऐसा लगे भी कि महात्मा अब भी पापमयी लालसाओं से विमुक्त नहीं हुआ है तो भी वह कभी विनष्ट नहीं होता जिस प्रकार ऐसी ही स्थिति में योगी और कर्मी नष्ट होते हैं।

श्रीमद्भागवत में अजामिल के उद्धार का जो विवरण दिया हुआ है वह इस तथ्य को प्रमाणित करता है। यदि एक बार कृष्णभक्ति में अनन्य श्रद्धा किसी के हृदय में प्रवेश कर जाती है तो उसकी शुद्धिकरण की प्रक्रिया दृढ़ता से चालू हो जाती है, भले ही उसके बाह्य कार्यों से लगे कि उसमें पाप अवशिष्ट है। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में (९.३१) निर्भीक होकर अपने इस वादे की घोषणा की है कि उनका शरणागत भक्त कभी विनष्ट नहीं होता—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*। इस श्लोक से सिद्ध होता है कि भगवान् कृष्ण अपने भक्तों की सदैव रक्षा करेंगे क्योंकि भगवान् स्वयं अपने वादे की घोषणा न करके वीर अर्जुन से अपनी ओर से घोषणा करवाते हैं। भगवान् अपना वादा तोड़ सकते हैं लेकिन अपने भक्तों के अनुकूल होने से वे उनके वादों को पूरा करने का सदैव प्रयास करेंगे। अपने वादे को तोड़ कर तथा कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में भीष्मदेव के वादे को निभाते हुए भगवान् ने निस्सन्देह, यह सिद्ध कर दिया कि वे अपने शरणागत भक्तों का पक्ष लेते हैं। ब्राह्मण या सौंदर्य, सम्पत्ति तथा विद्या से सम्पन्न उच्चकुलीन व्यक्ति इस गलत निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि केवल अजामिल जैसे ब्राह्मण में ही अधम आदतें सिर उठा सकती हैं। अजामिल जन्मना ब्राह्मण था किन्तु अपने

पूर्वजन्म के पापकर्मों से उत्पन्न फलों से वह गर्हित कर्म करने लगा था। किन्तु जीवन के अन्तिम समय भगवान् का स्मरण करने से भगवान् ने उसे सारे पापों से बरी कर दिया। किन्तु उद्धार हर एक का सम्भव है, कुलीन जन्मवालों के लिए ही ऐसा नहीं है। नीच से नीच व्यक्ति जो स्वभाव से निम्न कार्य करता है भगवान् कृष्ण के दिव्य धाम पहुँच सकता है बशर्ते कि वह उनके चरण-कमलों की शरण ग्रहण कर ले। *भगवद्गीता* में (९.३२) भगवान् कहते है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

"हे पार्थ! जो लोग मेरी शरण ग्रहण करते हैं वे भले ही निम्नजन्मा स्त्री, वैश्य तथा शूद्र क्यों न हों, वे परम धाम को प्राप्त होते हैं।"

जब अधम से अधम व्यक्ति भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करके परम गन्तव्य प्राप्त कर सकते हैं तो उच्चकुलीन ब्राह्मणों के विषय में क्या कहा जाय? जो लोग भगवान् की भक्ति के मार्ग पर चलते हैं वे जाति तथा रंग भेद से भयभीत नहीं होते। एक धर्म तथा एक जाति-एकेश्वरवाद—केवल भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण लेने पर सम्भव है, किसी अन्य विधि द्वारा नहीं। कलह के इस वर्तमान युग, कलियुग, में माया लोगों को निरन्तर भयभीत बनाती तथा पाशबद्ध करती है। लोग आत्मा के रूप में अपनी असली पहचान भूलने के कारण विपत्तियों को बुलाते हैं। ऐसी घेराबन्दी में, आधुनिक विचारक तथा दार्शनिक समाज में शुद्धता तथा एकता लाने का विफल प्रयास करते हैं। वे इस समस्या के विषय में गहन शोध करते हैं। किन्तु भगवान् कृष्ण ने बहुत पहले *भगवद्गीता* में (९.३४)

हमारी आधुनिक समस्याओं का समाधान किया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

"अपने मन को मेरे नित्य चिन्तन में लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे नमस्कार करो और मेरी ही पूजा करो। इस प्रकार मुझमें पूर्णतया मग्न होने पर तुम निश्चय ही मुझको प्राप्त करोगे।"

हे संसार के लोगो! गीता के इस सन्देश को कार्य रूप में परिणत करने का प्रयास करो और अपने विचारों को भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की ओर ले जाओ। अपने तन-मन से उनकी सेवा करो। यदि आप अपनी सारी शक्ति भगवान् की सेवा में लगाते हैं तो आपको न केवल इस जीवन में तीव्र आनन्द का अनुभव होगा अपितु आध्यात्मिक जगत में आप निरन्तर उनकी सेवा करते हुए शाश्वत आनन्द में निमग्न रहेंगे। भगवान् के सर्वाधिक वदान्य अवतार श्रीचैतन्य महाप्रभु कलियुग में, हाल ही में, इस सन्देश का प्रसार करने के लिए अवतरित हुए। समस्त बंगालियों के सौभाग्य से वे बंगाल में प्रकट हुए और उन्होंने बंगाली जाति को धन्य बनाया। इस तरह बंगाली लोग उनके मिशन तथा उपदेशों का सम्पूर्ण मानव जाति में प्रचार करके इस लोक के लोगों का तथा स्वयं का उद्धार कर सकते हैं। इस ज्ञान को क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक रीति से प्रस्तुत करने से सारे विश्व में शान्ति स्थापित हो सकेगी। फिर भी सबसे दुखद बात यह है कि तेरह अवैध सम्प्रदाय कुकुरमुत्तों की तरह उभर कर सामने आये हैं और वे भोले सीधे सादे शिष्यों में अपने अवैध मत का विस्तार पा रहे हैं। एक बात जो समझ में नहीं आती वह यह है कि इन सम्प्रदायों के नेता, जिन्होंने कभी भी किसी प्रामाणिक गुरु की शिष्यता

नहीं स्वीकार की है किस तरह अचानक स्वयं गुरु का पद ग्रहण कर सकते हैं। लोगों में किसी सस्ते भावनात्मक मनगढ़ंत धोखा देने वाले विषय का प्रचार नहीं किया जाना है, वस्तुतः यह तो अगाध गोपनीय धर्मविज्ञान है। श्रीचैतन्य महाप्रभु के वचनों को इन स्वयंभू निर्लज्ज गुरुओं द्वारा दूर तक नहीं ले जाया जा सकता क्योंकि ये अबोध जनता को प्रभावित करने के लिए आध्यात्मिक भावनाओं का अनुकरण करते हैं। सारे सन्तो सावधान हो जाओ।

हमारा सामान्य अनुभव रहा है कि निर्विशेषवादी जन चिन्तन तथा कुतर्क वश, भगवान् कृष्ण को परमेश्वर नहीं मानते। फलतः वे अपनी बुद्धि के बल पर परब्रह्म को जानने के अपने प्रयासों में सदैव निराश रहेंगे। वे अपने में इस कमी को नहीं देख पाते और यदि कृष्णभावनामृत विज्ञान के जाननेवाले व्यक्तियों द्वारा इसका संकेत किया जाता है तो वे इसे ग्रहण नहीं कर पाते। ऐसी दूषित चेतना भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण न करने का प्रतिफल है। भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीलाएँ तथा साज-सामान सभी दिव्य तथा असाधारण हैं, अतः कुन्द भौतिक इन्द्रियाँ इन्हें नहीं देख पातीं। सूर्य केवल प्रकाश की सहायता से दृष्टिगोचर होता है। इसी तरह भगवान् केवल उनके समक्ष प्रकट होते हैं जो उनकी भक्ति में लगे रहते हैं। हमें अपनी भौतिक अवस्था में अनेकानेक सुविधाएँ प्राप्त हैं। सतोगुण में एक सुविधा बुद्धि की है जो हमें सूक्ष्म तत्त्वों को पहचानने तथा पदार्थ और आत्मा में अन्तर करने की शक्ति देती है और इस तरह माया के वश में होने से बचाती है। सतोगुण के अन्तर्गत सहिष्णुता, सत्यता, इन्द्रियसंयम, समता तथा अन्य ऐसे ही गुण आते हैं। इस सूची में रजोगुण के अन्तर्गत प्रबल इच्छा, निर्भीकता तथा दृढ़ संकल्प और तमोगुण के अन्तर्गत भय, पागलपन और जन्म, मृत्यु, जरा तथा

रोग आदि के कष्ट सम्मिलित किये जा सकते हैं। ये सारी सुविधाएँ भगवान् की बहिरंगा भौतिक शक्ति के प्रतिफल हैं। चूँकि माया परमेश्वर के अधीन है, अतः उपर्युक्त सारे गुण भी साक्षात् कृष्ण से उद्भूत होते हैं। किन्तु भगवान् कृष्ण हमारी ऐन्द्रिय अनुभूति की परिधि के बाहर हैं। अतः केवल सतोगुण के उत्तम गुणों का अनुशीलन भगवान् के चरणकमलों तक पहुँचने के लिए पर्याप्त नहीं है। माया को जीतने का एकमात्र उपाय है भगवान् के चरणकमलों में पूर्ण शरण ग्रहण करना। कृष्ण ने *गीता* में (७.१४) कहा है कि जो लोग उनकी शरण ग्रहण करते हैं वे आसानी से माया को लाँघ जाते हैं। एक बार माया को लाँघ लेने पर मनुष्य को अनुभूति होती है कि कृष्ण ही भगवान् हैं। *ब्रह्मसंहिता* में (५.१) ब्रह्माजी कहते हैं—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"गोविन्द नाम से ज्ञात कृष्ण परमेश्वर हैं। उनका शरीर नित्य आनन्दमय तथा आध्यात्मिक है। वे सबों के उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं। वे समस्त कारणों के मूल कारण हैं।"

माया के प्रभाव से मुक्त होने पर ही भगवान् के दिव्य ऐश्वर्य, शक्ति, यश, सौन्दर्य, ज्ञान तथा त्याग का अनुभव किया जा सकता है। इस दिव्य अनुभूति के साथ ही *भगवद्गीता* में (१०.८-१०) भगवान् द्वारा स्वयं कहे गये शब्दों की थाह ली जा सकती है—

"मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का कारण हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझसे ही उद्भूत है। जो बुद्धिमान यह भलीभाँति जानते हैं, वे मेरी प्रेमाभक्ति में लगते हैं तथा मेरी पूजा में पूरे मनोयोग से तत्पर होते हैं। मेरे शुद्ध भक्तों के विचार मुझमें रहते हैं, उनके जीवन

पूर्णतया मेरी सेवा में समर्पित रहते हैं और वे एक दूसरे को ज्ञान प्रदान करने तथा मेरे विषय में बातें करने से परम सन्तोष तथा आनन्द का अनुभव करते हैं। जो सदैव प्रेमपूर्वक मेरी सेवा करने में लगे रहते हैं, मैं उन्हें बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझ तक पहुँच सकें।''

सारी सिद्धियाँ भक्तियोग से उत्पन्न हैं

व्यक्त या अव्यक्त, भौतिक या आध्यात्मिक जो कुछ भी विद्यमान है उसका एक ही मूल स्रोत है और वह है परम प्रभु कृष्ण। वे आदि परम नियन्ता, समस्त कारणों के कारण, समस्त प्रभुओं के प्रभु हैं। हृदय में परमात्मा के रूप में वे दिव्य पदासीन होकर दिव्य भक्त के सारे कार्यों की प्रेरणा देते हैं। जिन्हें ब्रह्म का सही ज्ञान है वे दास्य, सखा आदि रसों में भगवान् कृष्ण की सेवा कर सकते हैं। उनके मन सदैव कृष्ण के विचारों में मग्न रहते हैं और वे उनकी नित्य दिव्य लीलाओं को देखने तथा उनका आनन्द उठाने की लालसा को संजोए रहते हैं। भगवद्कृपा से ये शुद्ध भक्त उनकी अन्तरंग पूजा के रहस्यों को उद्घाटित कर सकते हैं। तब भगवान् के प्रति अपने प्रेम के कारण वे भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीलाओं, पार्षद तथा साज-सामग्री के यश का श्रवण तथा कीर्तन किये बिना जीवित नहीं रह सकते। वे समान विचार वाले भक्तों की संगति खोजते हैं और उनके साथ वे भक्ति के अमृत-सागर में गोते लगाते हैं। आध्यात्मिक स्वरूप में स्थित होकर वे आध्यात्मिक आदान-प्रदान को पसंद करते हैं और कृष्ण की दिव्य लीलाओं की शुभ कथाओं के विषय में सुनते, विचार-विमर्श करते तथा स्मरण करते हैं। इस तरह वे नवधा भक्ति का अभ्यास करते हैं।

वे साधन अवस्था में इस नवधा भक्ति को सम्पन्न करते हैं और सिद्ध अवस्था में गहन सन्तोष का अनुभव करते हैं। वे दास्य, सख्य आदि दिव्य आध्यात्मिक रसों से संपृक्त हो जाते हैं जिससे उन्हें दैवी आनन्द प्राप्त होता है। भगवान् उन्हें असली दिव्य बुद्धियोग प्रदान करते हैं और उन्हें निरन्तर सेवा करने से आध्यात्मिक संतोष तथा दैवी आनन्द का अनुभव होता है। धीरे धीरे उनकी विशिष्ट भक्ति-प्रवृत्ति उस बिन्दु तक बढ़ती जाती है जिस पर वे शुद्ध ईशप्रेम का आस्वादन कर सकते हैं। भाव अवस्था में भगवान् कृष्ण तथा उनके शुद्ध भक्त के बीच प्रत्यक्ष दिव्य रस-विनिमय होता है। भगवान् स्वयं ही अपने भक्त को बुद्धियोग प्रदान करते हैं और भक्त उस बुद्धि से कर्म करते हुए भगवान् की तब तक सेवा करता है जब तक वह क्रमशः भगवद्धाम नहीं पहुँच जाता। ऐसे भक्त पर कभी अज्ञान हावी नहीं होता। निर्विशेषवादी तथा ज्ञानी जन भगवान् के शुद्ध भक्तों को भावनावादी मूर्ख मानते हैं और उनका मजाक उड़ाते हैं। यह बहुत बड़ा अपराध है। ऐसे अपराधों से निर्विशेषवादी तथा छद्म-भक्त धीरे धीरे असुर बन जाते हैं। वे सद्ज्ञान तथा स्थायी चित्त खोकर धीरे धीरे भगवान् से शत्रुता उत्पन्न कर लेते हैं। जिससे उनके जीवन भर के सारे प्रयास कष्ट में परिणत होकर व्यर्थ हो जाते हैं। यदि इनमें से कोई भी मोहग्रस्त आसुरी निर्विशेषवादी किसी शुद्ध भक्त के सम्पर्क में आता है और उसकी कृपा से अपनी खोई हुई अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेता है तो वह यह समझने लगता है कि जिन शुद्ध भक्तों का उसने अपमान किया था वे भगवान् कृष्ण के साथ रसों का विनिमय कर रहे हैं और इस तरह वे अज्ञान तथा मोह से सदा सदा के लिए मुक्त रहते हैं। निर्विशेषवादियों को यह समझना चाहिए कि भगवान् भीतर से परमात्मा के रूप में कार्य करते हुए भक्त के हृदय से सारा अज्ञान

भगा देते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में (१०.११) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

"मैं, उन पर विशेष कृपा करने हेतु उनके हृदयों में वास करते हुए, ज्ञान के प्रकाशमान दीपक के द्वारा अज्ञानजन्य अंधकार को दूर करता हूँ।"

शुष्क ज्ञान के दार्शनिक इस बात को गाँठ में बाँध लें—*तेषां* शब्द का प्रयोग करके भगवान् कृष्ण स्पष्टया यह घोषित करते हैं कि वे अपने शरणागत भक्तों पर सदैव कृपालु रहते हैं। परमात्मा रूप में विस्तार करके वे ज्ञानियों तथा योगियों को आशीर्वाद देने के लिए प्रत्येक के हृदय में प्रवेश नहीं करते, अपितु अपने भक्तों को भीतर से आशीर्वाद देने के लिए वे ऐसा करते हैं। यदि भगवान् अपने भक्तों को आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करके स्वयं प्रकाशित करना चाहते हैं तथा धीरे धीरे अपने निकट लाना चाहते हैं तो ऐसे भक्तों के अविद्या के वश में होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? प्रत्युत यह तो ज्ञानियों का अज्ञान है कि वे अपनी बुद्धि के बल पर परब्रह्म तक पहुँचना चाहते हैं। हम जानते हैं कि परमेश्वर अपने शरीर से निकलने वाले आध्यात्मिक तेज से अज्ञान के अंधकार को दूर कर सकते हैं। क्या ये ज्ञानी भी वैसा कर सकते हैं? कोई भी व्यक्ति अपने निजी प्रयासों से अज्ञान के अंधकार को कभी दूर नहीं कर सकता है। अपने प्रयास से प्रकाश तक पहुँचने में असमर्थ ज्ञानियों को, जैसे कि नास्तिक कपिल को, परब्रह्म को अज्ञेय तथा अव्यक्त कह कर बतलाने में काफी राहत महसूस होती है। किन्तु अव्यक्त

ब्रह्म के सिद्धान्त को मानने वाले इन ज्ञानियों पर विपदा आती है जैसा कि *भगवद्गीता* में (१२.५) कृष्ण ने पुष्टि की है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

"जिन लोगों के मन परमेश्वर के अव्यक्त, निराकार स्वरूप के प्रति आसक्त हैं, उनके लिए प्रगति कर पाना अत्यन्त कष्टप्रद है। देहधारियों के लिए उस क्षेत्र में प्रगति कर पाना सदैव दुष्कर होता है।"

अद्वैतवादी द्वारा की गई तपस्या, साधन तथा सिद्धि, दोनों ही अवस्थाओं में, कष्टप्रद होती है। निर्विशेषवादियों को ज्ञानवाद के द्वारा पदार्थ और आत्मा में एकात्म स्थापित करने में तीव्र कष्ट सहना पड़ता है। ब्रह्म को अशक्त समझते हुए वे दर्शन के द्वारा भगवान् की अपरा शक्ति को उनकी परा शक्ति के तुल्य बताने का प्रयास करते हैं और इस तरह विद्वन्मण्डली में उपहास के पात्र बनते हैं। यह सिद्ध करने के लिए कि परम सत्य असीम शक्तियों से युक्त भगवान् नहीं हो सकता, वे तर्क देते हैं कि यह तो निर्विकार ब्रह्म को सविकार ब्रह्म बनाना है। इस तरह उनका सारा तर्क संबद्धता-रहित और हास्यास्पद बन जाता है। वे *सुस्थापित परिणामवाद* या "शक्ति के रूपान्तरण" का खण्डन करने के लिए यह दोषारोपण करते हैं कि श्रील व्यासदेव का यह कथन गलत है कि भौतिक ब्रह्माण्ड तथा सारे जीव भगवान् की शक्ति के रूपान्तर हैं अतः सत्य हैं, मिथ्या नहीं है। इस तरह अद्वैतवादी अपने दार्शनिक विचार-विमर्श में समस्त वैदिक शास्त्रों तथा इनके उपवेदों के मुख्य तात्पर्य और सार को नकार देते हैं और *तत्त्वमसि* "तुम वह हो" जैसे अनावश्यक आदेशों पर बल देते हैं। वे इन गौण बातों पर चर्चा करना चाहते

हैं, किन्तु जब विद्वान वैष्णव के तर्क का सामना करना पड़ता है तो वे युद्धभूमि से पीठ दिखाते भाग जाते हैं।

अद्वैतवादी यह समझे बिना कि भगवान् दिव्य पुरुष हैं, अपनी इन्द्रियों को वश में करने, भगवान् के निराकार पक्ष को परम तथा आदि ब्रह्म रूप में ध्यान करने के व्यर्थ प्रयास करते हैं। जिस तरह बाढ़ आई हुई नदी को रोक पाना असम्भव है उसी तरह निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करते हुए इन्द्रियों को वश में करना असम्भव है। जैसा कि *श्रीमद्भगावत* में (४.२२.३९) महर्षि सनत्कुमार ने कहा है—

यत्पादपंकजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

"जो भक्तगण भगवान् के चरणकमलों के अंगूठों की सेवा में सदैव लगे रहते हैं वे सकाम कर्मों की दृढ़ गाँठ वाली इच्छाओं को आसानी से जीत सकते हैं। चूँकि यह अति कठिन है इसलिए अभक्तजन—ज्ञानी तथा योगी—यद्यपि इन्द्रियतृप्ति की तरंगों को रोकने का प्रयास करते हैं किन्तु ऐसा कर नहीं सकते। इसलिए आपको सलाह दी जाती है कि आप वसुदेव पुत्र कृष्ण की भक्ति में अपने को लगाएँ।"

भगवान् विष्णु के निर्विशेष रूप को ब्रह्म कहते हैं। अतः जब भगवान् विष्णु की श्रेष्ठ आध्यात्मिक शक्ति जीवात्मा को सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है तो यह तनिक भी चकित करने वाली बात नहीं है। शक्तिशाली सिद्धान्त अपने भीतर उनकी शक्ति को लपेटने के विशेषाधिकार को सदा भोगता रहता है। किन्तु इससे शक्ति की नित्य विशेषता नष्ट नहीं होती। निर्विशेषवादी ब्रह्म से तादात्म्य की इच्छा रखते हुए तथा यह जानते हुए कि यह सम्भव है, ब्रह्मानन्द तक पहुँचने के

अपने प्रयास में अतीव कष्ट का अनुभव करते हैं। भगवद्भक्त ऐसे मोक्ष को नरक से भी अधम मानते हैं। निर्विशेषवादी भौतिक रूपों में निहित मोह को नष्ट करने के प्रयास में नित्य आध्यात्मिक रूपों को भी छोड़ देते हैं। यह अति मूर्खतापूर्ण है। रोगी का रोग अन्त करना एक बात है, किन्तु रोग के साथ रोगी का भी अन्त कर देना निरी मूर्खता है। इस तरह *श्रीमद्भागवत* में (१०.१४.४) ब्रह्मा जी का यह आदेश है—

श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते
विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

"हे भगवान्! आपकी भक्ति आत्मसाक्षात्कार का सर्वोत्तम मार्ग है। यदि कोई इस मार्ग को छोड़ कर ज्ञान के अनुशीलन में लगता है तो उसे कष्ट ही मिलेगा और वांछित फल की प्राप्ति भी नहीं होगी। जिस प्रकार कोई व्यक्ति गेहूँ के खोखले भूसे को पीटते रहने से अन्न नहीं प्राप्त कर सकता, उसी तरह केवल चिन्तन करने वाला व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार नहीं प्राप्त कर सकता। उसे केवल कष्ट मिलता है।"

भक्त निर्विशेषवादी बनने तथा दुर्भाग्य एवं दुख को आमन्त्रित करने के बजाय भगवान् कृष्ण की शरण में जाता है और इस जगत में कभी भी कष्ट नहीं पाता। जब वह इस शरीर को त्यागता है तो वह भौतिक स्तर को लाँघ कर भगवान् की नित्यलीलाओं में भाग लेने का पात्र बन जाता है। भगवान् कृष्ण परमात्मा के रूप में भक्त को हृदय के भीतर से प्रकाशित करते हैं और उसके अंधकार को

भगाते हैं। वे भक्त को आध्यात्मिक बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वह उनको पा सके। अविद्या के सागर को पार करना अति कठिन है, किन्तु जब भक्त इसे पार करना चाहता है तो भगवान् स्वयं उसकी सहायता करते हैं। अकेले भक्त निश्चित तौर पर डूब जाएगा किन्तु भगवान् की सहायता से वह उसे आसानी से पार कर लेता है। इस तरह भव-सागर को पार करने का सबसे निश्चित उपाय भगवान् की शरण ग्रहण करना है। *भगवद्गीता* में (१२.६-७) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

"जो अपने सारे कार्यों को मुझमें अर्पित करके तथा अविचल भाव से मेरी भक्ति करते हुए मेरी पूजा करते हैं और अपने चित्तों को मुझ पर स्थिर करके निरन्तर मेरा ध्यान करते हैं, उनके लिए हे पार्थ! मैं जन्म-मृत्यु के सागर से शीघ्र उद्धार करने वाला हो जाता हूँ।"

जो लोग भगवान् कृष्ण की शरण में जाते हैं, और भगवान् के साकार रूप में अविचल श्रद्धा रखते हैं, वे अपने मानसिक तथा शारीरिक कर्मों को अन्य सारी वस्तुओं के साथ साथ उन्हें अर्पित करते हैं। शुद्ध एकान्तिक भक्ति सहित, ज्ञान कर्म या कठिन तपस्या की इच्छा से भारग्रस्त हुए बिना वे भगवान् कृष्ण के शाश्वत, सुन्दर, वंशी बजाते हुए दोभुजी रूप की पूजा करते तथा ध्यान करते हैं। ऐसे शुद्ध भक्त, जिनके हृदय कृष्ण-प्रेम से संपृक्त होते हैं, संसार

के चक्र को सरलता से पार कर लेते हैं क्योंकि कृष्ण स्वयं उनकी सहायता करते हैं। कृपालु भगवान् भक्त की भक्ति की मात्रा के अनुपात में आदान-प्रदान करने का वचन देते हैं।

निर्विशेषवादियों के मन में यही विचार घुमड़ता रहता है कि परम पुरुष निर्विशेष हैं और उनका अन्तिम लक्ष्य उस ब्रह्म में समा जाना होता है। स्वाभाविक है कि भगवान् को कोई आक्षेप नहीं होता। यदि रोगी अपना जीवन समाप्त करके रोग का अन्त करना चाहे तो उसके अतिरिक्त और कौन कष्ट पाएगा? अधिक बुद्धिमान व्यक्ति अपने जीवन का अन्त किये बिना ही अपना रोग ठीक करना चाहेगा और इस उद्देश्य से वह अपना पहले का स्वास्थ्य फिर से पाने का प्रयास करेगा। इसी तरह भवरोग से संदूषित आत्मा अपनी व्यक्तिगत पहचान को विनष्ट किये बिना अपनी शुद्ध आदि अवस्था में वापस जाना चाहेगा। भगवान् कृष्ण ऐसे व्यक्तियों को ईश्वर से एकाकार होने के प्रयास से यानी आसुरी विचार के जबड़ों से बचाना चाहेंगे। आत्मा के लिए यह आत्महत्या जैसा होगा कि वह अपनी व्यष्टिता खो दे। निर्विशेषवादी को संसार की ग्रन्थि से अपने को छुड़ाने में जो सुख मिलता है वह भगवद्भक्त को भक्ति के गौण फल के रूप में स्वतः प्राप्य हो जाता है। *नारदीय पुराण* में कह गया है—

"मनुष्य को सकाम कर्म करने या मानसिक चिन्तन द्वारा ज्ञान के अनुशीलन में नहीं लगना चाहिए। जो भगवान् नारायण का भक्त है वह अन्य विधियों से यथा योग, ज्ञान, अनुष्ठान, यज्ञ तथा दान से मिलने वाले समस्त लाभ प्राप्त कर सकता है। भक्ति का यह विशेष वरदान है।"

कृष्ण-कर्णामृत में (१०७) बिल्वमंगल ठाकुर कहते हैं—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवान् यदि स्याद्
दैवेन नः फलति दिव्यकिशोरमूर्तिः।
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मान्
धर्मार्थकाममगतयः समयप्रतीक्षाः॥

"हे प्रभु! यदि आपके प्रति हमारी भक्ति अविचल हो तो आपका नित्य यौवनपूर्ण रूप हमारे हृदय के भीतर स्वतः प्रकट होगा। उस समय साक्षात् मुक्ति एक दासी की तरह हमारी सेवा करेगी और धर्म, अर्थ तथा काम (वेदों के तीन अन्य लक्ष्य) हमारे आदेश की प्रतीक्षा करेंगे।"

या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये।
तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः॥

"यदि कोई नारायण का शरणागत भक्त हो तो जीवन की सिद्धि प्राप्त करने के लिए जो भी सामान्य आवश्यकताएँ चाहिए उनके बिना ही वह उस सिद्धि को पा लेगा।" (*नारदीय पुराण*)

आध्यात्मिक विज्ञान की कथाएँ

भौतिक जगत की ज्वाला को बुझाना

कोटि-जन्मे ब्रह्म-ज्ञाने येइ 'मुक्ति' नय
एइ कहे- "नामाभासे सेइ 'मुक्ति' हय"।

"करोड़ों जन्मों के बाद परम ज्ञान में पूर्ण होने पर भी मनुष्य को मुक्ति न मिल पाए, फिर भी वही मनुष्य कहता है कि पवित्र नाम की झलक मात्र से इसे प्राप्त किया जा सकता है।"

—(चैतन्य चरितामृत अन्त्यलीला ३.१९४)

श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी के पिता हिरण्य मजूमदार तथा चाचा गोवर्धन मजूमदार सप्तग्राम के चन्द्रपुर नामक प्राचीन गाँव के बहुत बड़े जमींदार थे। इनके एक कर्मचारी गोपाल चक्रवर्ती ने, जो जन्म से ब्राह्मण था, वैष्णव सन्त श्रील हरिदास ठाकुर को शास्त्रों पर वादविवाद में उलझा लिया। यह ब्राह्मण निरा ज्ञानी था और ये वैष्णव सन्त भगवान् कृष्ण के नाम कीर्तन के परम अधिकारी थे। ब्राह्मण ने श्रील हरिदास से पूछा कि अनुभूति की किस अवस्था में मुक्ति प्राप्त की जाती है। श्रील हरिदास ने शास्त्रों से अनेक उपयुक्त श्लोक उद्धृत करते हुए बताया कि जिस तरह चोर, भूत, प्रेत जैसे रजनीचरों का भय सूर्योदय की पहली किरण के दिखते ही छूमन्तर

हो जाता है उसी तरह शुद्ध कीर्तन के बहुत पहले ही, नाम-आभास अवस्था में, जो कि पवित्र नाम के कीर्तन की मार्जन अवस्था है, सभी पाप और अपराध मिट जाते हैं और मुक्ति प्राप्त की जाती है। एकमात्र मुक्त, बढ़ा-चढ़ा व्यक्ति ही भगवान् का नाम शुद्ध रीति से ले सकता है और इस तरह सर्वोच्च अनुभूति यानी ईश्वर का निष्कलुष प्रेम प्राप्त कर सकता है। वह ज्ञानी ब्राह्मण जो मिथ्यावाद में 'अत्यधिक लिप्त था' सन्त के उपदेशों की गहराई नहीं जान सका, इसलिए उसने उनका अपमान कर दिया। मूर्ख ब्राह्मण ने पवित्र नाम की उत्कृष्टता के विषय में अपनी व्याख्या लादनी चाही और उसने यह निष्कर्ष निकाला कि हरिदास ठाकुर निरे भावनावादी हैं। उसने सब के सामने अशिष्टता-पूर्वक इस सन्त को डाँटा और उनकी व्याख्या तथा चरित्र का मजाक उड़ाना चाहा।

तर्कप्रिय निर्विशेषवादी यह समझ नहीं पाते कि परब्रह्म के विज्ञान को ठीक से समझे बिना भगवान् में दृढ़ भक्ति उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसलिए जब कोई व्यक्ति शुद्ध भक्ति के पद को प्राप्त दिखे तो यह समझना चाहिए कि उसका अज्ञान मिट गया है। हम इसकी व्याख्या 'भक्तियोग' शीर्षक पिछले निबन्ध में विस्तार से कर चुके हैं। ज्ञानी लोग यह विचार प्राय: प्रस्तुत करते हैं कि मनुष्य-जीवन पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए मिला है। उनके अनुसार ज्ञान का अर्थ है मोह से सत्य को विलग करने की शक्ति। वे मोह को समूल नष्ट करके तथा यह स्थापित करके कि सत्य तथा वास्तविकता ब्रह्म से अभिन्न हैं, ब्रह्म में तदाकार हो जाना चाहते हैं। तो यह है पूर्ण ज्ञान की उनकी परिभाषा और इस ज्ञान को वे जन्म-जन्मान्तर पाना चाहते हैं। वे घोषित करते हैं कि जब ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय, ये तीनों एक बन जाते हैं जो अन्त में ब्रह्म से तदाकार होकर मुक्ति

प्रदान करती है तो ज्ञान की सर्वोच्च दशा प्राप्त होती है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मुक्ति की इस दशा का वर्णन— *भव-महादावाग्नि निर्वापनम्* — कह कर किया है जिसका अर्थ है "संसार रूपी ज्वाला का शमन।" उन्होंने शास्त्रों से अनेक श्लोक उद्धृत करते हुए सिद्ध किया कि शुद्ध भक्त ईश्वर के पवित्र नामों का कीर्तन करके इस मुक्ति-दशा को सरलता से प्राप्त करता है।

दुर्भाग्यवश, ये जिद्दी निर्विशेषवादी यह नहीं समझ पाते कि अन्तिम आध्यात्मिक गन्तव्य, जो कि चार वैदिक लक्ष्यों (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) से परे है, नितान्त शुद्ध एवं दिव्य भगवत्प्रेम है। वे भ्रमवश भगवद्भक्तों को भावनावादी और अपना दार्शनिक विरोधी मानते हैं। इन नितान्त निर्विशेषवादियों के अतिरिक्त भक्तों का एक और समूह है जो भक्ति से विपथ होकर दिखावे का शिकार हो चुके हैं। ये ठग परमेश्वर से एकाकार होने के निर्विशेषवादियों के पथ का अनुसरण करते हैं। ऐसे भौतिकतावादी भावनावादी भगवद्भक्तों में नहीं गिने जाते। ये भी निर्विशेषवादियों की तरह भगवान् के नाम, रूप, गुणों, लीलाओं, पार्षदों या साज-सामान की सही स्थिति को समझ नहीं पाते क्योंकि वे इन दिव्य विषयों को भ्रामक मानते हैं। वे मनमाना व्यवहार करके जनता को भ्रमित कर देते हैं।

ये भौतिकतावादी भावनावादी लोग श्रील रूपगोस्वामी के आध्यात्मिक निष्कर्षों का बहिष्कार करके निर्विशेषवाद की शरण लेने का प्रयास करते हैं। किन्तु उनमें निर्विशेषवादियों के पांडित्य तथा अनुशासन का अभाव रहता है। वे निर्विशेषवादियों के शास्त्र-अध्ययन तथा दार्शनिक विचार-विमर्श से अपने को विलग कर लेते हैं और शास्त्र-चर्चा को शुष्क ज्ञान तथा उनके अभिज्ञ भावुक प्रकोप को सहज भक्ति का जोश समझते हैं।

इन वंचकों में से कुछ तो निर्विशेषवादियों के पदचिन्हों पर चलते हैं, इसलिए उन्हें निर्विशेषवादी पंक्ति की विक्षिप्त शाखा माना जा सकता है। किन्तु ये श्रील रूपगोस्वामी की परम्परा द्वारा अनुचालित वैष्णव अनुशासन के अंग बिल्कुल नहीं हैं। ये वंचक भक्तों के बद्ध आचार-विचारों का मेहनत करके अनुशीलन करते हैं और उनका प्रदर्शन करते हैं जिसके कारण निर्विशेषवादी उन्हें अपने खेमे से बहिष्कृत कर देते हैं। इस तरह निर्विशेषवादी तथा वैष्णव, दोनों के ही द्वारा निर्वासित ये उन्मत्त भावनावादियों का सम्प्रदाय बनाते हैं। श्रील रूपगोस्वामी कहते हैं कि ऐसे वंचक आध्यात्मिक समाज में उत्पात मचाते हैं। *ब्रह्मयमाल* में कहा गया है—

श्रुतिस्मृतिपुराणादि पञ्चरात्रविधिम् विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

"वह भगवद्भक्ति जो उपनिषद, पुराण तथा नारद पञ्चरात्र जैसे प्रामाणिक वैदिक ग्रन्थों की उपेक्षा करती है वह समाज में व्यर्थ उत्पात ही है।"

ऐसे वंचकों, निर्विशेषवादियों, ज्ञानियों तथा कर्मियों पर दया दिखाने के लिए भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में ज्ञान योग की विवेचना की है। अत: इस लेख में मैं उसी विषय पर आ जाता हूँ।

असली ज्ञान का अर्थ है सत्य तथा मोह में अन्तर करना। ज्ञान योग वह विधि है जिससे मनुष्य उन भगवान् की दिव्य भक्ति के मार्ग में सदा के लिए स्थिर हो जाता है जो परमात्मा तथा ब्रह्म के उद्गम हैं। ज्ञान योग को कभी भी जिज्ञासा की आरोह विधि नहीं समझना चाहिए जिसका उद्देश्य क्रमश: असत्य का तिरस्कार करके मोह से सत्य को पृथक करना है। उन भगवान् की सेवा किये

बिना पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर पाना असम्भव है जो समस्त ऐश्वर्यों तथा शक्तियों से पूर्ण हैं, जिनके शरीर की कान्ति ब्रह्मज्योति है और जिनका अंश परमात्मा है। गोपाल चक्रवर्ती नामक ब्राह्मण का विश्वास था कि ज्ञान भगवद्भक्ति से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। किन्तु *चैतन्य-चरितामृत* में (अन्त्य ३.२०१) यह अंकित है कि—

बलाइ-पुरोहित तारे करिला भर्त्सन
"घट-पटिया मूर्ख तुमि भक्ति काँहा जान?"

"बलराम आचार्य नामक पुरोहित ने गोपाल चक्रवर्ती को डाँटा, "तुम मूर्ख तार्किक हो। तुम भगवद्भक्ति के बारे में क्या जानो?"

यदि कोई भगवद्भक्त होने का स्वाँग भरता है, किन्तु शुष्क ज्ञान तथा परब्रह्म के ज्ञान के अन्तर को नहीं समझता तो ऐसे व्यक्ति की भक्ति निर्विशेषवादी की सीमा पर होती है और सस्ते भावनावाद के तुल्य है जो कि श्रील रूपगोस्वामी की शिक्षाओं के सर्वथा विपरीत है। इसलिए ज्ञान योग चिन्तन या आनुभविक शोध नहीं; न ही भक्त का स्वाँग करने वाले छिछोरे का एकाएक भावनात्मक उद्गार है। असली ज्ञान योग का अभ्यास करके ज्ञानी दार्शनिक भी शास्त्रों से शुद्ध आध्यात्मिक विषयों को सुनने की रुचि उत्पन्न कर लेगा। फिर वह परमेश्वर के दिव्य पद तथा शक्ति को समझेगा और अन्त में भगवान् के रूप का आस्वादन करेगा जो शाश्वत है तथा ज्ञान एवं आनन्द से पूर्ण है। वह भगवान् को समस्त दिव्य रसों का साकार रूप अनुभव करेगा। यदि ज्ञानियों की नकल करने वाले दिखावटी अभक्त भावनावादी असली ज्ञान योग का अभ्यास करें तो उन्हें भी परब्रह्म का सही सही परिचय प्राप्त हो सकेगा। वे यह अच्छी तरह समझ सकेंगे कि भगवान् का रूप आध्यात्मिक और दिव्य है और

तब वे उनकी अविचल भक्ति करना शुरू कर देंगे।

चैतन्य चरितामृत में (आदि २.११७) श्रील कृष्णदास कविराज सलाह देते हैं—

सिद्धान्त बलिया चित्ते ना कर अलस
इहा हइते कृष्णे लागे सुदृढ़ मानस

"निष्ठावान छात्र को चाहिए कि ऐसे शास्त्रीय निर्णयों की विवेचना को विवादास्पद मान कर अनदेखी न करे क्योंकि ऐसी विवेचनाएँ मन को दृढ़ बनाती हैं। इस तरह उसका मन श्रीकृष्ण के प्रति आसक्त होता है।"

ऐसी विवेचना तथा जिज्ञासा से ही हम अवगत होते हैं कि हम जीव यानी व्यष्टि आत्मा हैं जिसपर हमारे शरीर तथा मन क्षणिक मोहमयी बाध्यताओं के रूप में हैं।

शास्त्रों में जीव को भगवान् की श्रेष्ठ दिव्य शक्ति के रूप में *क्षेत्रज्ञ* तथा क्षणिक भौतिक देह तथा मन को *क्षेत्र* कहा गया है। जिस तरह व्यष्टि शरीर तथा मन के सन्दर्भ में जीव क्षेत्रज्ञ है उसी तरह अपने विराट् विश्वरूप में भगवान् क्षेत्रज्ञ हैं। *भगवद्गीता* में (१३.३) भगवान् कृष्ण हमें सूचित करते हैं—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत*—हे भारत! तुम यह समझ लो कि मैं सभी शरीरों का ज्ञाता भी हूँ।

इसलिए जीव तथा परमेश्वर इस अर्थ में अभिन्न हैं कि दोनों ही क्षेत्रज्ञ हैं। किन्तु जब हम यह देखते हैं कि उनमें से हर एक किस क्षेत्र को जानता है तो जीव तथा परमेश्वर के बीच का अन्तर बहुत ही विशाल दिखता है। परमेश्वर अनन्त है जबकि जीव अति सूक्ष्म। चेतना के रूप में जीव सारे शरीर तथा मन में व्याप्त रहता

है जिन्हें उसने अपने कर्म के फलस्वरूप अर्जित किया है। इसी प्रकार परमेश्वर समस्त सृष्टि—अपने विश्व शरीर में—अपनी चेतना के सहित व्याप्त है। यद्यपि जीव निर्विशेष चेतना के रूप में पूरे शरीर में व्याप्त रहता है किन्तु वह सदैव पुरुष है। इसी तरह यद्यपि परमेश्वर अपने निर्विशेष सर्वव्यापक रूप में अपनी चेतना से विराट विश्व को संपृक्त करते हैं किन्तु अपने साकार रूप में वे सदैव गोलोक वृन्दावन में लीलारत रहते हैं। इसकी पुष्टि *ब्रह्मसंहिता* से (५.३७) होती है: *गोलोक एव निवसत्यखिलात्म-भूतो*—यद्यपि भगवान् गोलोक नामक अपने धाम में सदैव वास करते हैं, किन्तु वे सर्वव्यापक ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा भी हैं। भगवान् ने स्वयं भी *भगवद्गीता* में *क्षेत्र* तथा *क्षेत्रज्ञ* के कार्यों की विवेचना की है और वे कहते हैं कि वे *क्षेत्रज्ञ* (ज्ञाता) के रूप में पूरी सृष्टि में उपस्थित हैं।

ज्ञानी लोग क्षेत्र तथा *क्षेत्रज्ञ* का वर्णन अपने एकांगी तर्क के अनुसार करते हैं। उनका कहना है कि शरीर एक पात्र के समान है और ब्रह्म इस पात्र में सर्वव्यापक आकाश की भाँति प्रवेश करता है। इस पात्र के टूटने भर की बात है अर्थात् मोक्ष के समय, जीव आकाश के प्रतीक रूप ब्रह्म में पुनः समा जाता है। इस तर्क में अनेक दोष हैं। पहला यह कि जीव आध्यात्मिक शक्ति है जबकि आकाश पदार्थ है। अतः आध्यात्मिक विषय की तुलना भौतिक पदार्थ से करना गलत है। यह इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है कि किस तरह निर्विशेष चिन्तक अपना सारा समय आध्यात्मिक वस्तु तथा संसारी वस्तुओं को एकसमान बताने में बर्बाद करते हैं। ऐसे अभ्यासों को ज्ञान योग नहीं कहा जा सकता। निर्विशेषवादियों के अनुसार सूक्ष्म जीव मुक्ति के समय अनन्त ब्रह्म में मिल जाता है। किन्तु ऐसे मिलन से अनन्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दुर्भाग्यवश निर्विशेषवादी उस

विपुल क्षति को भूल जाते हैं जो सूक्ष्म जीव को ऐसी मुक्ति से होती है।

भक्ति का वास परम के पूर्ण ज्ञान में है

यदि सूक्ष्म आत्मा अपनी सत्ता को या अपने मूल व्यक्तित्व को अनन्त में मिला देता है तो वह व्यष्टित्व व्यर्थ हो जाता है। जो लोग अपने व्यष्टित्व की बलि देकर आध्यात्मिक आत्महत्या करना चाहते हैं उनकी अपनी ही एक नस्ल होती है। ऐसे आत्मघाती लोग शुद्ध अद्वैतवादी कहलाते हैं। दूसरी ओर, वे लोग हैं जो अपना व्यष्टित्व बनाये रखना चाहते हैं। वे द्वैतवादी या सगुणवादी हैं।

एकबार जीव द्वारा अपना आदि दिव्य स्वभाव प्रकट कर देने पर वह भौतिक बन्धन से आसानी से मुक्त हो जाता है। फिर भी, ऐसी उच्च अवस्था में भी वह आत्मा के रूप में अपनी व्यष्टि पहचान नहीं खोता। वस्तुतः उस शुद्ध अवस्था में वह भगवान् की नित्य सेवा में लग जाता है और दिव्य आनन्द रूपी अमृत का आस्वादन करता है।

क्षेत्र तथा *क्षेत्रज्ञ* विषय पर सारे जगत में न जाने कब से शोध कार्य चल रहा है। भारत में छह दार्शनिक स्कूलों* ने इस विषय पर विस्तार से विवेचना की है किन्तु यह विवेचना तर्क तथा कुतर्क तक सीमित रही है जिससे मुनियों में मतभेद पैदा हो गए हैं। अतः इनमें से किसी भी संप्रदाय ने ज्ञानयोग का सही ढंग से अभ्यास नहीं किया। जब क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ की विवेचना को

*छह दार्शनिक विचारधाराएँ तथा उनके प्रतिपादक हैं— सांख्य— कपिल (नास्तिक); पतञ्जलि योग— पतञ्जलि; न्याय— गौतम, वैशेषिक— कणाद, मीमांसा— जैमिनि तथा वेदान्त— व्यासदेव)

भगवान् की सेवा में व्यवहृत किया जाता है तभी यह अभ्यास ज्ञान योग बन जाता है।

ज्ञान योग की विधि का पूरा पूरा विवरण *वेदान्त सूत्र* में दिया गया है। भगवान् कृष्ण *वेदान्त सूत्र* को प्रमाण मानते हैं और दार्शनिक प्रस्तुति को सही मानते हैं। आज तक प्रत्येक मत, यहाँ तक कि निर्विशेषवादी स्कूल में भी, अपनी अदार्शनिक सत्ता को *वेदान्त सूत्र* पर आधारित करता आया है। और *श्रीमद्भागवत* तो *वेदान्त सूत्र* पर प्राकृतिक तथा निर्दोष भाष्य है ही। यह श्रीचैतन्य महाप्रभु का मत है।

विद्वज्जगत में *वेदान्त सूत्र* के भाष्य से विहीन कोई भी परम्परा अप्रामाणिक तथा व्यर्थ मानी जाती है। श्रीपादशंकराचार्य कृत वेदान्त भाष्य 'शारीरक भाष्य' निर्विशेष अद्वैतवादी संप्रदाय का प्रमुख भाष्य है। वैष्णवों में श्रीपाद रामानुजाचार्य के भाष्य के अतिरिक्त श्रीबलदेव विद्याभूषण कृत 'गोविन्दभाष्य' श्रीचैतन्य महाप्रभु की परम्परा में, जिसे माध्वगौडीय सम्प्रदाय कहते हैं, प्रमुख भाष्य है।

जो लोग शास्त्रों के गोपनीय निष्कर्षों पर गम्भीर विवेचना करना चाहते हैं उन्हें निश्चय ही *वेदान्त-सूत्र* के दर्शन में गोते लगाना होगा। जिस बात पर बल देना है वह यह है कि एक पटु वेदान्त दार्शनिक शंकराचार्य की परम्परा का दार्शनिक न होकर वास्तव में एक वैष्णव गुरु या मुक्तात्मा होता है।

वेदों तथा मुनियों के अनुसार प्रकृति के पाँच स्थूल तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। भौतिक प्रकृति की उत्पत्ति अहंकार, महत्-तत्त्व तथा प्रकृति (महत्तत्त्व का कारण) के संयोग से होती है। ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की संख्या पाँच पाँच है। मन छठी ज्ञानेन्द्रिय है। रूप, स्वाद गन्ध, स्पर्श तथा ध्वनि ये पांच इन्द्रियविषय

हैं।

नास्तिक कपिल के सांख्य दर्शन का वर्णन करते समय हम इन भौतिक तत्वों को गिना चुके हैं। क्षेत्र उपर्युक्त २४ तत्वों का संयोग है। जब ये चौबीसों तत्व परस्पर अन्तर्क्रिया करते हैं तो भौतिक प्रकृति रूपान्तरित होकर स्थूल भौतिक शरीर को जन्म देती है जिसमें पाँच स्थूल तत्व (पंचमहाभूत) रहते हैं जो भौतिक इच्छाओं, घृणा, हर्ष, शोक आदि के परिणाम हैं। मन तथा इच्छा के रूप में चेतना की छाया उस क्षेत्र के रूपान्तर हैं।

अब इसकी विवेचना की जाएगी कि क्षेत्रज्ञ क्षेत्र तथा इसके रूपान्तरों से पूर्णतया भिन्न है। किन्तु क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी ज्ञान को ठीक तरह से समझने के लिए मनुष्य में कम से कम २० सद्गुण होने चाहिए जिनकी सूची *भगवद्गीता* में (१३.८-१२) दी हुई है—

"विनम्रता; दम्भहीनता; अहिंसा; सहिष्णुता; सरलता; प्रामाणिक गुरु के पास जाना; पवित्रता; स्थिरता; आत्मसंयम; इन्द्रियतृप्ति के विषयों का परित्याग; मिथ्या अहंकार का अभाव; जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोग के दोषों की अनुभूति; वैराग्य; सन्तान, पत्नी, घर तथा अन्य वस्तुओं की ममता से मुक्ति; अच्छी तथा बुरी घटनाओं के प्रति समभाव; मेरे प्रति निरन्तर अनन्य भक्ति; एकान्त स्थान में रहने की इच्छा; जन समूह से विलगाव; आत्म-साक्षात्कार की महत्ता को स्वीकारना; तथा परमसत्य की दार्शनिक खोज—इन सब को मैं ज्ञान घोषित करता हूँ और इनके अतिरिक्त जो भी है वह सब अज्ञान है।"

इन गुणों से रहित व्यक्ति आध्यात्मिक विषयों की विवेचना करने के लिए योग्य नहीं होते। मिथ्या तर्कशास्त्री इन उपर्युक्त गुणों को जो बद्धजीव को मुक्ति दिलाते हैं, मन के विकारों के फलस्वरूप

अर्जित संसारी गुण यथा काम, क्रोध, तथा घृणा मान बैठते हैं। किन्तु उपर्युक्त गुण वास्तव में आध्यात्मिक ज्ञान हैं। यदि मिथ्या तर्कशास्त्रियों के इस तर्क को मान लिया जाय कि गीता में कृष्ण द्वारा उल्लिखित गुण, जो परम ज्ञान के लिए आवश्यक हैं, मानसिक विकार हैं तो भी हम यह नहीं मानते कि ये विकार निपट अज्ञान से उत्पन्न काम, क्रोध, लोभ जैसे गुणों के तुल्य हैं। एक प्रकार का मानसिक विकार आत्मा को भ्रष्टाचार तक नीचे ले जा सकता है और दूसरे प्रकार का विकार विनाश से विमुक्त कर सकता है। रोग तथा औषधि दोनों ही भौतिक प्रकृति के प्रतिफल हैं; फिर भी एक मनुष्य को मौत के मुख में ढकेल देता है और दूसरा उसे विनाश से बचा सकता है। इसलिए *यत मत तत पथ*—सारे मार्ग सत्य तक पहुँचते हैं—जैसे मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त को स्वीकार करके और इस आधार पर रोग तथा औषधि को एक मानकर जग-हँसाई से बचना चाहिए।

कृष्ण द्वारा सूचीबद्ध किये गये बीस गुणों में से एक गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय है और यह है—*मयि चानन्य-योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी*—मेरी निरन्तर तथा शुद्ध भक्ति। अन्य गुणों की आवश्यकता चेतना को परिमार्जित करने के लिए पड़ती है। एक बार मन रूपी दर्पण स्वच्छ हो जाय तथा संसार रूपी प्रज्ज्वलित अग्नि शमित हो जाय तो कृष्ण की निरन्तर तथा शुद्ध भक्ति का उदय हृदय रूपी क्षितिज में होने लगता है। परम सन्त गुरु श्रील नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है, "कब मेरा मन शुद्ध होकर पदार्थ से विलग होगा?" ओह! कब मैं उस शुद्ध अवस्था में वृन्दावन के दिव्य स्थल को देख सकूँगा?"

यह जान लेना रोचक होगा कि यदि एक बार किसी व्यक्ति के हृदय में भगवान् कृष्ण की शुद्ध भक्ति पुष्पित होती है तो शेष

१९ गुण स्वतः उसमें प्रकट हो उठते हैं। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (५.१८.१२) कहा गया है—*यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।*

"सारे देवता तथा उनके सद्गुण यथा धर्म, ज्ञान तथा त्याग उसके शरीर में प्रकट होते हैं जिसने भगवान् वासुदेव के प्रति शुद्ध भक्ति विकसित कर ली है।"

यदि कोई धैर्यपूर्वक प्रतिदिन दस, बीस, तीस रुपये एकत्र करे तो किसी दिन उसके पास लाखों रुपये हो जाएँगे। किन्तु यदि किसी को एकसाथ इतने रुपये मिल जाएँ तो उसे दस, बीस, या तीस रुपये फुटकर रूप में एकत्र करने तथा समय नष्ट करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसी तरह जब कोई व्यक्ति भगवान् कृष्ण के प्रति शुद्ध भक्ति विकसित कर लेता है तो उपर्युक्त अन्य सारे गुण बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के उस व्यक्ति को स्वतः अलंकृत करते हैं। दूसरी ओर, यदि कोई भगवान् कृष्ण की शुद्ध भक्ति को एक ओर छोड़कर अन्य १९ गुणों का अलग से अनुशीलन करने का प्रयास करे तो हो सकता है उसे सम्पत्ति तथा सम्मान प्राप्त हो ले, किन्तु सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त करने के लिए वह अयोग्य बन जाएगा। *श्रीमद्भागवत* के उसी उपर्युक्त श्लोक (५.८.१२) में ही प्रह्लाद महाराज कहते हैं—*हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः*—

"दूसरी ओर, भक्ति से शून्य तथा भौतिक कार्यों में संलग्न व्यक्ति में कोई सद्गुण नहीं पाया जाता। यहाँ तक कि यदि वह योगाभ्यास में दक्ष हो या अपने परिवार तथा सम्बन्धियों के पालन-पोषण में ईमानदारी से प्रयत्नशील हो तो वह अपने मानसिक चिन्तन से संचालित होकर उसे भगवान् की बहिरंगा शक्ति की सेवा में लग जाएगा। भला ऐसे व्यक्ति में कोई सद्गुण कैसे आ सकता है?"

भगवान् के चरणकमलों के प्रति अनादर करके तथा भक्तियोग का परित्याग करके विनयशीलता तथा अहिंसा जैसे सद्गुणों का दिखावा व्यर्थ है। भले ही ऐसे तथाकथित सद्गुणों का कुछ भौतिक मूल्य हो, किन्तु अन्ततः वे व्यर्थ तथा क्षणिक होते हैं। वस्तुतः अन्य उन्नीस गुण मिलाकर ऐसे सिंहासन का निर्माण करते हैं जिस पर से अनन्य भक्ति शासन चला सकती है। ये गुण परब्रह्म के विविध अंग हैं और इस परम ज्ञान के बाहर की हर वस्तु अविद्या है।

ज्ञान के इन अंगों के अनुशीलन से आत्म-साक्षात्कार प्राप्त किया जाता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य क्षेत्र के संसारी ज्ञान के स्तर से क्षेत्रज्ञ के आध्यात्मिक ज्ञान के स्तर तक ऊपर उठ जाता है। हम पहले ही यह व्यक्त कर चुके हैं कि क्षेत्रज्ञ शब्द जीव तथा परब्रह्म दोनों को बताता है। कभी कभी प्रकृति को ब्रह्म कहा जाता है। इसका कारण यह है कि ब्रह्म प्रकृति का कारण है। एक तरह से कार्य तथा कारण अभिन्न हैं। किन्तु भगवान् कृष्ण ब्रह्म के चरम स्रोत हैं। भगवान् ब्रह्म के बीज से, जिसे जीव कहते हैं, प्रकृति रूपी ब्रह्म को गर्भस्थ करते हैं, *भगवद्गीता* में (१४.३) कृष्ण कहते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

"हे भरतपुत्र! ब्रह्म नामक समग्र भौतिक तत्त्व जन्म का स्रोत है और मैं इसी ब्रह्म को गर्भस्थ करता हूँ, जिससे समस्त जीवों का जन्म सम्भव होता है।"

इसी श्लोक में उपनिषदों की सुप्रसिद्ध कहावत *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* की व्याख्या हुई है जिसका अर्थ है "हर वस्तु ब्रह्म है।" दूसरे

शब्दों में, परब्रह्म भगवान् कृष्ण जीव तथा प्रकृति दोनों से अभिन्न है, क्योंकि ये सभी ब्रह्म हैं। इस तरह एक अर्थ में सारे वैष्णव शुद्ध अद्वैतवादी हैं।

इसके पूर्व हम *भगवद्गीता* के एक अन्य श्लोक (९.१०) की व्याख्या कर चुके हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरी शक्तियों में से एक है और मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है जिससे सारे चर तथा अचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। उसके शासन में यह जगत् बारम्बार सृजित और विनष्ट होता रहता है।"

इस तरह विवेचनाधीन गीता का श्लोक (१४.३) अन्य श्लोक (९.१०) की अधिक स्पष्ट जानकारी देता है।

पदार्थ के प्रति आसक्ति से मन का शुद्ध होना

सर्वं खल्विदं ब्रह्म—इस उपनिषदिक सूक्ति के अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम *विष्णुपुराण* का एक श्लोक (१.२२.५६) उद्धृत करते हैं—

एक देशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्॥

"अग्नि यद्यपि एक स्थान पर रहती है किन्तु अपना प्रकाश चारों ओर बिखेरती है। इसी तरह परब्रह्म सर्वत्र शक्ति को बिखेरता है जो इस भौतिक जगत के रूप में प्रकट होती है।"

मायावादी लोग अपनी दार्शनिक व्याख्याओं में परमेश्वर की विविध शक्तियों के अस्तित्व से इनकार करते हैं। ऐसे घटिया वाद-विवाद बचकानी स्तर के हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार, मायावादियों में ज्ञान की कमी होती है, इसलिए वे यह नहीं समझ पाते कि परब्रह्म छह ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं। अतः भगवान् कृष्ण ने इन बेचारे मायावादी निर्विशेषवादियों को दार्शनिक दरिद्रता से बचाने के लिए *भगवद्गीता* में (७.१९) दयापूर्वक उपदेश दिया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्म-जन्मान्तर के बाद जिसे सचमुच ज्ञान होता है वह मुझको समस्त कारणों का कारण जानकर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।"

कहावत है "बँधी गाय रस्सी की लम्बाई तक ही घूम सकती है।" इसी तरह, जो परम ज्ञान की खोज के लिए आगमनात्मक विधि का प्रयोग करते हैं वे असफल होते हैं। उनका प्रयास विफल होता है क्योंकि संसारी मन से पारलौकिक को जाना नहीं जा सकता। अपवित्र, आसुरी मन से परब्रह्म का पूर्ण ज्ञान असम्भव है। जब आसुरी वृत्ति वाले लोग सर्वशक्तिमान भगवान् को निर्विशेष ब्रह्म बतलाने का प्रयास करते हैं तो सभी तथाकथित दार्शनिक वाद-विवाद परम ज्ञान के क्षेत्र अथवा अद्वैतवाद की सत्यता की खोज करने में असफल रह जाएंगे। एकमात्र वैष्णवजन ही ऐसे ज्ञान का अनुशीलन करने के पात्र हैं।

परन्तु सारे निर्विशेषवादी आसुरी नहीं होते। जैसे ही किसी निर्विशेषवादी को अनुभूति होती है कि परब्रह्म ऐसा व्यक्ति है जो समस्त दिव्य

गुणों से युक्त होता है तो वह तुरन्त उसकी सेवा करने लगता है। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में (१.७.१०) हुई है—

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

"सभी प्रकार के आत्माराम, विशेषतया जो आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर दृढ़ रूप से स्थित हैं, यद्यपि समस्त प्रकार के भव-बन्धनों से मुक्त होते हैं, भगवान् की शुद्ध भक्ति करने की इच्छा करते हैं। इसका अर्थ है कि भगवान् में दिव्य गुण रहते हैं, अतएव वे सभी को, जिसमें मुक्तात्माएँ सम्मिलित हैं, आकृष्ट कर सकते हैं।"

उस महात्मा को ढूँढ पाना कठिन है जो भगवान् के दिव्य गुणों के प्रति आकृष्ट हो और इस तरह उनकी शरण में जाता हो। परमेश्वर की शरण वही ग्रहण कर सकता है जो उनके व्यक्तित्व को उनसे लूटना नहीं चाहता अपितु भौतिक प्रकृति को उनकी विविध शक्तियों का रूपान्तर मानता है। इस तरह मायावादी कभी भी महात्मा नहीं कहला सकते जब वे यह अनुभव करते हैं कि अद्वैत परब्रह्म षड् ऐश्वर्ययुक्त भगवान् के अतिरिक्त और कुछ नहीं, तभी वे महात्मा कहला सकते हैं।

वैष्णव महात्माओं ने *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* सूक्ति की विवेचना इस तरह से की है: विशिष्टाद्वैत नामक दार्शनिक स्कूल इस विचार की स्थापना करता है कि परमेश्वर अपनी दो प्रधान शक्तियों—चित्शक्ति तथा अचित्शक्ति—के साथ सदा विद्यमान रहता है। यद्यपि भगवान् एक अद्वैत सत्ता है किन्तु वह चित् तथा अचित् नामक शक्तियों के अन्तर्गत जिन्हें वह पूर्ण नियंत्रण में रखता है, अपनी विविध शक्तियों को प्रकट करके गतिशील रूप में विद्यमान रहता है। यद्यपि

वह असीम शक्तियों का स्रोत है फिर भी वह अपने दिव्य साकार रूप में शाश्वत विद्यमान रहता है। यह स्वरूप तीन प्रकार से प्रकट होता है—जिस रूप में वह स्वयं को देखता है, जिस रूप में प्रिय भक्त उसे देखता है तथा जिस रूप में उसके शत्रु तथा प्रतियोगी उसे देखते हैं। श्रीरामानुजाचार्य इत्यादि की यह श्रीवैष्णव परम्परा उसी श्लोक को उद्धृत करती है जिसे हमने भगवान् तथा उनकी शक्तियों की विवेचना करने के लिए ऊपर उद्धृत किया है—

"अग्नि यद्यपि एक स्थान पर रहती है किन्तु अपना प्रकाश चारों ओर बिखेरती है। इसी तरह परब्रह्म अपनी शक्ति सर्वत्र बिखेरता है जो इस भौतिक जगत के रूप में प्रकट होती है।"

इस तरह सम्पूर्ण सृष्टि भगवान् के अस्तित्व का प्रमाण है। जो जानकार है वह समझता है कि परब्रह्म ही भगवान् है जो समस्त शक्तियों के स्रोत तथा नियामक रूप में शाश्वत विद्यमान है। महात्माओं को इस ज्ञान की पूरी अनुभूति है और वे भगवान् की चित् शक्ति की शरण में जाकर भगवान् की प्रेमाभक्ति करते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में (९.१३-१४) भगवान् कृष्ण ने की है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

"हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतः भक्ति में निमग्न रहते हैं क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं। ये महात्मा मेरी महिमा का नित्य कीर्तन करते हुए, दृढ़ संकल्प के साथ प्रयास करते हुए, मुझे नमस्कार

करते हुए, भक्तिभाव से निरन्तर मेरी पूजा करते हैं''

ज्ञानियों तथा तर्कशास्त्रियों के साथ साथ मायावादियों को—जो दर्शन की आगमनात्मक विधि पर निर्भर रहने वाले नौसिखिया हैं—ठीक से भगवान् के शुद्ध भक्त की, जिसने परब्रह्म का साक्षात्कार किया हो, स्थिति को समझना चाहिए। *भगवद्गीता* में (४.२३) कृष्ण ने भक्तों के कार्य-कलापों की यह व्याख्या की है।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

''जो पुरुष प्रकृति के गुणों में अनासक्त है और जो दिव्य ज्ञान में पूर्णतया स्थित है उसके सारे कर्म ब्रह्म में समा जाते हैं।''

यज्ञ के रूप में किये गये सारे कार्य भक्ति ही हैं। संस्कृत शब्द *यज्ञ* का अन्य अर्थ भगवान् विष्णु भी होता है। दिव्य भक्ति के रूप में अपने कर्म करना केवल उन महात्माओं के लिए सम्भव है जो पूर्णतः परब्रह्म को प्राप्त हैं। पुनः भगवान् कृष्ण अपने भक्तों का वर्णन करते हैं (*भगवद्गीता* ७.१७)—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

''इनमें से जो परम ज्ञानी है और सदा शुद्ध भक्ति में लगा रहता है वह सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है।''

यदि कोई निर्विशेषवादी दार्शनिक किसी पुण्यवश भगवान् की भक्ति करने लगता है तभी वह भगवान् का प्रिय बन जाता है, किन्तु जब तक निर्विशेषवादी परमेश्वर को उनकी दैवीशक्तियों से वंचित

करने का प्रयास करते हैं, तब तक वे न तो उनके प्रिय बन सकते हैं न ही वे महात्मा कहला सकते हैं। उनकी गणना भगवान् की माया शक्ति द्वारा मोहग्रस्त आसुरी नास्तिकों में की जाती रहेगी। ये नास्तिक बुद्धिमान नहीं होते; ये सामान्य मर्त्य प्राणी होते हैं जो भगवान् के प्रति अपराधी हैं।

वैदिक वाङ्मय में जहाँ कहीं भी *ज्ञान* शब्द आया है वहाँ इसका अर्थ *सम्बन्ध-ज्ञान* यानी भगवान् तथा उनकी शक्तियों के मध्य सम्बन्ध का ज्ञान लगाना चाहिए। इससे निर्विशेषवादी ब्रह्म की विचारधारा का बोध नहीं होता। सम्बन्ध-ज्ञान समझ लेने पर *अभिधेय* ज्ञान की अवस्था आती है जो भगवान् के साथ सम्बन्ध में किस तरह कार्य करना है, का ज्ञान है। यह मुक्तात्माओं द्वारा की जाने वाली भक्ति है। अभिधेय ज्ञान की प्रौढ़ अवस्था में मनुष्य भगवत्प्रेम करने लगता है जो समस्त जीवों का चरम लक्ष्य है।

आजकल के अध्यात्मवादियों में से जिन्होंने ब्रह्म को अपने तुच्छ प्रयासों से जानने का प्रयास किया है, यह आम अभिमत है कि श्री अरविन्द को कुछ अनुभूति प्राप्त हुई है। कहा जाता है कि उनकी सफलता का कारण यह है कि उनकी खोज का विषय भौतिक ज्ञान न था। मायावादी हर वस्तु के एकत्व को जानना चाहते हैं किन्तु उनकी खोज उन्हें निर्विशेष अद्वैत ब्रह्म की अनुभूति तक ही ले जाती है। वे यह नहीं जानते कि रोग से मुक्त बनना कोई सिद्धि नहीं है और रुग्ण भौतिक अवस्था के बाद स्वस्थ आध्यात्मिक अस्तित्व की अवस्था आती है जिसमें मुक्तात्मा तब भी व्यक्तित्व युक्त व्यष्टि बना रहता है। यह तथ्य उनकी समझ में नहीं आता।

श्री अरविन्द इस चिन्तन के सीमित क्षेत्र से ऊपर उठे हुए थे और वे *लाइफ डिवाइन* (दैवी जीवन) जैसी पुस्तकों में ''पार मानसिक

चेतनता'' की बात करते थे। हम इस पुस्तक को भगवान् की दिव्य शक्तियों को प्रस्तुत करने का धुँधला प्रयास मानते हैं। वे यह स्वीकार करते थे कि परमेश्वर दिव्य शक्ति से समन्वित हैं, अतएव हममें उनके लिए कुछ आदर है किन्तु हमें लगता है कि अनेक लोग उनकी पुस्तकों में दी गई अध्यात्म की विवेचना नहीं समझ सकते। यद्यपि वे काफी सरल अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं किन्तु पाठक उलझा सा रह जाता है। जो लोग विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु के अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व जैसे वैष्णव दर्शनों से अपरिचित हैं वे श्री अरविन्द को नहीं समझ पाते। और जो केवल निर्विशेष दर्शन के ही पंडित हैं, जो अद्वैत ब्रह्म की खोज में लगे हुए हैं, वे तो श्री अरविन्द के ग्रन्थों को और भी कम समझ पाते हैं।

श्री अरविन्द की अधिकांश विचारधारा वैष्णव दर्शन से उधार ली हुई है। ''लाइट आन योग'' (योग पर प्रकाश) तथा ''द गोल'' (लक्ष्य) नामक लेख में हमें निम्नलिखित अंश मिलते हैं-

''गत्यात्मक अनुभूति प्राप्त करने के लिए पुरुष को प्रकृति की अधीनता से बचाना ही पर्याप्त नहीं है। मनुष्य को निम्नतर प्रकृति से पुरुष की निष्ठा को अज्ञानी शक्तियों के खिलवाड़ समेत दैवी शक्ति-माता को स्थानान्तरित कर देना चाहिए।

''माता की पहचान निम्नतर प्रकृति तथा इसकी शक्तियों की कार्यविधि के साथ करना भूल है। यहाँ पर प्रकृति मात्र कार्यविधि है जो अज्ञान के विकास हेतु निर्मित की गई है। चूँकि अज्ञानी मानसिक, प्राणविषयक या भौतिक प्राणी स्वयं दैवी नहीं है, यद्यपि वह दैव से ही आता है। अतः प्रकृति की कार्यविधि दैवी माता नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इस क्रियाविधि में तथा इसके पीछे उसका कुछ अंश होता है, जो इसके विकासात्मक उद्देश्य के लिए इसका पालन करती है किन्तु

वह स्वयं अविद्या की शक्ति नहीं अपितु दैवी चेतना, शक्ति, प्रकाश, परा, प्रकृति है जिसकी ओर हम छुटकारा तथा दैवी निर्वाह के लिए जाते हैं।

''यदि परा-मन हमें किसी निम्नतर धरातल से अधिकतर और पूर्ण सत्य नहीं दे सकता तो उस तक पहुँचने का प्रयास करना सार्थक नहीं होगा। प्रत्येक धरातल का अपना सत्य होता है। ज्यों ज्यों हम उच्चतर धरातल को उठते जाते हैं, इनमें से कुछ सत्यों की आवश्यकता नहीं रहती। उदाहरणार्थ, इच्छा तथा गर्व मानसिक, प्राण तथा भौतिक धरातल के सत्य हैं क्योंकि गर्व या इच्छा रहित मनुष्य उस धरातल पर निरी मशीन होगा। ज्यों ज्यों हम ऊपर उठते हैं तो गर्व तथा इच्छा सत्य नहीं रह जाते। वे सत्य पुरुष तथा सत्य इच्छा को विरूप करने वाली मिथ्याएँ हैं। प्रकाश की शक्तियों तथा अंधकार की शक्तियों के मध्य संघर्ष यहाँ पर सत्य है किन्तु ज्यों ज्यों कोई अधिक ऊपर उठता जाता है तो यह सत्य घटता जाता है और परा मन में इसकी कोई सत्यता नहीं रह जाती। अन्य सत्य बने रहते हैं किन्तु वे अपना गुण, महत्ता तथा स्थान बदल लेते हैं। साकार तथा निराकार के मध्य भेद परा-मन का सत्य है; परा-मन में उनका कोई पृथक सत्य नहीं है। वे अपृथक् रूप से एक हैं। किन्तु जिन्होंने निम्नतर धरातलों पर दक्षता नहीं पाई है वे परामानसिक सत्य तक नहीं पहुँच सकते। मनुष्य के मन का अकुशल गर्व सुस्पष्ट अन्तर लाता है और बाकी सभी को असत्य कहना चाहता है तथा तुरन्त ही सर्वोच्च सत्य पर कूदना चाहता है, चाहे वह जो भी हो। किन्तु यह महत्वाकांक्षी तथा प्रगल्भ त्रुटि है। चोटी तक पहुँचने के लिए मनुष्य को सीढ़ियाँ चढ़ना होता है और प्रत्येक सीढ़ी पर दृढ़ता से पाँव टिकाना पड़ता है।''

यदि कोई जीवन के असली अर्थ के विषय में विचारशील है तो माया के अपंगकारी पाश से छूटने का कोरा प्रयास एकमात्र करणीय नहीं। चरम लक्ष्य तो अपने आपको भ्रामक माया के आकर्षण से मुक्त कराना और दिव्य आध्यात्मिक शक्ति के पूर्णतया अधीन होना है।

चैतन्य चरितामृत में (मध्य २०.१०८, १०९, १११, ११७, ११८, १२०, तथा १२२) श्रीचैतन्य महाप्रभु सनातन गोस्वामी को कुछ चमत्कृत उपदेश देते हैं—"कृष्ण का नित्य दास होना जीव की स्वाभाविक स्थिति है क्योंकि जीव कृष्ण की तटस्था शक्ति है और वह भगवान् से एक साथ अभिन्न तथा भिन्न है जिस तरह प्रकाश या अग्नि का एक कण।

"भगवान कृष्ण के स्वभावतः तीन शक्ति-रूपान्तर हैं। इनके नाम हैं—आध्यात्मिक शक्ति, जीवशक्ति तथा मायाशक्ति ....जीव अनन्त काल से कृष्ण को भुलाकर बाह्यस्वरूप द्वारा आकृष्ट होता रहा है अतः माया उसे इस भौतिक जीवन में सभी प्रकार के दुख देती रहती है। भौतिक अवस्था में जीव कभी स्वर्गलोक और भौतिक समृद्धि तक उठ जाता है तो कभी नरक में गोते लगाता है। उसकी अवस्था उस अपराधी जैसी है जिसे राजा पानी में बारम्बार डुबोये जाने तथा निकाले जाने का दण्ड देता है.... यदि कोई बद्धजीव ऐसे साधुपुरुषों की कृपा से कृष्णभावनाभावित हो जाता है जो उसे शास्त्रों का उपदेश स्वेच्छा से देते रहते हैं और उसे कृष्णभावनाभावित होने में सहायता करते हैं तो वह बद्धजीव माया के पाश से मुक्त हो जाता है क्योंकि माया उसे छोड़ देती है। बद्धजीव अपने प्रयत्न से अपने कृष्णभावनामृत को जाग्रत नहीं कर सकता। किन्तु अहैतुकी कृपावश भगवान् कृष्ण ने वैदिक वाङ्मय तथा इसके पूरक, पुराणों,

का सृजन किया।"

वैधानिक दृष्टि से जीव कृष्ण का नित्य दास है

श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा श्री सनातन गोस्वामी को दिए गए उपदेश के रूप में कुछ सूक्तियों में जो गुह्य निष्कर्ष पाये जाते हैं उनकी आंशिक विवेचना ही श्री अरविन्द के समस्त ग्रन्थों में हुई है। श्री अरविन्द ने जटिल वाक्यों तथा अस्पष्ट शब्दों द्वारा उस ज्ञान को व्यक्त किया है जो उस वैधि भक्ति के अभ्यास द्वारा सरलता से उपलब्ध है जो प्राधिकृत गुरुओं तथा शास्त्रों द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार संपन्न की जाती है। अपनी पाण्डित्यपूर्ण शैली तथा अन्य तकनीकी कारणों से श्री अरविन्द की रचनाएँ सामान्य पाठकों की समझ में आसानी से नहीं आतीं, अतएव उनका साहित्य एक तरह से प्रभावरहित है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु भगवान् कृष्ण के सेवक के रूप में जीव की नित्य स्वाभाविक स्थिति तथा जीव द्वारा परम भोक्ता बनने के प्रयास में माया में चले जाने की विवेचना करते हैं। वे आगे यह भी बताते हैं कि जब जीव कृष्ण के दास रूप में अपने नित्य पद को भूल जाता है तो वह शाश्वत रीति से बद्ध तथा मोहग्रस्त हो जाता है। इस तरह माया जीव को भौतिक जीवन के कष्ट पहुँचाती है। यदि कोई कृत्रिम ढंग से वह बनने की कोशिश करता है जो वह नहीं है तो वह केवल कष्ट की आशा कर सकता है। इस सन्दर्भ में हमें एक कथा याद आती है जिसे हमने बचपन में स्कूल में पढ़ा था जिसमें एक बार एक कौवे ने मोर बनना चाहा था। इस ब्रह्माण्ड का स्रष्टा इसका असली स्वामी भी है। इस तरह वह हर वस्तु का एकमात्र भोक्ता है। किन्तु यदि स्रष्टा के अनेक सेवकों में से कोई सेवक उसके पद को छीन कर स्वामी तथा भोक्ता की भूमिका अदा

करने का प्रयास करता है तो वह कष्ट के अलावा और किसी वस्तु की उम्मीद कैसे कर सकता है?

श्रीमद्भागवत में (१०.८७.३०) जनलोक में ऋषियों की सभा में चार कुमारों में से सनन्दन साक्षात् वेदों की स्तुतियाँ सुनाते हैं जो पहले भगवान् को सुनाई जा चुकी थीं। उनमें से एक स्तुति इस प्रकार है—

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
समममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया॥

"यदि असंख्य जीव सर्वव्यापक होते और उनके रूप अपरिवर्तित रहते तो हे अपरिमित! तब आप उनके परम शासक न होते। किन्तु चूँकि वे आपके अंश हैं और उनके स्वरूप परिवर्तनशील हैं अतः आप उनको वश में रखते हैं। निस्सन्देह, जो किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए अवयवों की आपूर्ति करता है वह अवश्यमेव उसका नियन्ता होता है क्योंकि कोई प्रतिफल अपने अवयव कारण से पृथक विद्यमान नहीं रह सकता। यदि कोई यह सोचता है कि वह उन परमेश्वर को जो अपने प्रत्येक अंश में समान रूप से उपस्थित रहते हैं, जानता है तो यह कोरा भ्रम है क्योंकि भौतिक साधनों से जो भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह अवश्य ही अपूर्ण होगा।"

ज्ञान का अन्त निश्चय ही आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं है। कुछ और भी अनुभूति होनी है—अर्थात् यह कि जीव कृष्ण का नित्य दास है। यह अनुभूति परामानसिक चेतना की जागृति है और ऐसी चेतना में जीव जो भी कर्म करता है वे उसके नित्य

जीवन की शुरुआत होते हैं। जब जीव भगवान् की अन्तरंगा दिव्य शक्ति के निर्देशन में अपने सारे कर्म करता है तो उसे दिव्य शाश्वत आनन्द मिलता है जो ब्रह्म-साक्षात्कार के सुख से करोड़ों गुना अधिक होता है। इन दोनों के बीच दिव्य सुख में जो अन्तर होता है वह विशाल सागर तथा गोखुर में भरे जल के अन्तर के समान है। जब श्री अरविन्द ने "दैवीमाता" के विषय में लिखा तो वे संभवतः इस अन्तरंगा दिव्य शक्ति का उल्लेख कर रहे थे जो शाश्वत दिव्य आनन्द का अधिष्ठाता देव है। उन्होंने यह भी इंगित किया कि कनिष्ठा भौतिक शक्ति के कार्यों को भूलकर आध्यात्मिक शक्ति के कार्य नहीं समझना चाहिए। एक बार मद्रास के सुप्रसिद्ध निर्विशेषवादी तथा अद्वैतवादी संन्यासी रमण महर्षि से एक विदेशी ने पूछा, "ईश्वर तथा मनुष्य में क्या अन्तर है?" उनका अस्पष्ट उत्तर था, "ईश्वर + इच्छा = मनुष्य, और मनुष्य - इच्छा = ईश्वर।" हम यह कहते हैं कि मनुष्य कभी भी इच्छा से रहित नहीं हो सकता। जीव अपनी नित्य बद्ध अवस्था में पदार्थ की भोगेच्छा से पूर्ण रहता है किन्तु अपनी नित्य मुक्त अवस्था में वह भगवद्भक्ति करने की इच्छा से पूर्ण रहता है। इस तरह जीव कभी भी ईश्वर नहीं बन सकता। मनुष्य को ईश्वर के तुल्य या ईश्वर को मनुष्य के तुल्य बताना नितान्त पागलपन है। मायावादी द्वारा अपने चेतन आत्मा के निहित गुणों से इनकार करने की अप्राकृतिक इच्छा वही इच्छा है जो उसे मुक्ति प्राप्त करने से दूर रखती है। अतः मायावादियों का मुक्ति का झूठा तथा उद्धत दावा उनकी विकृत बुद्धि का प्रदर्शन मात्र है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार इच्छा को कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। बद्ध रह कर जीव अनन्त भौतिक इच्छाओं का आगार होता है जिन्हें वैदिक साहित्य में मानव-जीवन के चार लक्ष्य अर्थात् चतुर्वर्ग

(धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) कहा गया है। किन्तु भगवान् की अन्तरंगा दिव्य शक्ति के निर्देशानुसार कार्य करने से उत्पन्न मुक्त अवस्था में जीव की असली आध्यात्मिक इच्छाएँ व्यक्त होती हैं। श्री अरविन्द ने इस विषय की (यद्यपि विस्तार में नहीं) व्याख्या की है। इसके लिए हम रमण महर्षि की अपेक्षा उनकी अधिक प्रशंसा करते हैं। रमण महर्षि ने जीवन को एक तरह से इच्छा से पूर्णतया अवरुद्ध कर दिया है। इच्छा का यह बलात् निरसन आध्यात्मिक आत्मघात है। रोगी का रोग दूर किये बिना ही रोगी को समाप्त कर देने में कोई श्रेय नहीं। जब डाक्टर रोग को ठीक करके रोगी को बचा सकता है तो वह योग्य है। जो लोग उपर्युक्त चतुर्वर्ग वैदिक लक्ष्यों का पालन निर्विशेष मोक्ष तक करते हैं तो वे अपनी इन्द्रियों द्वारा बन्दी एवं अपनी इच्छाओं के दास बन जाते हैं। दूसरी ओर, जो व्यक्ति लोगों को यह शिक्षा दे सके कि परमेश्वर की सेवा में अपने नित्य कार्यकलापों को कैसे लगाया जाए तो वह मानवता का असली उपकारक है।

भगवद्गीता में (९.४) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"यह सम्पूर्ण जगत मेरे अव्यक्त रूप द्वारा व्याप्त है। समस्त जीव मुझमें हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।"

अपने अव्यक्त निर्विशेष रूप में भगवान् कृष्ण इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं जो उनकी बहिरंगा शक्ति का रूपान्तर है। इसलिए भौतिक सृष्टि के सारे जीव उनकी शक्तियों पर आश्रित हैं। शक्ति बिना किसी शक्तिमान स्रोत के विद्यमान नहीं रह सकती। इस तरह भौतिक शक्ति

तथा परम शक्तिमान भगवान् कृष्ण सिद्धान्ततः एक हैं यद्यपि शक्तिमान अपनी शक्ति की कार्यप्रणाली से पर्याप्त पृथक है। जीव, तटस्थ होने से, भगवान् की बहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति—इस प्राकृतिक जग—को या आध्यात्मिक जगत में जो उनकी अंतरंगा श्रेष्ठ शक्ति है, साक्षात् भगवान् की सेवा करने की इच्छा से गतिशील बनता है। दूसरे शब्दों में, जीव प्रत्येक स्थिति में दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति बनाये रखता है। इस तरह सेवा करने की अपनी इच्छा का बनावटी ढंग से त्याग करके वह इस भौतिक प्रकृति के दास के रूप में मिलने वाले कष्टों से अपने को नहीं छुटा पाता है। चूँकि जीव स्वभावतः दास है अतः वह सेवा करने के भाव का कभी भी परित्याग नहीं कर पाता। किन्तु यदि वह ऐसा चाहता है तो वह बुरी सेवा छोड़कर अच्छी सेवा कर सकता है। उसे चार वैदिक लक्ष्यों की, जिनमें निर्विशेष मुक्ति सम्मिलित है, सेवा को छोड़ देना चाहिए (जिससे उसकी सेवा करने की इच्छा के कारण उसके जीवन का पूरी तरह गला घुट जाएगा), और भगवान् की सेवा करने की अपनी मूल आध्यात्मिक इच्छा ध्यानपूर्वक प्रकट करनी चाहिए। श्री अरविन्द ने इसी बात का उल्लेख उपर्युक्त गद्यांश में किया है—

"यदि अतिमन हमें निम्नतर धरातलों की अपेक्षा बृहत्तर तथा पूर्ण सत्य नहीं दे सका तो उस तक पहुँचने का प्रयास व्यर्थ होगा।"

यदि मनुष्य अहंकार, इच्छा, भावना, नापसंदगी आदि के बिना अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहता है तो वह जड़ पदार्थ में परिणत हो जाएगा। यह आध्यात्मिक उत्थान नहीं है। जब कोई व्यक्ति भौतिकतावादी अनुभूति से आध्यात्मिक अनुभूति की ओर क्रमशः अग्रसर होता है तो उसको यह समझ में आता है कि उसकी संसारी इच्छाएँ, अनुभूतियाँ नापसंदगियां आदि कितनी तुच्छ हैं जो दीर्घकाल से अज्ञान

द्वारा कलुषित थीं। ज्योंही यह अज्ञान दूर होता है, भौतिक इच्छाएँ नगण्य हो जाती हैं। इच्छाएं बनी रहती हैं किन्तु वे भौतिक नहीं रह जातीं। वे आध्यात्मिक हो जाती हैं। उस अवस्था में व्यक्ति ब्रह्म, परमात्मा तथा परमेश्वर को एक देखता है। ऐसी उच्च अनुभूतियाँ तभी सम्भव हैं जब मनुष्य का मन तथा इन्द्रियाँ दिव्य हों। ऐसी स्थिति एक उछाल में प्राप्त कर लेना असम्भव है। जो लोग असम्भव पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं वे अविवेकी तथा अति महत्वाकांक्षी हैं। हर व्यक्ति को सँभल-सँभल कर पग रखते हुए क्रमशः आगे बढ़ना होता है। इस तरह वह गन्तव्य को प्राप्त कर लेगा।

श्री अरविन्द अपने निबन्ध "योग" में इच्छा को नष्ट करने की संस्तुति नहीं करते अपितु उसके गुण को बदलने को कहते हैं। यह शाश्वत सत्य है कि जीव स्वभावतः भगवान् कृष्ण का नित्य दास है। जीव का अन्य कोई स्वरूप नहीं, चाहे वह बद्ध हो या मुक्त। उसकी स्थिति किसी देश के नागरिक जैसी है—वह सदैव सरकारी नियमों के अधीन रहता है चाहे जेल में रहे या उसके बाहर। जेल के भीतर रहते हुए उसके सभी कार्य कष्टकर होते हैं किन्तु स्वतन्त्र नागरिक रूप में वह जो भी कार्य करता है उससे संतुष्ट रहता है। यह मात्र उसके चरित्र का परिवर्तन है।

इसी तरह यदि जीव परम शक्तिमान श्रीकृष्ण की सेवा करने से इनकार करता है और उनकी मोहिनी शक्ति माया की सेवा करता है तो भी वह भगवान् का सेवक बना रहता है। किन्तु उस अवस्था में वह भगवद्भक्ति के आनन्द से अनभिज्ञ रहता है। जब जीव अपने संसारी गुणों को उतार फेंकता है तभी वह भक्ति के दिव्य आनन्द का अनुभव करता है। फिर भी जीव किसी भी स्थिति में कृष्ण के नित्य दास होने के अपने प्राकृतिक गुण को त्याग नहीं पाता

क्योंकि वह भगवान् की तटस्था शक्ति से उद्भूत होता है।

मुक्ति के साधन

वैदिक शास्त्रों में कहीं भी यह नहीं कहा गया कि, *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*, इस उपनिषद् कथन को समझने के लिए इच्छा को समाप्त करना होता है। लेकिन इच्छा के स्वभाव को रूपान्तरित करने के बारे में अनेक कथन मिलते हैं। इच्छा के वेग के कारण ही संसार में सारे कर्म सम्पन्न होते हैं। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* में (१०.४-११) उन विविध उपायों की विवेचना करते हैं जिनमें इच्छा इन कार्यकलापों पर अपना प्रभाव डालती है—

"बुद्धि, ज्ञान, संशय तथा मोह से मुक्ति, क्षमाभाव, सत्यता, इन्द्रिय-निग्रह, मननिग्रह, सुख-दुख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश-अपयश—जीवों के ये विविध गुण मेरे ही द्वारा उत्पन्न हैं। सप्तर्षिगण तथा उनसे भी पूर्व चार अन्य महर्षि तथा सारे मनु (मानव जाति के पूर्वज) सब मेरे मन से उत्पन्न हैं और विभिन्न लोकों में निवास करने वाले सारे जीव उनसे अवतरित हुए।"

"जो मेरे इस ऐश्वर्य तथा योग-शक्ति से पूर्णतया आश्वस्त है वह मेरी अनन्य भक्ति में तत्पर होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।"

"मैं समस्त अध्यात्म और भौतिक जगतों का कारण हूँ; प्रत्येक वस्तु मुझी से उद्भूत है। जो बुद्धिमान यह जानते हैं वे मेरी भक्ति में लगते हैं तथा हृदय से पूरी तरह मेरी पूजा में तत्पर होते हैं।"

"मेरे शुद्ध भक्तों के विचार मुझमें वास करते हैं, उनके जीवन मेरी सेवा में पूर्णरूपेण अर्पित रहते हैं और वे एक दूसरे को ज्ञान प्रदान करते तथा मेरे विषय में बातें करते हुए परम सन्तोष तथा

आनन्द का अनुभव करते हैं।"

"जो प्रेमपूर्वक मेरी सेवा करने में निरन्तर लगे रहते हैं उन्हें मैं ज्ञान प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझ तक आ सकते हैं। उन पर विशेष कृपा करने हेतु उनके हृदयों में वास करते हुए मैं ज्ञान के प्रकाशमान दीपक के द्वारा अज्ञानजन्य अंधकार को दूर करता हूँ।"

जो लोग समझते हैं कि मनुष्यों की विविध इच्छाएँ परब्रह्म की इच्छाओं की प्रतिबिम्ब हैं वे उनका परित्याग न करके भगवान् की सेवा में लगाने के लिए सावधान रहते हैं। बहुत पहले, सप्तर्षियों तथा मनुओं ने अपनी ईश्वरप्रदत्त इच्छाओं को भगवान् की सेवा में लगाया और आज जो कोई भी इन महापुरुषों के आदर्श का अनुकरण करता है वह इच्छा को संसारी इच्छा या आध्यात्मिक प्रगति में अवरोध नहीं मानता। यदि रमण महर्षि हमें इच्छा का निषेध करने का उपदेश देते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—इस वैदिक कथन का गलत अर्थ लगाते हैं। जिन्हें इसकी अनुभूति हो चुकी है कि सारी इच्छाएँ तथा भाव स्वभावतः ब्रह्म हैं और इस तरह वे उन्हें भगवान् की सेवा में लगाते हैं उन्हें सिद्ध आत्माएँ माना जाना चाहिए। वे अविद्या से पूर्णतया मुक्त होते हैं। इन स्वरूपसिद्ध, बढ़े-चढ़े आनन्दमय भक्तों की इच्छाएँ इतनी शुद्ध बन जाती हैं कि रंच मात्र अज्ञान भी उनकी चेतना को प्रभावित नहीं कर सकता, क्योंकि भगवान् स्वयं ही उनके हृदयों की अविद्या को नष्ट करते हैं।

मायावादियों को यह समझने के लिए बाध्य किया जाता है कि उनके द्वारा अविद्या को हटाने के व्यक्तिनिष्ठ प्रयासों एवं भगवान् द्वारा कृपापूर्वक अपने भक्तों को प्रकाशित करने के प्रयासों में काफी

अन्तराल होता है। मायावादी लोग परम शक्तिमान की शक्तियों को नकारने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। वे रावण जैसे असुरों के तुल्य हैं जिसने उनकी शक्ति को हड़प कर लेना चाहा, वे कंस के समान हैं जिसने उन्हें मार डालना चाहा। असुरों से ऐसे ही आचरण की आशा की जाती है। वे दुष्ट शक्तियों की आकांक्षा करते हुए भगवान् की भक्ति त्याग देते हैं और पापकर्म करते हैं। इस तरह वे सारा ज्ञान गँवा देते हैं। भगवान् कृष्ण ने *गीता* में (७.१५) उन्हें ठीक ही *माययापहृत ज्ञानाः*—"जिनका ज्ञान माया द्वारा चुराया जा चुका है"—कहा है। अनेकानेक दार्शनिक, पंडित एवं तथाकथित अजेय वीरों ने परमेश्वर को नपुंसक, रूपहीन तथा निराकार बनाने का प्रयास किया है किन्तु अन्त में उन्हें भीषण कष्ट भोगने पड़े हैं।

श्रीमद्भागवत में (१०.१४.४) हमें ब्रह्माजी का यह कथन प्राप्त होता है—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

"हे प्रभो! आपकी भक्ति आत्म-साक्षात्कार का सर्वोत्तम मार्ग है। यदि कोई उस मार्ग को त्याग कर ज्ञान के अनुशीलन में लगता है तो उसे कष्टकर विधि में से गुजरना होगा और उसे वांछित फल नहीं मिलेगा। जिस तरह भूसा पीटने वाले को अन्न के दाने नहीं मिलते उसी तरह जो केवल चिन्तन करता है वह आत्म-साक्षात्कार नहीं प्राप्त कर सकता। उसे केवल कष्ट मिलता है।"

बुद्धि, ज्ञान, संशय से मुक्ति, हर्ष, शोक, भय, निर्भयता, अहिंसा, समता, सन्तोष, तपस्या, दान, यश तथा अपयश जैसे गुण कहाँ दिखेंगे? ये गुण चेतनता के सूचक हैं अतएव ये वहीं उपस्थित रहते हैं जहाँ चेतना उपस्थित होती है। भगवान् ने घोषित किया है कि ये सारे गुण उन्हीं के हैं अतएव ये उन्हीं से प्रकट हुए हैं। और *कठ उपनिषद्* का वचन है—*नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्*—समस्त नित्य चेतन जीवों में से एक परम चेतन जीव है जो अन्य सबों को उनकी आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करता है। अतएव इस बात से इनकार करना कि ये गुण समस्त चेतन जीवों में निहित हैं और इस तरह सूक्ष्मजीवों एवं परमात्मा को जड़ पदार्थ के तुल्य बताना—इन सबसे नितान्त उलझन उत्पन्न होती है और ये अर्न्तदृष्टि के घोर अभाव को प्रदर्शित करते हैं। मायावादी इस उलझन में रहते हैं कि चेतना के अस्तित्व का खण्डन करने अथवा इसको स्वीकार करने से उन्हें सन्तोष मिलेगा। चेतन प्राणी सदैव जड़ पदार्थ को नियन्त्रित करता है। एक सामान्य उदाहरण से यह बात सिद्ध हो जाती है—हम देखते हैं कि किस तरह कौवे जैसा तुच्छ जीव किसी योद्धा वीर की प्रस्तर मूर्ति के सिर पर निर्भय होकर बीट कर देता है और इस तरह जड़ पदार्थ के ऊपर गतिशील आत्मा की विजय प्रदर्शित करता है। केवल वे लोग जिनकी बुद्धि पत्थर के समान है, परम चेतन जीव को निराकार अनुभूति-रहित वस्तु बनाने का प्रयास करेंगे। ऐसा प्रयास नितान्त मूर्खता है।

श्री अरविन्द ने आज की विद्वन्मण्डली के समक्ष "नवीन" विचारधारा प्रस्तुत करके प्रशंसनीय कार्य किया है—मनुष्य को चाहिए कि वह चेतना के निहित गुणों को नकारने का प्रयास करने के बजाय, अपनी संसारी चेतना को भगवान् की दैवी शक्ति के निर्देशन में, परमेश्वर

की सेवा में, लगाकर संसारी चेतना को परामानसिक चेतना में रूपान्तरित करे। निस्सन्देह, जो लोग पुराने युगों की स्वरूपसिद्ध आत्माओं की अपेक्षा वर्तमान दार्शनिकों की बराबरी करना पसन्द करते हैं उन्हें अरविन्द की प्रस्तुति नवीन लगेगी। किन्तु जो लोग प्रामाणिक परम्परा से जुड़े शुद्ध प्रेमी भगवद्भक्तों के पदचिन्हों का अनुगमन करते हैं वे जानते हैं कि श्री अरविन्द के शब्द प्राचीन विद्या के इतिहास की अनुगूँज हैं। निस्सन्देह, उनसें वेदों के सार जैसी ध्वनि निकलती है।

वृन्दावन के षड्गोस्वामियों ने वेदों के इस असाधारण गोपनीय सार को ढूँढ़ निकाला और भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की कार्यप्रणाली का वर्णन किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु के अवतरण के पूर्व इस तरह के विषयों की इतने विस्तार से चर्चा किसी आध्यात्मिक अधिकारी द्वारा नहीं की गई। श्रील रूपगोस्वामी ने अपने नाटक 'विदग्ध माधव' में श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा मानवजाति के लिए अद्वितीय योगदान की विस्तार से चर्चा की है—

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुम् उन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः॥

"श्रीमती शचीदेवी के पुत्र कहलाने वाले महाप्रभु आपके हृदय के अन्तरमन में विराजमान हों। पिघले सोने की चमक से प्रकाशित, वे अपनी अहैतुकी कृपा से वह प्रदान करने के लिए कलियुग में अवतरित हुए हैं जिसे अन्य किसी अवतार ने इसके पूर्व भेंट नहीं किया—यह भेंट है सर्वोच्च भक्तिरस, माधुर्य प्रेम का रस।"

श्री अरविन्द "सरेंडर एण्ड ओपेनिंग" (शरणागति तथा सुअवसर) शीर्षक लेख में लिखते हैं—

"इस योग का पूरा सिद्धान्त अपने आपको एकमात्र दैव (दिव्यता) को समर्पित करना है, अन्य किसी को नहीं तथा और कुछ नहीं, तथा दैवी माता के संमिलन से समस्त दिव्य प्रकाश, शक्ति, चौड़ाई, स्थान, शुद्धता, सत्य, चेतना तथा परामानसिक दैव के आनन्द को अपने तक नीचे ले आना है।"

"राधा तो अपने सर्वोच्च आध्यात्मिक से भौतिक, समग्र अस्तित्व के परम प्रेम रूप देव की साक्षात् मूर्ति हैं...।" वे ब्रह्म के चरम स्वतंत्र तथा सम्पूर्ण समर्पण को लाने वाली तथा शरीर एवं भौतिक प्रकृति में परमानन्द का आवाहन करने वाली हैं।

यद्यपि उपर्युक्त कथनों के निष्कर्षों में विषमताएँ हैं फिर भी श्री अरविन्द ने अपने आप सही दिशा का निर्देश किया है। माधुर्य रस को समझ पाना असम्भव है, क्योंकि दिव्य रसों में यह सर्वोच्च तथा प्रकाशमान है, जिसमें समर्पण भाव नहीं रहता। समर्पण के इस भाव से मायावादी सर्वथा विहीन होते हैं; फलतः जब वे अपने आप अद्वैत विचारधारा को समझने का प्रयास करते हैं तो अन्ततः वे निर्विशेषवादी बन जाते हैं। इन मायावादियों के विषय में श्री अरविन्द को जो कहना है वह इस तरह है—

"जो लोग जीवन से विरक्त होना चाहते हैं वे ही निर्विशेष की खोज करते हैं। सामान्यतया ऐसे निर्विशेषवादी निजी तौर पर प्रयास करते हैं। वे किसी श्रेष्ठ शक्ति के समक्ष अपने को प्रकट करते हुए या समर्पण के विचार से नहीं करते क्योंकि निर्विशेष कोई ऐसी वस्तु नहीं जो मार्गदर्शन या सहायता करती हो, अपितु ऐसी वस्तु है जो प्राप्त करने योग्य है। यह हर व्यक्ति को अपने स्वभाव की शैली

तथा क्षमता के अनुसार प्राप्त किये जाने के लिए छोड़ देती है। दूसरी ओर, माता के समक्ष आत्मसमर्पण करके निर्विशेष तथा सत्य के हर पक्ष की अनुभूति की जा सकती है।"

मायावादी कभी भी अपने निजी प्रयास से मुक्ति प्राप्त करने के प्रयासों में सफल नहीं होते। मोह को जीतने तथा मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है उन परमेश्वर की शरण ग्रहण करना जो षड्ऐश्वर्यों से युक्त हैं। जैसा कि *गीता* में (७.१४) भगवान् कृष्ण स्पष्टतः कहते हैं—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—जो लोग मेरी शरण में आते हैं वे इस प्रकृति के गुणों को आसानी से पार कर लेते हैं।

भगवान् की शरण ग्रहण करने की विधि सीखने में पहला कदम है भगवान् के शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करना।

चैतन्य चरितामृत में (मध्य २०.१२०, १२२) हमें निम्नलिखित कथन प्राप्त होता है—

साधुशास्त्र कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय
सेइ जीव निस्तरे, माया ताहारे छाडय।
मायामुग्ध जीवेर नाहि स्वतः कृष्ण-ज्ञान
जीवेरे कृपाय कैला कृष्ण वेदपुराण॥

"यदि स्वेच्छा से शास्त्रों के आदेशों का प्रचार करने वाले सन्त पुरुषों की कृपा से बद्ध आत्मा कृष्णभावनाभावित होता है तो वह माया के पाश से छूट जाता है क्योंकि माया उसे छोड़ देती है।

"बद्धात्मा अपने निजी प्रयास से अपना कृष्णभावनामृत जाग्रत नहीं कर सकता। किन्तु भगवान् कृष्ण ने अहैतुकी कृपावश वैदिक वाङ्मय तथा पुराणों की रचना की।"

समस्त वेदों तथा पुराणों में भगवान् कृष्ण की चर्चा है। *भगवद्गीता* में (१५.१५) भगवान् के ही शब्द हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो*—सारे वेदों के द्वारा मुझे जानना चाहिए"

मोहग्रस्त चिन्तक

मोहग्रस्त चिन्तक

मूलभूत प्रश्न सुशिक्षित विद्वानों से दूर रहता है

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के पहले ही श्लोक में सर्वोच्च सत्य का प्रतिपादन इन शब्दों में हुआ है—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञानः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

"मैं भगवान् कृष्ण का ध्यान करता हूँ क्योंकि वे परम सत्य हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के कारणों के आदि कारण हैं। वे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रीति से सारे जगत से अवगत रहते हैं और वे परम स्वतन्त्र हैं क्योंकि उनसे परे कोई अन्य कारण नहीं है। उन्होंने ही सर्वप्रथम आदि पुरुष ब्रह्मा जी के हृदय में वैदिक ज्ञान उत्पन्न किया। उन्हीं के कारण बड़े बड़े मुनि तथा देवता उसी तरह मोह में पड़े रहते हैं जिस तरह कोई अग्नि में जल या जल में स्थल देखकर माया द्वारा मोहग्रस्त हो जाता है। उन्हीं के कारण ये

सारे भौतिक ब्रह्माण्ड जो प्रकृति के तीन गुणों के कारण अस्थायी रूप से प्रकट होते हैं अवास्तविक होते हुए भी वास्तविक लगते हैं। अत: मैं उन श्रीभगवान् का ध्यान करता हूँ जो भौतिक जगत के मोह रूपों से सर्वथा मुक्त अपने दिव्य धाम में निरन्तर वास करने वाले हैं। मैं उनका ध्यान इसलिए करता हूँ क्योंकि वे परम सत्य हैं।''

परम सत्य को परिभाषित करने तथा वेदों, पुराणों तथा अन्य संबद्ध ग्रन्थों में इसका विस्तार करने के बाद भी श्रील व्यासदेव को असन्तोष हो रहा था। उनके गुरु देवर्षि नारद ने अपने शिष्य को इस तरह हतोत्साहित देखकर उन्हें गहन ध्यान में गोता लगाने के लिए प्रोत्साहित किया। उस अवस्था में उन्हें सर्वोच्च परम सत्य की अनुभूति हुई जो पूर्णरूपेण मोह से मुक्त हैं। उपर्युक्त श्लोक श्रील व्यासदेव की आध्यात्मिक अनुभूति को प्रतिबिम्बित करता है। नारद ने अपने शिष्य को उपदेश दिया कि वह भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण, लीलाओं, साज-सामान तथा पार्षदों के स्वभाव को प्रकट करें। श्रील व्यासदेव के प्रयास का फल है यह निष्कलंक *श्रीमद्भागवत पुराण*।

श्रील व्यासदेव बदरिकाश्रम गये और उसके निकट ही स्थित शम्याप्रास नामक स्थान में उन्होंने समाधि लगाई और भगवान् के दर्शन किये। उन्होंने बद्धजीवों को मोहित करने वाली भगवान् की दैवी शक्ति माया को भी देखा। इस अनुभूत चेतना में श्रील व्यासदेव ने परम सत्य भगवान् का वर्णन पूर्णतया स्वतन्त्र तथा दिव्य रूप में किया है। इसका अर्थ है कि कोई न तो उनसे बढ़कर है, न ही उनके तुल्य इस भौतिक जगत में ब्रह्मा समस्त जीवों में सर्वोच्च व्यक्ति माने जाते हैं। किन्तु ब्रह्माजी भी, जिन्हें यहाँ पर आदि कवि कहा गया है, पूर्ण स्वतन्त्र परमेश्वर के अधीन हैं। निस्सन्देह, परमेश्वर ने ही सर्वप्रथम ब्रह्मा को ज्ञान प्रदान किया था।

सामान्य मर्त्य जीवों के बारे में क्या कहा जाय, बड़े बड़े ऋषि तथा शक्ति-शाली देवता तक परमेश्वर को जानने के प्रयास में पूर्णतया मोहग्रस्त हो जाते हैं। *धीमहि* शब्द का अर्थ है ''मैं ध्यान करता हूँ।'' इससे यही तात्पर्य है कि जिन्होंने गायन्त्री मन्त्र के उच्चारण में सिद्धि पा ली है, केवल वे ही परम स्वतन्त्र भगवान् को समझ सकते हैं। और इस गायत्री मन्त्र का उच्चारण करने का पात्र कौन हैं? जो लोग तमो तथा रजो गुणों द्वारा नियन्त्रित होते हैं वे गायत्री मन्त्र का उच्चारण कभी नहीं कर सकते। इसका उच्चारण करके सिद्धि पाने की बात दूर रही। केवल वे लोग, जिनमें ब्राह्मण-गुण पाये जाते हैं और जो सतोगुणी हैं, गायत्री मन्त्र उच्चारण करने के पात्र हैं। वे क्रमश: निरन्तर उच्चारण करते रहने से परब्रह्म या परम सत्य का अनुभव कर पाते हैं। तभी वे भगवान् को उनके दिव्य नाम, रूप, गुण, लीलाओं तथा साज-सामान के साथ साथ वैकुण्ठ लोक तथा वैकुण्ठ लोक के स्वामी नारायण की अनुभूति कर सकते हैं। जब किसी में भगवान् की दिव्य सेवा में लगने की रुचि उत्पन्न हो जाती है और वह भक्ति रस की अनुभूति करता है तो वह भगवान् वासुदेव यानी कृष्ण का दर्शन कर सकता है।

वे संसारी दार्शनिक जो ब्रह्म को ज्ञान की आरोही विधि से प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, कभी भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाते। ऐसे प्रयास का जो स्वभावत: उन्हें भ्रमित करता है, एकमात्र परिणाम यह होता है कि उनमें यह भ्रम घर कर जाता है कि व्यक्ति ईश्वर है और ईश्वर व्यक्ति। इस तरह वे नरक जाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इनमें से कुछेक को ब्रह्म की क्षणिक झलक मिल सकती है किन्तु अन्त में उन्हें पीछे हटना पड़ता है। वे त्रुटिपूर्ण निर्विशेषवाद के शिकार हो जाते हैं।

ब्रह्म की इस निर्विशेष धारणा का खंडन करने के लिए *श्रीमद्भागवत* का ऊपर उद्धृत किया गया श्लोक स्पष्ट कहता है कि परम सत्य एक पुरुष है। यह दिव्य पुरुष इतना शक्तिशाली है कि उसने वेदों का ज्ञान ब्रह्मा तक को दिया जिसे पाकर ब्रह्माजी ने भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि की। ब्रह्मा ने यह अद्वितीय वैदिक ज्ञान सृष्टि के बाद नहीं, अपितु सृजन कार्य शुरू करने के पूर्व, प्राप्त किया। जो ज्ञान भौतिक प्रकृति के उत्पन्न होने के पूर्व विद्यमान था वह दिव्य है और संवित् कहलाता है। यह *विष्णु-पुराण सन्धिनी संवित् तथा ह्लादिनी* जो भगवान् की सत्-चित् और आनन्द शक्तियां हैं, के विषयों पर गहन शोध करता है। ये सब मिलकर भगवान् की अंतरंगा शक्ति कहलाती हैं। *श्रीमद्भागवत* में भी भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की व्याख्या हुई है। भगवान् की श्रेष्ठ शक्ति उनकी कनिष्ठा बहिरंगा शक्ति से बिल्कुल भिन्न है जो तीन गुणों से युक्त है। भगवान् की श्रेष्ठ आध्यात्मिक शक्ति का उदाहरण जीव है। जो यह समझ सकता है कि सारे जीव भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के प्रति-फल हैं, बहिरंगा शक्ति के नहीं। वे इन दोनों शक्तियों के अन्तर को समझ सकते हैं।

भ्रम असलियत का विकृत प्रतिबिम्ब है और यह भगवान् की बहिरंगा शक्ति माया का प्रमाण है। यह भ्रम भगवान् की अन्तरंगा आध्यात्मिक शक्ति में सर्वथा अनुपस्थित रहता है। जीव भगवान् की श्रेष्ठ आध्यात्मिक शक्ति का प्रतिफल है किन्तु वह अपने शरीर की पहचान अपनी आत्मा के रूप में करने से मोहित हो जाता है। जैसे ही यह अज्ञान मिट जाता है, वह शरीर के स्वभाव को तुरन्त समझ सकता है। मोह संसारी धरातल पर सम्भव है किन्तु आध्यात्मिक शक्ति में कदापि नहीं।

भौतिक प्रकृति में दृश्य-विविधता भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव के कारण है। दूसरे शब्दों में, भौतिक प्रकृति आध्यात्मिक

शक्ति का ही विकृत प्रतिबिम्ब है। उदाहरणार्थ, सूर्य-प्रकाश सदैव विद्यमान रहता है किन्तु जब प्रकाश जल से परावर्तित होता है तो प्रकाश का एक नवीन स्रोत जन्म लेता है जिसे सृजन, पालन तथा संहार का चक्र स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु आदि सूर्य ऐसे परिवर्तनों से बँधा हुआ नहीं होता। इस व्यावहारिक सादृश्य से हमें यह समझने में सहायता मिलती है कि आध्यात्मिक प्रकृति सृजन, पालन तथा संहार से परे है जबकि आध्यात्मिक शक्ति का विकृत प्रतिबिम्ब यानी भौतिक प्रकृति इन तीन दशाओं से बँधी रहती है। भौतिक प्रकृति भ्रामक है—कभी यह होती है और कभी नहीं। जब "यह है" की भ्रामक क्षणिक उपस्थिति पूरी तरह हट जाती है और उसके स्थान पर नाम, रूप, गुण, संगी, साज-सामान तथा भगवद्धाम दिखते हैं तो मनुष्य *सत्यं परम्*—परम सत्य—के पद पर होता है जिसका वर्णन *निरस्त कुहकम्*—"भौतिक जगत के मोहमय प्रदर्शन से सदा के लिए मुक्त" के रूप में हुआ है।

जीव को भगवान् की तटस्था शक्ति के रूप में बताया जाता है। जीव के विषय में पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता। कभी वह भौतिक शक्ति के नियन्त्रण में रहता है तो कभी आध्यात्मिक शक्ति के आश्रय में। किन्तु परम अच्युत प्रभु कभी भी अपनी किसी शक्ति के अधीन नहीं होते—वे सदैव परम एकछत्र, समस्त शक्तियों के स्वामी, भगवान् वासुदेव बने रहते हैं। सारी शक्तियाँ उन्हीं से उद्भूत हैं अतः वे परम शक्तिमान तत्त्व हैं। जब स्वराट् (स्वतन्त्र) तथा परम्, ये दो शब्द किसी सत्ता को बताने के लिए प्रयुक्त होते हैं तो वह सत्ता अवश्य ही भगवान् होती है, जो समस्त कारणों के कारण हैं। भगवान् कभी भी माया के वश में नहीं होते, इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में (१.११.३८) अन्यत्र हुई है—

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया॥

"यह तो भगवान् की दिव्यता है कि वे प्रकृति के गुणों के संसर्ग में रहते हुए भी उनसे प्रभावित नहीं होते। इसी प्रकार जिन भक्तों ने भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है वे भौतिक गुणों से प्रभावित नहीं होते।"

यह भगवान् का विशेष अधिकार है कि वे इस भौतिक जगत में अवतरित होकर इससे अप्रभावित तथा विरक्त रहते हैं। उन्हीं की तरह उनके भक्त भी दृश्य जगत की चकाचौंध से अनासक्त रहते हैं। जिस प्रकार भगवान नित्य, मुक्त तथा शुद्ध हैं उसी तरह उनके भक्त भी हैं चाहे वे जिस भी स्थिति में हों। इसे एक सरल उदाहरण से आसानी से समझा जा सकता है। तकनीकी उन्नति के फलस्वरूप प्रकृति में पहले से उपलब्ध आकर्षणों में सिनेमा जैसे साधनों की वृद्धि हुई है फिर भी विचित्र बात है कि ये मोहक आकर्षण आज तक असली सन्तों तथा साधुओं को आकृष्ट करने में विफल रहे हैं। यद्यपि हम देखते हैं कि कुछ तथाकथित आधुनिक सन्त तथा साधू भाँग तथा तम्बाकू का सेवन करते हैं, किन्तु वे भी कई अन्य आधुनिक ऐन्द्रिय आकर्षणों से विकर्षित रहते हैं। यदि मोहमय जगत में भगवद्भक्तों के लिए तनिक भी आकर्षण नहीं रहता तो फिर स्वयं भगवान् के लिए कितना कम आकर्षण होगा! इसलिए अज्ञानवश भले ही कोई यह कहे कि मर्त्य लोग ईश्वर हैं किन्तु इससे असलियत नहीं बदलती—व्यक्ति व्यक्ति रहता है और ईश्वर सदा ईश्वर रहता है। अन्यथा नहीं होता।

एक बार हमारे आश्रम का एक ब्रह्मचारी डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन से मिला जो अध्यात्मवादी हैं और प्रकांड पंडित। मेरे इस निबन्ध के

लिखते समय डा. राधाकृष्णन उपराष्ट्रपति हैं। उनसे मिलने पर हमारे ब्रह्मचारी को उनके द्वारा लिखित *भगवद्गीता* की एक प्रति भेंट-स्वरूप मिली। डा. राधाकृष्णन ने इस गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया है और उस पर टीका लिखी है। यह उन दिनों (१९५४) बाजार में दस रुपये में खूब बिकती थी।

हमारे ब्रह्मचारी ने यह पुस्तक पढ़ी और हमारे यहाँ कुछ असंतुष्ट सा आया, यद्यपि यह पुस्तक स्वयं में काफी गुह्य थी। उसके असंतोष का कारण यह था कि पुस्तक में आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का अभाव था—कई स्थानों पर मूल पाठ की गलत व्याख्या हुई थी। इस तरह यह पुस्तक शुद्ध भक्ति परम्परा वाले अध्यात्मवादियों के लिए स्वीकार्य न थी। यह *श्रीमद्भागवत* के कथन (१.१.१) का पूर्ण उदाहरण है कि "भगवान् के द्वारा बड़े बड़े ऋषि तथा देवता भी मोहग्रस्त हो जाते हैं (*मुह्यन्ति यत् सूरयः*)। जब भगवान् सरलता से ब्रह्माजी, शिवजी, इन्द्रजी आदि महान ब्रह्माण्ड-नियन्ताओं को मोहित बनाते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य कि डा. राधाकृष्णन को भी भ्रम हुआ।

उस ब्रह्मचारी को डा. राधाकृष्णन द्वारा अध्याय ९ के श्लोक ३४ की गलत व्याख्या से (जो उनकी पुस्तक के पृष्ठ २५४ पर दी हुई है) अत्यधिक क्लेश हुआ। वह मेरे पास अत्यन्त हताश सा आया; वह इस श्लोक पर विचार-विमर्श करना चाहता था। उस पुस्तक के शब्द इस प्रकार हैं—

"ये साकार कृष्ण नहीं जिनको हमें पूरी तरह अपने को समर्पित करना है, अपितु उन्हें जो अजन्मा है, अनादि है, नित्य है और जो कृष्ण के माध्यम से बोलता है।"

हम तर्कों द्वारा डा. राधाकृष्णन जैसे विश्वविख्यात दार्शनिक से टक्कर नहीं लेना चाहते; फिर भी उस ब्रह्मचारी के बारम्बार आग्रह पर हमें

श्लोक की छानबीन करनी होगी और उसकी त्रुटियों को इंगित करना होगा। हमारे मन में डा. राधाकृष्णन के लिए अतीव आदर है, इसलिए नहीं कि वे हमारे देश के उपराष्ट्रपति हैं अपितु उनकी विद्वत्ता तथा हिन्दू दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान के रूप में उन्हें जो स्थान प्राप्त है, उसके कारण। यही नहीं, वे उस ब्राह्मण परम्परा के प्रति श्रद्धावान हैं, जिससे उनका सम्बन्ध है और वे मायावाद सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इस प्रसिद्ध कहावत के अनुसार कि मूर्ख मित्र की अपेक्षा विद्वान शत्रु अच्छा होता है, मैं इस विषय में प्रोत्साहित हुआ। एक बुद्धिमान प्रतिद्वन्द्वी तार्किक खण्डन प्रस्तुत करेगा किन्तु अज्ञानी मित्र अपने लड़खड़ाने के द्वारा विपत्ति ला खड़ी करेगा। इसलिए डा. राधाकृष्णन ने *भगवद्गीता* की टीका में जो बातें कही हैं उनका खण्डन करने के लिए हमें कोई पश्चाताप नहीं है।

एक बँगला कहावत है "पूरी रामायण पढ़ लेने के बाद आप यह जानना चाहते हैं सीता किसका पिता है?" यह प्रश्न हास्यास्पद है क्योंकि सीता तो राम की पत्नी हैं अत: ऐसे प्रश्न से हँसी ही होगी। हमें डा. राधाकृष्णन की गीता की अंग्रेजी टीका में ऐसी ही असंगति मिलती है। वे लिखते हैं कि हमें व्यक्ति कृष्ण की शरण नहीं ग्रहण करनी अपितु कृष्ण के भीतर के "अजन्मा, अनादि, शाश्वत" की करनी है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् कृष्ण तथा उनका "अन्त: आत्मा" दो पृथक स्वरूप हैं। डा. राधाकृष्णन के अनुसार कृष्ण के शरीर तथा उनकी आत्मा में अन्तर है अतएव हमें कृष्ण की आत्मा की शरण ग्रहण करनी चाहिए, उनके शरीर की नहीं। धार्मिक दर्शन के क्षेत्र में यह नवीन खोज हमें रामायण के उपर्युक्त "पंडित" की याद दिलाती है। *भगवद्गीता* का प्रवचन करने के पीछे श्रीकृष्ण का एकमात्र उद्देश्य हम लोगों को उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करने

के लिए आश्वस्त करना था। फिर भी प्रारम्भ में ही डा. राधाकृष्णन इस बात को मानने को तैयार नहीं हैं। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में (१८.६६) मुख्य आदेश दिया है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:॥

"सभी प्रकार के धर्मों को त्याग दो और मात्र मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें सारे पापफलों से उबार लूँगा। तुम डरो मत।"

भगवान् कृष्ण ने ये शब्द अर्जुन से कहे थे जिससे वह उनकी शरण ग्रहण कर ले। *शरणम्* शब्द का अर्थ आत्मसमर्पण करना है। डा. राधाकृष्णन ने पृष्ठ ६२ पर 'प्रस्तावना' में शरण के विषय में भी विस्तार से विवेचना की है। वे लिखते हैं "*प्रपत्ति* (शरण) के निम्नलिखित अंग हैं—सबों के प्रति सदिच्छा (*आनुकूल्यस्य संकल्प:*); दुर्भावना का अभाव (*प्रतिकूल्यस्य वर्जनम्*); यह श्रद्धा कि भगवान् हमारी रक्षा करेंगे (*रक्षिष्यतीति विश्वास:*); रक्षक के रूप में उनका आश्रय (*गोप्तृत्वे वरनम्*); निपट असहायता का भाव (*कार्पण्यम्*) तथा पूर्ण शरणागति (*आत्मनिक्षेप:*)।"

शरण के इन छह अंगों का पालन कृष्ण या विष्णु के सम्बन्ध में किया जाना चाहिए क्योंकि शरण की विधि के विषय में यह आदेश वैष्णव शास्त्र में आया है। डा. राधाकृष्णन ने प्रथम अंग (*आनुकूल्यस्य संकल्प:*) का अनुवाद "सबों के प्रति सदिच्छा" किया है। प्रश्न है क्या हर एक की शरण लेना सम्भव है? शरण तो एकमात्र परमेश्वर की ग्रहण की जानी चाहिए। डा. राधाकृष्णन का प्रस्ताव अव्यावहारिक है और असम्भव भी। डा. राधाकृष्णन द्वारा टीका लिखे जाने के काफी पूर्व अनेक स्वरूपसिद्ध उपदेशकों ने, जिनमें वृन्दावन के गोस्वामी सम्मिलित

हैं, *आनुकूल्यस्य संकल्पः* की व्याख्या इस प्रकार की है—मनुष्य को भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति अनुकूल होकर करनी चाहिए। कोई भी वास्तविक विद्वान अन्य समस्त आध्यात्मिक महाजनों का अनादर करना और डा. राधाकृष्णन के कथन को स्वीकार करना नहीं चाहेगा।

जब डा. राधाकृष्णन "भगवान् में श्रद्धा" शब्दों का प्रयोग करते हैं तो वे निश्चित रूप से भगवान् का उल्लेख करते हैं। वे किस तर्क से "भगवान्" (लार्ड) तो कहते हैं, किन्तु उससे निर्विशेष ब्रह्म का अर्थ निकालते हैं? जब अर्जुन कहता है कि (*भगवद्गीता* २.७) *शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्* (अब मैं आपका शिष्य हूँ और आपके शरणागत हूँ) तो उसका अभिप्राय व्यक्ति कृष्ण से है। वह *भगवद्गीता* के प्रारम्भ में इन शब्दों से कृष्ण को सम्बोधित करता है। गीता में यहाँ तक निर्विशेष ब्रह्म की व्याख्या नहीं हुई थी। जब अन्त में निर्विशेष ब्रह्म की बात उठाई जाती है तो कृष्ण एक स्वर से घोषित करते हैं कि वे निर्विशेष ब्रह्म के उद्गम हैं। स्वस्थ तर्क कहता है कि कोई व्यक्ति किसी निर्विशेष तथा निराकार की शरण ग्रहण नहीं कर सकता। जो लोग निर्विशेष ब्रह्म के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं उन्हें इस निर्विशेष धारणा की शरण ग्रहण करना अत्यधिक पीड़ाजनक लगेगा और यह असम्भव है। यदि वे इस मार्ग पर दृढ़ रहें तो वे अपनी पत्नी, परिवार तथा सम्बन्धियों की शरण ग्रहण करेंगे।

दिव्य भक्ति भगवान् के असली रूप को प्रकट कराती है

श्रीमद्भागवत से हमें यह ज्ञात होता है कि जो माया जीव को आध्यात्मिक पद से नीचे गिराती है, उस माया के कारण कुछ गन्दे नास्तिक लोग भगवान् के चारों ओर दार्शनिक वाक्जाल का कुहासा उत्पन्न करके भगवान् को आम जनता से छिपा रखना चाहते हैं। इस प्रयास के

परिणाम का भी वर्णन *भागवत* में (१२.३.४३) हुआ है—

कलौ न राजन् जगतां परं गुरुं
त्रिलोकनाथानतपादपङ्कजम् ।
प्रायेण मर्त्या भगवन्तमच्युतं
यक्ष्यन्ति पाषण्डविभिन्नचेतसः ॥

"हे राजन! कलियुग में लोगों की बुद्धि नास्तिकता के कारण दूसरी दिशा में मुड़ जाएगी और वे ब्रह्माण्ड के परम गुरु भगवान् को लगभग कभी भेंट नहीं अर्पित करेंगे। यद्यपि तीनों जगतों के नियन्ता महापुरुष भगवान् के चरणकमलों पर अपना सिर झुकाते हैं किन्तु इस युग के तुच्छ तथा दुखी मनुष्य ऐसा नही करेंगे।"

जनता को मोहग्रस्त बनाने का एक अच्छा उदाहरण ऐसा ही दार्शनिक वाग्जाल डा. राधाकृष्णन द्वारा *आनुकूल्यस्य संकल्पः* का अनुवाद "सबों के प्रति सदिच्छा" के रूप में है, जिसका सही अर्थ "परमेश्वर की शरण ग्रहण करना" होना चाहिए! संसारी विद्वान से ऐसी गलत व्याख्या की आशा की जा सकती है।

भक्ति में प्रथम शब्द समर्पण या शरण ग्रहण करना है। शरण ग्रहण करने का एकमात्र अर्थ यह स्वीकार करना है कि मनुष्य भगवान् का दास है। शरणागति के लिए डा. राधाकृष्णन जैसे महान विद्वानों एवं दार्शनिकों को भी पर्याप्त तपस्या करनी होगी। *भगवद्गीता* का यह निर्णय है। डा. राधाकृष्णन द्वारा शरणागति के छह अंगों की व्याख्या सतही है। इसकी मूल परिभाषा वैष्णव पाठ में पाई जाती है जिसमें ये छह अंग भगवान् विष्णु या कृष्ण से सम्बन्धित बताए गए हैं। *आनुकूल्य* का अर्थ है "भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति।" *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में कहा गया है— "*आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा*—मनुष्य को

चाहिए कि भगवान् कृष्ण की दिव्य भक्ति अनुकूल होकर करे। यह शुद्ध भक्ति कहलाती है।''

इस संसार का हर व्यक्ति किसी न किसी रूप में कृष्ण की सेवा कर रहा है। कुछ लोग अनुकूल भाव से करते हैं तो अन्य लोग प्रतिकूल भाव से करते हैं। जो लोग प्रतिकूल होकर सेवा करते हैं वे शत्रु भावपूर्ण नास्तिक मूर्ख अभक्त हैं जबकि हँसी-खुशी से सेवा करने वाले सचमुच बुद्धिमान हैं। दूसरे शब्दों में, कृष्ण के भक्त अत्यन्त बुद्धिमान हैं जबकि संसारी विद्वान कंस तथा जरासन्ध जैसे अभक्त नास्तिकों की कोटि में आते हैं।

भगवद्गीता में मुख्य आदेश है कि भगवान् कृष्ण की पूर्ण शरण ग्रहण की जाय। किन्तु भगवान् के मुख-कमल से निस्सृत इस निर्णय को डा. राधाकृष्णन यह लिखकर पलट देते हैं कि मनुष्य को व्यक्ति कृष्ण की नहीं अपितु ''अजन्मा, अनादि, नित्य तथा कृष्ण के माध्यम से बोलने वाले'' की शरण ग्रहण करनी चाहिए। मात्र विद्वत्ता प्रदर्शन के लिए *गीता* की विवेचना करना व्यर्थ का श्रम है और इसलिए अशास्त्रोक्त व्याख्या करना व्यर्थ है जिससे कि कोई यह निष्कर्ष निकाले कि *भगवद्गीता* का प्रवचनकर्ता भगवान् कृष्ण कोई मर्त्य है। यह घोषित करने के लिए कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, वैदिक ज्ञान का उपयोग करना कृष्ण की प्रतिकूल ढंग से सेवा करने का स्पष्ट उदाहरण है।

ऐसे विद्वानों का जो वेदों के नाम पर नास्तिकता का प्रसार करते हैं, वर्णन भगवान् कृष्ण किस प्रकार करते हैं? *भगवद्गीता* में (७.१५) हमें यह कथन मिलता है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

''जो निपट मूर्ख हैं, जो मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान मोह द्वारा हर लिया गया है तथा जो असुरों की नास्तिक प्रकृति को धारण किए हुए हैं, ऐसे दुष्ट मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।''

कंस तथा जरासन्ध जैसे भगवान् के शत्रु सदैव कृष्ण का ध्यान करते रहे किन्तु प्रतिकूल होकर। इन्हीं असुरों के समान वे नास्तिक विद्वान हैं जो *भगवद्गीता* की असली शिक्षाओं को ललकारते रहते हैं और उनकी गलत व्याख्या करते हैं। यद्यपि वे भगवान् का चिन्तन करते हैं किन्तु वे ऐसा शत्रु-भाव से करते हैं क्योंकि उनकी बुद्धि को माया प्रच्छन्न किये रहती है। कंस तथा जरासंध भी पंडित थे किन्तु चूँकि वे शत्रु भाव से कृष्ण से परेशान थे अतः वे असुर थे।

श्रीचैतन्य की शिक्षाओं तथा उनके आदर्श कार्यों से हम जानते हैं कि हमारा परमधर्म है कि हम *भगवद्गीता* के उपदेशों का अनुकूल भाव से पालन करें। अपनी दक्षिण भारत यात्रा के दौरान श्रीचैतन्य महाप्रभु श्री रंगनाथ मन्दिर के परिसर में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने एक भोलेभाले ब्राह्मण को *भगवद्गीता* पढ़ने में मग्न देखा। महाप्रभु को यह देख कर परम प्रसन्नता हुई कि वह ब्राह्मण बहुत ही ध्यान के साथ पढ़ रहा है और उसके कपोलों पर अश्रु की धारा बह रही है। पास बैठे अन्य ब्राह्मणों को पता था कि वह ब्राह्मण अनपढ़ था अतः उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि वह *गीता* का पाठ कैसे कर सका।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने बड़ी ही आसानी से यह समस्या हल कर दी। उन्होंने कहा कि यदि कोई व्यक्ति पूर्ण रूप से शरणागत हो तो अनपढ़ होते हुए भी वह दिव्य शब्दों को समझ सकता है। किन्तु शरणागत भाव के बिना *भगवद्गीता* समझ में नहीं आती।

जब महाप्रभु ने अश्रुपूरित ब्राह्मण को देखा तो उन्होंने उससे पूछा कि *गीता* के किस अंश से उसे रोना आ रहा है। समुचित वैष्णव

दीनता के साथ उस ब्राह्मण ने उत्तर दिया—

"मैं तो *गीता* पढ़ने का बहाना कर रहा हूँ, सच्चाई तो यह है कि मैं अनपढ़ हूँ। किन्तु मेरे गुरु ने आदेश दिया है कि मैं सम्पूर्ण *भगवद्गीता* का पाठ नियमित रूप से करूँ यद्यपि मैं अनपढ़ हूँ। मैं अपने गुरु की अवज्ञा नहीं करना चाहता इसलिए मैं अपना कर्तव्य पालन करता हूँ। इसीलिए मैं *गीता* पढ़ने का स्वाँग रचता हूँ।"

तब महाप्रभु ने पूछा कि तुम रोते क्यों हो? तब ब्राह्मण ने उत्तर दिया—

"जब भी मैं *गीता* पढ़ने बैठता हूँ तो मेरे हृदय में पार्थसारथी के रूप में कृष्ण प्रकट होते हैं। इस रूप को देखते ही मैं तुरन्त स्मरण करता हूँ कि भगवान् कितने भक्तवत्सल हैं। इस विचार से मुझे रोना आ जाता है।"

मायावादी अद्वैत परब्रह्म से तदाकार होने तथा ईश्वर बनने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। किन्तु उनकी क्षुद्र बुद्धि में यह नहीं चढ़ता कि भगवान् अपने भक्त के सारथी किस तरह बन सकते हैं और उसके आदेशों का पालन कर सकते हैं। सत्य तो यह है कि भगवान् तथा जीव शाश्वत रूप से सम्बन्धित हैं और इस सम्बन्ध के कारण अनेक आश्चर्यजनक बातें सम्भव हैं। किन्तु मायावादी इस सच्चाई को समझ नहीं पाते और जिन लोगों ने उन्हें समझाने का प्रयास किया है वे भी असफल रहे हैं। श्रुति में (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.२३) में यह कथन प्राप्त होता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

"केवल उन महात्माओं को, जिन्हें भगवान् तथा गुरु दोनों में अन्तरंग

आस्था है वैदिक ज्ञान का सार स्वतः प्रकट होता है।"

इस दक्षिण भारत के ब्राह्मण में *गीता* पढ़ते समय भक्ति देख कर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उसका आलिंगन किया और उससे कहा कि उसका गीता-पठन सफल है। वह कौन मूर्ख होगा जो इसे नहीं मानेगा कि श्रीचैतन्य महाप्रभु का यह अनुमोदन करोड़ों विश्वविद्यालयी डिग्रियों से श्रेष्ठ है? महाप्रभु द्वारा दिया गया यह उपहार बताता है कि *भगवद्गीता* का अध्ययन भौतिक बुद्धि से नहीं किया जा सकता। *गीता* का ज्ञान परम्परा से चली आने वाली गुरु-शिष्य-शृंखला से प्राप्त करना चाहिए। यही एकमात्र विधि है, अन्यथा गीता का अध्ययन करना व्यर्थ का श्रम है। शास्त्रीय निर्णय यह है कि चूँकि भगवान् दिव्य हैं; अतः उनके शब्द भी दिव्य हैं; अतएव *भगवद्गीता* का गोपनीय विषय केवल गुरु-शिष्य-परम्परा से प्राप्त किया जा सकता है जो कि समान रूप से दिव्य है। *पद्मपुराण* में कहा गया है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

"कोई भी व्यक्ति अपनी दूषित इन्द्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं की दिव्य प्रकृति को समझ नहीं सकता। जब वह भगवान् की दिव्य सेवा के द्वारा आध्यात्मिक पद पर स्थित हो जाता है तभी भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण तथा लीलाएँ उसके समक्ष प्रकट होती हैं।"

इसकी पुष्टि *ब्रह्मसंहिता* में (५.३८) हुई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपम्
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अचिन्त्य असंख्य गुणों से युक्त श्यामसुन्दर या साक्षात् कृष्ण हैं जिन्हें शुद्ध भक्त आँखों में भक्ति-रूपी प्रेम का अंजन लगाकर अपने हृदयों में देखते हैं।"

इसलिए शास्त्रों का निष्कर्ष यह है कि डा. राधाकृष्णन जैसे संसारी दार्शनिक विषयों में आध्यात्मिक गोता लगाने योग्य नहीं है। एकमात्र भगवद्भक्त ही भगवान् कृष्ण को समझ पाने के पात्र हैं, अन्य कोई नहीं है। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में (१८.५५) स्वयं कहा है *भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्वतः*—केवल भक्ति के द्वारा मुझे भगवान् के रूप में समझा जा सकता है।

डा. राधाकृष्णन जैसे विद्वानों को समझना चाहिए कि भगवान् कृष्ण के भीतर केवल कृष्ण रहते हैं, अन्य कुछ नहीं। भगवान् कृष्ण का शरीर और आत्मा एक हैं। गीता का निर्णय है कि अद्वैत सत्य कृष्ण हैं जो कि परम पुरुष हैं। किन्तु डा. राधाकृष्णन ने येन केन प्रकारेण कृष्ण के भीतर एक दूसरे प्राणी को खोज निकाला है। तब तो इस खोज से डा. राधाकृष्णन द्वैतवाद में विश्वास करने वाले सिद्ध होते हैं! प्रत्येक जीव के हृदय में वास करने वाले परम सत्य के प्राकट्य का वर्णन भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में (१०.८) स्पष्ट रूप में किया है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

"मैं समस्त अध्यात्म तथा भौतिक जगतों का कारण हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझी से उद्भूत है। जो बुद्धिमान यह अच्छी तरह जानते हैं वे मेरी प्रेमाभक्ति में लगते हैं तथा हृदय में मेरी पूजा में पूरी तरह तत्पर रहते हैं।"

आगे चलकर *गीता* में (१५.१५) वे कहते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

"मैं प्रत्येक जीव के हृदय में आसीन हूँ, और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उद्भूत होती है। मैं वेदों के द्वारा ही जानने के योग्य हूँ। निस्सन्देह मैं वेदान्त का संकलनकर्ता तथा समस्त वेदों का जानने वाला हूँ।"

पूर्ण ज्ञान से युक्त बुद्धिमान लोग अर्थात् जिन्होंने अपनी भौतिकतावादी बुद्धि को परिमार्जित कर लिया है और जो आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त हैं, भगवान् कृष्ण को हर वस्तु के स्रोत के रूप में समझते हैं। जब तक बुद्धि परिमार्जित और आध्यात्मीकृत नहीं हो जाती तब तक बड़े से बड़े दार्शनिक तथा बड़े से बड़े योगी को भगवान् कृष्ण को समझने के प्रयास में उलझनों का सामना करना पड़ेगा। *भगवद्गीता* में (७.३) भगवान् कहते हैं— *यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः*—जिन्होंने सिद्धि प्राप्त कर ली है उनमें से शायद ही कोई मुझे यथार्थ में जानता है।

भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीलाएँ, पार्षद तथा साज-सामग्री ये सब एक समान आध्यात्मिक हैं। वस्तुतः भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित कोई भी वस्तु उनसे अभिन्न है। *पद्मपुराण* का कथन है—

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान् नामनामिनोः॥

"कृष्ण का पवित्र नाम दिव्यरूप से आनन्दमय है। यह समस्त आध्यात्मिक वर प्रदान करता है क्योंकि यह समस्त आनन्द का आगार है अर्थात् साक्षात् कृष्ण है। कृष्ण का नाम पूर्ण है और यह समस्त रसों का स्वरूप है। यह किसी भी दशा में भौतिक नाम नहीं है और यह स्वयं कृष्ण से कम शक्तिशाली नहीं है। चूँकि कृष्ण का नाम भौतिक गुणों से दूषित नहीं होता अत: इसके माया में लिप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कृष्ण का नाम सदैव मुक्त तथा आध्यात्मिक है; यह प्रकृति के नियमों के द्वारा कभी बद्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि कृष्ण का नाम तथा स्वयं कृष्ण अभिन्न हैं।"

केवल सन्त पुरुष ही इन कथनों के सत्य का अनुभव कर सकते हैं। जिनकी बुद्धि मायावाद दर्शन से भ्रष्ट हो चुकी है वे इसे नहीं समझ सकते।

सामान्य बात यह है कि अद्वैतवादी लोग अद्वैतवाद की जटिलताओं को समझ नहीं सकते। अत: डा. राधाकृष्णन ने अपनी कल्पना से एक ऐसा सिद्धान्त निकाला है जो अद्वैतवाद पर द्वैतवाद को स्थापित करना चाहता है। जब डा. राधाकृष्णन यह लिखते हैं कि हमें अजन्मा अनादि शाश्वत की शरण ग्रहण करनी चाहिए जो कृष्ण के माध्यम से बोलता है तो उनका आशय यह होता है कि कृष्ण के भीतर का निर्विशेष ब्रह्म ही शरण के विषय में बोल रहा है। एक बार यह निश्चित हो जाने पर कि निर्विशेष ब्रह्म बोल सकता है तब तो उसके जीभ भी होनी चाहिए जिससे वह बोलता है। इस तरह हम देखते हैं कि डा. राधाकृष्णन की निर्विशेषवाद की पूरी धारणा तुरन्त ध्वस्त हो जाती है। शास्त्रों में पर्याप्त प्रमाण है कि जो बात करता है वह चल भी सकता है। और बोलने तथा चलने में समर्थ होने से वह सारी इन्द्रियों से युक्त होगा। तब वह अन्य सारे कार्य यथा खाना, सोना आदि भी

सम्पन्न कर सकेगा। तो फिर डा. राधाकृष्णन यह दावा कैसे कर सकते हैं कि उनकी अनादि, शाश्वत वस्तु निर्विशेष है?

डा. राधाकृष्णन अपने "इण्ट्रोडक्टरी एसे" में पृष्ठ ६२ पर लिखते हैं—

"जब हम अपने स्व (?) से रिक्त हो जाते हैं तो हम पर ईश्वर अधिकार जमा लेता है। ईश्वर द्वारा इस अधिकार के करने में मुख्य रुकावटें हैं हमारे अपने गुण, अहंकार, ज्ञान, हमारी सूक्ष्म माँगें तथा हमारी अचेतन कल्पनाएँ एवं मानसिक ग्रन्थियां।"

डा. राधाकृष्णन के तर्कों से हम स्पष्टतया यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अपनी असावधानी तथा अपने संस्कारवश ही वे भगवान् कृष्ण के शरीर तथा उनकी आत्मा में अन्तर देख रहे हैं। वे अब भी मिथ्या अहंकार से मुक्त अर्थात् "स्व से रिक्त" नहीं हैं। इसीलिए "उनके गुण, गर्व, ज्ञान, सूक्ष्म माँगें तथा अचेतन कल्पनाएँ एवं मानसिक ग्रन्थियां" उन्हें दिव्य सत्य को समझने से रोक रहे हैं। वे अवश्य ही मायावाद विचार के वातावरण में पले होंगे जिससे वे सत्य को पकड़ नहीं सके।

मायावाद दर्शन के संस्थापक तथा विस्तारक श्रीपाद शंकराचार्य ने सिद्ध किया था कि यह भौतिक जगत मिथ्या है अत: उन्होंने तपस्या तथा त्याग के पथ का अनुगमन किया और अपनी शिक्षाओं में इसी पर बल दिया। उन्होंने इस मायामय जगत् पर अपना प्रभुत्व जताने का प्रयास करने में समय नहीं गँवाया। किन्तु यदि वे अपने द्वारा चलाये गये दर्शन की वर्तमान दशा देखते तो शायद उन्हें लज्जा आती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि डा. राधाकृष्णन उनके द्वारा प्रभावित थे—यह उनकी कृतियों से सुस्पष्ट है। फिर भी "इन्ट्रोडक्टरी एसे" में पृष्ठ २५ पर वे लिखते हैं "*गीता* में उस ब्रह्म पर बल दिया गया है जो साकार ईश्वर है और जो अपनी प्रकृति के द्वारा दृश्य जगत का सृजन करता

है। वह हर प्राणी के हृदय के भीतर निवास करता है, वह यज्ञों का भोक्ता तथा स्वामी है। वह हमारे हृदय में भक्ति का संचार करता और हमारी प्रार्थनाओं को स्वीकार करता है। वह मूल्यों का स्रोत तथा धारक है। वह पूजा तथा प्रार्थना में हमारे साथ साकार सम्बन्ध स्थापित करता है।''

ऐसा लिखने तथा गीता के असली तात्पर्य को मान लेने के बाद डा. राधाकृष्णन यह कैसे कह सकते हैं कि भगवान् कृष्ण का शरीर और आत्मा पृथक पृथक हैं? ऐसा विचार अवश्य ही उनकी भौतिकतावादी शिक्षा का परिणाम रहा होगा। वह किस तरह के अद्वैतवाद की स्थापना करते हैं जिसमें परब्रह्म यानी अद्वैत परम पुरुष अपने आन्तरिक अस्तित्व से पृथक हैं! क्या डा. राधाकृष्णन अपने दर्शन के इन सुस्पष्ट दोषों की व्याख्या कर सकते हैं? जब स्वयं भगवान् सर्वज्ञ परमात्मा के रूप में हर एक के हृदय में उपस्थित हैं तो फिर उनके ही हृदय में अन्य कौन स्थित हो सकता है? गीता में भगवान् कृष्ण स्वयं ही अपने दिव्य गुणों की बातें करते हैं जिनका खंडन डा. राधाकृष्णन अपनी भौतिक विद्वत्ता से नहीं कर पाते।

ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्—ये तीनों एक ही अद्वैत परब्रह्म हैं। यह कहना हास्यास्पद होगा कि डा. राधाकृष्णन को इसका पता नहीं है किन्तु फिर भी उनके इस दावे में कोई तर्क नहीं दिखता कि भगवान् जब अवतार लेते हैं, तो वे माया के प्रवाह में आ जाते हैं। भगवान् ने *गीता* में स्पष्ट कहा है कि जब वे प्रकट होते हैं तो वे अपने आदि दिव्य रूप में ऐसा करते हैं। अतएव उनमें तथा उनके शरीर में कोई अन्तर नहीं है। भगवान् यह भी कहते हैं कि उनका आविर्भाव, कार्यकलाप आदि सब दिव्य हैं और भौतिकता के क्षेत्र से परे हैं। वे नित्य, परम शुद्ध, आदि परमपुरुष तथा परब्रह्म हैं। हम सभी स्वीकार करते हैं कि

जीव माया से प्रच्छन्न है किन्तु यदि परब्रह्म भी माया से प्रच्छन्न हो तो क्या माया परब्रह्म से श्रेष्ठ है?

भगवान् कृष्ण परम नियन्ता ईश्वर हैं

चूँकि डा. राधाकृष्णन का आशय यह है कि केवल निर्विशेष ब्रह्म में ही अव्यय, अविनाशी, अजन्मा होने के गुण पाये जाते हैं अतएव इसके सही उत्तर के लिए हम गीता का प्रश्रय लेंगे। वास्तव में, अद्वैत ब्रह्म के सभी दिव्य अंशों में ये सारे सर्वोत्कृष्ट गुण पाये जाते हैं। *भगवद्गीता* में (११.१८) अर्जुन घोषित करते हैं—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥

''आप परम आद्य गन्तव्य हैं। आप इस सारे ब्रह्माण्ड के परम आधार हैं। आप अव्यय तथा पुराण पुरुष हैं। आप सनातन धर्म के पालक भगवान् हैं। यही मेरा मत है।''

हमें यह समझ लेना चाहिए कि *गीता* में जहाँ जहाँ परब्रह्म को अक्षर कहा गया है वे परम नियन्ता भगवान् कृष्ण के द्योतक हैं। एक बार भी कृष्ण को ''क्षर'' यानी बद्धजीव के बराबर नहीं कहा गया है। डा. राधाकृष्णन जैसे दार्शनिक ही नहीं अपितु ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे बड़े बड़े देवता *क्षर* कोटि में आते हैं। भगवान् मात्र अपनी भिन्ना शक्ति के द्वारा सम्पूर्ण विराट जगत को धारण करते हैं। जिस तरह अग्नि एक स्थान पर रहते हुए सभी दिशाओं में अपना प्रकाश तथा उष्मा फैलाती है उसी तरह अजन्मा परमेश्वर कृष्ण अपने पूर्ण व्यक्तित्व, नित्यता तथा अक्षरत्व को कायम रखते हुए असंख्य विष्णु रूपों, जीवों तथा अन्तरंगा एवं बहिरंगा शक्तियों में विस्तार करते हैं। इस तरह के विस्तार से उनके परमपूर्ण के पद में न तो कोई कमी आती है न कोई प्रभाव पड़ता

है। *ईशोपनिषद्* की घोषणा है— *पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते*— "जो कुछ भी पूर्ण से उत्पन्न होता है वह भी पूर्ण होता है। पूर्ण होने से, उसमें से अनेक पूर्ण इकाइयाँ उद्‌भूत होने पर भी वह पूर्ण बना रहता है।"

चूँकि भगवान् नित्य परमपुरुष हैं अतएव उनका नाम, रूप, गुण, लीलाएं आदि सभी नित्य हैं। संस्कृत शब्द पुरुष का अर्थ है *भोक्ता*। भोक्ता कभी भी रूपहीन, निर्विशेष तथा नपुंसक नहीं हो सकता। हाँ, भगवान् कृष्ण भौतिक गुणों से रहित हैं, फिर भी वे भोक्ता हैं और समस्त आध्यात्मिक गुणों से युक्त हैं।

भगवद्गीता में अर्जुन ने कृष्ण की स्तुति अक्षर, परब्रह्म तथा आदि देव के रूप में की है। डा. राधाकृष्णन लिखते हैं कि अक्षर और अव्यय पर्यायवाची हैं। तो फिर वे यह निष्कर्ष क्यों निकालते हैं कि भगवान् कृष्ण तथा उनका शरीर भिन्न हैं? यह हमारी समझ में नहीं आता। अपनी पुस्तक के पृष्ठ २७५ पर डा. राधाकृष्णन स्वीकार करते हैं कि अर्जुन यह कहता है कि कृष्ण परब्रह्म, भगवान्, परमसत्य हैं। इसी पुस्तक में इसी पृष्ठ पर वे ऐसी बात लिखते हैं जो नितान्त असम्बद्ध तथा कपोलकल्पित है और इसे अर्जुन के मत्थे थोपते हैं, "अर्जुन कहता है कि श्रीकृष्ण ब्रह्म तथा ईश्वर दोनों हैं।" यदि डा. राधाकृष्णन को गीता की ऐसी अपूर्ण तथा अयथार्थ अनुभूति है कि वे यह सोचते हैं कि भगवान् ब्रह्म से पृथक हैं तो वे यह कैसे दावा कर सकते हैं कि उन्होंने गीता पढ़ी है? वे तर्क करते हैं कि भगवान् तथा परमात्मा कृष्ण माया की उपज हैं किन्तु ब्रह्म नहीं हैं। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने ऐसे चिन्तनपरक दर्शन की कस कर आलोचना की है। *चैतन्य चरितामृत* में उन्होंने लिखा है, "यह न जान कर कि ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् सभी कृष्ण के स्वरूप हैं, मूर्ख विद्वान विभिन्न

तरीकों से चिन्तन करते हैं।"

हम अर्जुन तथा श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी को डा. राधाकृष्णन से बढ़कर अधिकारी मानते हैं। अर्जुन ने प्रत्यक्ष *भगवद्गीता* सुनी और भारत के राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद ने *चैतन्य चरितामृत* को प्रामाणिक तथा प्राधिकृत शास्त्र स्वीकार किया है। जो लोग *भगवद्गीता* को अर्जुन से चली आ रही शिष्य-परम्परा से ग्रहण करने का प्रयास करते हैं वे ही गुह्य ज्ञान को वास्तविक रूप में समझ सकते हैं, शेष लोग बुरी तरह विफल रहते हैं। यह तो अनिवार्य है कि मनुष्य को चाहिए कि *भगवद्गीता* तथा अन्य प्रामाणिक शास्त्रों में निर्विशेष ब्रह्म के विषय में जो कहा गया है उसे ध्यानपूर्वक सुनें। शास्त्रों में अच्छी तरह सिद्ध किया गया है कि निर्विशेष ब्रह्म भगवान् के शरीर का तेज है जिस तरह सूर्य का प्रकाश सूर्य का तेजस्वी निर्गमन है। इतना ही नहीं, जिस तरह सूर्य की किरणें सूर्य पर आश्रित हैं और अधीनस्थ हैं। उसी तरह निर्विशेष ब्रह्मज्योति, जो कि भगवान् कृष्ण की शारीरिक कान्ति है, भगवान् पर पूरी तरह आश्रित है और उनके अधीन है। *गीता* में (१४.२७) वे कहते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

"और मैं ही उस निराकार का आश्रय हूँ जो अमर्त्य, अविनाशी, तथा शाश्वत है और चरम सुख का स्वाभाविक पद है।"

गीता में निर्विशेष ब्रह्म विषयक भगवान् के कथन निर्विवाद हैं फिर भी डा. राधाकृष्णन उनसे असन्तुष्ट लगते हैं। वे उपर्युक्त श्लोक का अनुवाद जान बूझ कर ईर्ष्यावश इस प्रकार करते हैं—"क्योंकि मैं अमर तथा अविनाशी ब्रह्म का, नित्य विधि का तथा परम आनन्द का धाम

हूँ।'' चूँकि भगवान् कृष्ण निर्विशेष, निराकार ब्रह्म के आधार हैं अत: वे निश्चित रूप से उससे श्रेष्ठतर हैं। मच्छरदानी घर के भीतर रहती है, घर उसके भीतर नहीं रहता, इसी तरह दावात मेज पर रहती है, मेज दावात पर नहीं। एक छोटा बच्चा तक इसे समझ सकता है। तो फिर डा. राधाकृष्णन इस सत्य को स्वीकार करने से क्यों हिचकिचाते हैं? शास्त्र में भगवान् कृष्ण के परम पुरुष होने के असंख्य प्रमाण हैं लेकिन डा. राधाकृष्णन सत्य रूपी सूर्य को वाक्जाल के गहन बादल उत्पन्न करके आच्छादित करना चाहते हैं। इस प्रकार जगत के समक्ष सत्य तथा ज्ञान के स्थान पर भ्रम का प्रदर्शन किया जा रहा है। हम ऐसे कार्य की घोर निन्दा करते हैं। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से डा. राधाकृष्णन ने इस सत्य को कि भगवान् कृष्ण ब्रह्म के आधार हैं, घुमाने का प्रयास किया है और ऐसा करते हुए वे पराजित हुए हैं। यदि डा. राधाकृष्णन सचमुच ही भगवान् कृष्ण को परम ईश्वर मानते हैं तो फिर वे किस कारण से कृष्ण के भीतर अन्य व्यक्ति को देखने के लिए तथा यह लिखने के लिए प्रेरित होते हैं, ''हमें जिनको आत्म-समर्पण करना है वे साकार कृष्ण नहीं हैं....''?

सच्चाई तो यह है कि जिन्हें भगवान् का आशीर्वाद मिल चुका है वे ही ईश्वर विषयक आध्यात्मिक विज्ञान की गहराई माप सकते हैं। डा. राधाकृष्णन की पुस्तक इसे अकाट्य सिद्ध करती है। मायावादी दार्शनिक परमेश्वर के सबसे बड़े अपराधी हैं इसीलिए वे इन लोगों के समक्ष कभी प्रकट नहीं होते। *गीता* में (७.२५) स्वयं भगवान् यह घोषणा करते हैं, *नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमायासमावृत: मूढ:।* ''मैं मूर्ख तथा अज्ञानी के समक्ष कभी प्रकट नहीं होता हूँ। उनके लिए मैं अपनी अन्तरंगा शक्ति से आवृत रहता हूँ...।'' सारे पूर्ववर्ती आचार्यों ने मायावादियों की निन्दा की है किन्तु श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु ने उन्हें

परमेश्वर के प्रति सबसे बड़े अपराधी कह कर निन्दा की है। उन्होंने कहा कि यदि कोई व्यक्ति किसी मायावादी से दर्शन का श्रवण करता है तो उसका आध्यात्मिक जीवन चौपट हो जाता है। *चैतन्य चरितामृत* में (मध्य १७.१२९-१३२, १३४-१३५) महाप्रभु ने मायावादियों के विषय में इस प्रकार कहा है—

''श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उत्तर दिया मायावादी निर्विशेषवादी भगवान् कृष्ण के महान अपराधी हैं; इसलिए वे ब्रह्म, आत्मा तथा चैतन्य शब्दों का मात्र उच्चारण करते हैं। उनके मुँहों में कृष्ण का पवित्र नाम नहीं आता क्योंकि वे भगवान् कृष्ण के अपराधी हैं जो अपने पवित्र नाम से अभिन्न हैं। भगवान् का पवित्र नाम, उनका रूप तथा व्यक्तित्व, सभी एक ही हैं। उनमें कोई अन्तर नहीं है। चूँकि वे सभी परम हैं अतएव वे दिव्य रूप से आनन्दमय हैं। कृष्ण के शरीर तथा उनमें या उनके नाम तथा उनमें कोई अन्तर नहीं है। जहाँ तक बद्धात्मा की बात है, उसके लिए हर बात भिन्न है। उसका नाम उसके शरीर से, उसके आदि रूप, आदि से भिन्न है। कृष्ण के पवित्र नाम, उनके शरीर तथा उनकी लीलाओं को कुंठित भौतिक इन्द्रियों के द्वारा समझा नहीं जा सकता। वे स्वतन्त्र रूप से प्रकट हैं। भगवान् कृष्ण के नाम, उनके दिव्य गुण तथा लीलाएं तथा स्वयं भगवान् कृष्ण सभी समान हैं। वे सभी आध्यात्मिक तथा आनन्दमय हैं।''

मायावादी लोग श्रीपाद शंकराचार्य की नकल करने का प्रयास करते हैं। वे अपने को पुराणपन्थी बताते हुए इस सत्य को नकारते हैं कि जीव परब्रह्म का अंश है। वे इस बात से भी इनकार करते हैं कि वह परब्रह्म का मात्र अंश रूप (जीव) है और साक्षात् परब्रह्म नहीं, जो माया के वश में होता है। सबसे खराब बात यह है कि वे इससे इनकार करते हैं कि परब्रह्म भगवान् के अतिरिक्त और कोई नहीं। उनके

एकांगी तर्क के अनुसार जब जीव मुक्ति प्राप्त करता है तो वह निर्विशेष ब्रह्म में समा जाता है और अपनी व्यक्तिगत सत्ता खो देता है। इस तर्क के अनुसार जब परब्रह्म इस भौतिक जगत में अवतरित होते हैं या किसी अर्चाविग्रह रूप में प्रकट होते हैं तो वे सामान्य जीव बन जाते हैं। इस तरह ये मूर्ख मायावादी भगवान् तथा उनके रूप के बीच अन्तर बताते हैं और उनके प्रति महान अपराध करते हैं।

अत: भगवान् कृष्ण तथा उनके रूप के बीच दीवार खड़ी करके डा. राधाकृष्णन ने अपनी बुद्धि के अभाव को प्रदर्शित किया है। निस्सन्देह, माया ने उनकी बुद्धि हर ली है और श्रीचैतन्य महाप्रभु के अनुसार वे सबसे नीच अपराधी हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने ऐसे अपराधियों को *मूढ़* कहा है क्योंकि वे भगवान् में मानवीय दुर्बलताओं तथा दुर्गुणों का आरोप करते हैं। आज यह संसार नास्तिकों के बाहुल्य के कारण नरक बन चुका है और यह भगवान् के शत्रुओं द्वारा मायावाद दर्शन के प्रचार के कारण ही है। श्रीचैतन्य महाप्रभु का मिशन जीवों को इन अपराधियों के चंगुल से बचाना है। जो लोग इस मिशन पर ध्यान नहीं देते वे श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रति अपराध करते हैं।

मायावादी भरसक प्रयास करते हैं कि वे अध्यात्मवादियों जैसे दिखें किन्तु वस्तुत: वे स्थूल भौतिकतावादी हैं। भले ही वे जनता को अपने वाक्जाल से भ्रमित बनाने तथा चमत्कृत करने में सक्षम हों किन्तु सच तो यह है कि उनका तथाकथित वैराग्य बन्दरों के वैराग्य के सदृश्य मिथ्या है क्योंकि वे यश, पूजा, पद, सम्पत्ति के पीछे याचकों के समान फिरते हैं। वे केवल सांसारिक प्रगति में लगे रहते हैं। वे आध्यात्मिक सन्देश तथा आध्यात्मिक लक्ष्य एवं आदर्श कब के भूल चुके हैं। *श्रीमद्भागवत* में (१.१.२) ऐसे दिखावटी धर्म को *कैतव धर्म*—ठगी का धर्म—कहा गया है। जो लोग ऐसे कैतवधर्म समूहों के प्रति आकृष्ट

होते हैं वे स्वयं ठग हैं। उनका आध्यात्मिकता का दिखावा निन्दनीय है। उन्हें मुक्ति या भक्ति तथा आत्मसमर्पण की कोई इच्छा नहीं रहती। वे चिन्तन (ज्ञान) में लिप्त रहते हैं और कृष्ण को कभी नहीं समझ सकते।

जब मायावादी लोग कीर्तन करने या निजी नाम तथा यश के लिए *भागवत* पर चर्चा करने का स्वाँग रचते हैं तो वे ब्रह्म, चैतन्य तथा परमात्मा के विषय में गा सकते हैं और बात कर सकते हैं किन्तु वे भगवान् कृष्ण का नाम नहीं ले सकते। यद्यपि सम्पूर्ण *भगवद्गीता* में *श्रीभगवान् उवाच* जैसे शब्द आते हैं किन्तु मायावादी लोग श्रीकृष्ण के नाम के अतिरिक्त कुछ भी कहने को प्रस्तुत रहते हैं। यह सर्वविदित शास्त्रीय सत्य है कि ब्रह्म तथा परमात्मा शब्द अन्ततोगत्वा भगवान् कृष्ण के द्योतक हैं और कृष्ण ही परमपुरुष का मुख्य नाम है। तो भी जब मायावादी लोग कृष्ण, गोविन्द या हरि जैसे ईश-नामों का उच्चारण करते हैं तो वे इस समझ तथा श्रद्धा के साथ नहीं करते कि ये ईश्वर के मुख्य नाम हैं और वे परमेश्वर से अभिन्न हैं; प्रत्युत वे इस भाव से करते हैं कि इनका उच्चारण क्षणिक साधन है। वे इसे भी स्वीकार नहीं करते कि पवित्र नाम का ऐसा उच्चारण अपराध है। निस्सन्देह, उनका सबसे बड़ा अपराध है भगवान् कृष्ण तथा उनके रूप में अन्तर करना। भगवान् कृष्ण *गीता* में (९.११) ऐसे अपराधियों की भर्त्सना करते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

"जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे परमेश्वर के रूप में मेरे दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।"

अब जरा देखें कि डा. राधाकृष्णन ने इस श्लोक का अनुवाद अपनी पुस्तक के पृष्ठ २४२ पर किस प्रकार किया है, "मोहग्रस्त लोग मेरे उच्चतर स्वभाव को समस्त जगतों के स्वामी के रूप में न जानते हुए मुझे मानव शरीर में आवेष्ठित समझ कर उपहास करते हैं।" दूसरे शब्दों में, जब ऐसा व्यक्ति जो "समस्त जगतों का स्वामी है" "मानव शरीर में आवेष्ठित" होता है तो जो लोग उन्हें भौतिकतावादी दृष्टिकोण से देखते हैं, वे उन्हें सामान्य मर्त्य प्राणी मानते हैं और जो लोग आध्यात्मिक दृष्टि से देखते हैं वे यह समझते हैं कि वे समस्त कारणों के कारण परमपुरुष हैं। अत: यदि मोहग्रस्त लोग ही भगवान् कृष्ण का उपहास करते हैं तो क्या डा. राधाकृष्णन के लिए यह उचित नहीं कि वे अपने इस अपराध को स्वीकार करें? वे यह अनुभव करें कि उन्होंने मर्त्यप्राणी के साथ तुलना करके किस तरह "समस्त जगतों के स्वामी" को नीचा दिखाया है। जब हम देखते हैं कि इतने बड़े बड़े विद्वान भगवान् कृष्ण के प्रति शत्रुता रखते हैं तो हम *गीता* के अनुसार यह निष्कर्ष निकालते हैं कि माया ने उनकी बुद्धि हर ली है।

समस्त पूर्ववर्ता आचार्यों ने कृष्ण को भगवान् के रूप में स्वीकार किया है। यहाँ तक कि श्रीपाद शंकराचार्य ने भी इस सत्य को स्वीकारा है। तो भी डा. राधाकृष्णन इतने मोहग्रस्त हैं कि वे भगवान् कृष्ण को सामान्य जीव या शायद असाधारण व्यक्ति मानते हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु से बढ़कर कोई ज्ञानवान नहीं। कृष्णभावनामृत का ज्ञान, जो कि तार्किक तथा वैज्ञानिक है, श्रीचैतन्य से ग्रहण करना चाहिए। क्या डा. राधाकृष्णन ने श्रीचैतन्य महाप्रभु की सीधी आध्यात्मिक शृंखला के श्रील जीव गोस्वामी के उपदेशों को आधार बना कर कहीं भी भगवान् कृष्ण की व्याख्या की है? हमारा अनुरोध है कि डा. राधाकृष्णन श्रील जीव गोस्वामी कृत *षट्सन्दर्भ* का अध्ययन करें। उन्हें

उनके गुरुओं ने वह विशेष शक्ति प्रदान की थी जिससे कि वे अपनी कृतियाँ विद्वानों और दार्शनिकों को सम्बोधित करते हुए लिखें और इस गुह्यज्ञान को उन्हें समझाएँ। उनकी ऊँचाई वाला अन्य दार्शनिक अभी तक पैदा नहीं हुआ; सत्य तो यह है कि भविष्य में उनके पाण्डित्य को लाँघने वाला कोई उत्पन्न भी नहीं होगा। चूँकि डा. राधाकृष्णन एक दार्शनिक हैं अत: हम आशा करते हैं कि वे श्रील जीव गोस्वामी के उपदेशों को नकारेंगे नहीं।

डा. राधाकृष्णन की कृतियों से कोई भी व्यक्ति यह सिद्ध कर सकता है कि कृष्णभावनामृत विज्ञान की गहराई मापने का प्रयास करते हुए वे कितने उद्विग्न दिखते हैं। वे भगवान् कृष्ण को एक अद्वितीय मनुष्य तथा भारत के ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं किन्तु *भगवद्गीता* ऐसे कार्य को असम्भव बनाती है। वे अपने "इण्ट्रोडक्टरी एसे" में (पृ. ३०) लिखते हैं—

"*गीता* में कृष्ण की पहचान परमेश्वर के रूप में की गई है जो नाना ब्रह्माण्डों की पृष्ठभूमि की एकता हैं, समस्त प्राकट्यों की पृष्ठभूमि में अपरिवर्तनीय सत्य हैं, जो सबों से परे और सबों में सर्वव्यापी हैं। वे व्यक्त प्रभु हैं और मर्त्य प्राणी के लिए उन्हें जानना सरल बना देते हैं। जो अक्षर ब्रह्म की खोज करके उन तक पहुँचना चाहते हैं वे निस्सन्देह उन तक पहुँच जाते हैं किन्तु बहुत ही श्रम करने के बाद। वे परमात्मन् कहलाते हैं।

"हम भला ऐतिहासिक व्यक्ति की पहचान परमेश्वर से कैसे कर सकते हैं? किसी व्यक्ति का विश्वव्यापी आत्मा के रूप में निरूपण हिन्दू विचारधारा के अनुकूल है। *उपनिषदों* में हमें बताया जाता है कि पूर्णतया जागृत आत्मा, जो ब्रह्म से अपने सच्चे सम्बन्ध को समझता है, देखता है कि वह अनिवार्यत: ब्रह्म से एकाकार है और वह अपने

को उसी रूप में घोषित करता है।"

किन्तु जीव का "अनिवार्य रूप से भगवान् के साथ एकाकार होना" आध्यात्मिक जीवन का अन्त नहीं। निस्सन्देह, श्रीपाद शंकराचार्य ने इस विचार का प्रसार किया जिससे नास्तिक लोग कम से कम इस अनुभूति तक तो आ सके। किन्तु इससे परे भगवान् का राज्य है। अध्यात्म मंडल में प्रविष्ट होने पर यदि परम पुरुष की अनुभूति नहीं होती तो उसका आध्यात्मिक अभ्यास दूषित बुद्धि के कारण अधूरा रह जाता है और उसे भौतिकतावाद के राज्य में लौटना पड़ता है। यद्यपि ऐसा असफल योगी *जगन्मिथ्या* का दावा करता है फिर भी वह राजनीतिक, सामाजिक तथा उपकारी कार्यों में फँस जाता है।

डा. राधाकृष्णन ने कभी भी परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया। यद्यपि भगवान् कृष्ण बिल्कुल उनके सामने रहते हैं किन्तु वे उन्हें देख नहीं पाते; अतएव मोहवश वे उन्हें ऐतिहासिक पुरुष कहते हैं। सच्चा भारतीय धार्मिक दर्शन हमें यह शिक्षा देता है कि एकसाथ ईश्वर में एकत्व और पृथकत्व है जिसे विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्व कहा गया है। यदि यह गुह्य संकल्पना मिथ्या होती तो कृष्ण की पूजा पूरे भारतवर्ष में घर घर में न होती। वे ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में नहीं अपितु परमेश्वर के रूप में पूजे जाते हैं। भगवान् के रूप में श्रीकृष्ण के पद की दृढ़ पुष्टि प्रामाणिक शास्त्र *श्रीमद्भागवत* द्वारा होती है, जो कि *वेदान्त सूत्र* तथा गायत्री मन्त्र का सार एवं प्राकृतिक *भाष्य* है। डा. राधाकृष्णन से अधिक विद्वान अनेक मायावादियों ने जनता की श्रद्धा को विचलित करने का प्रयास किया है किन्तु अनन्तकाल से कृष्ण-मन्दिरों की संख्या लाखों तक पहुँच चुकी है जो उन मायावादियों तथा नास्तिकों के मुँह पर तमाचा है जो कृष्ण को सामान्य मर्त्य बतलाते हैं। भविष्य में भी, इन नास्तिकों

तथा अश्रद्धालुओं को हताश करने के लिए अधिकाधिक कृष्ण-मन्दिर बनेंगे। सारे विष्णु-मन्दिर शास्त्रों तथा आचार्यों द्वारा अधिकृत हैं। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि मात्र डा. राधाकृष्णन की खातिर सम्पूर्ण भारतीय जनता मायावादी दर्शन से समझौता कर लेगी।

भारतीय इतिहास अनेक तेजस्वी वीरों की गाथाओं से परिपूर्ण है जिन्होंने अपने यश से स्वर्ग को दीपित किया। अनेक मुनियों तथा दार्शनिकों ने इन तेजस्वी सूर्यों को छोड़ कर एकमात्र श्रीकृष्ण, श्रीराम तथा उनके अंशों को भगवान् के रूप में पूजने के लिए क्यों चुना है? जिन आचार्यों ने शास्त्रों में गोता लगाकर इस तथ्य का निष्पक्ष अध्ययन किया है वे डा. राधाकृष्णन से कहीं अधिक बड़े विद्वान हैं। फिर भी यह समझ में आने की बात है कि डा. राधाकृष्णन जैसा सामान्य मर्त्य प्राणी भगवान् कृष्ण के विषय में मोहग्रस्त है क्योंकि उच्च स्वर्गलोकों के निवासी भी उनके बारे में मोहग्रस्त हैं। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (१.१.१) कहा गया है *मुह्यन्ति यत् सूरयः*—उनके द्वारा बड़े बड़े ऋषिमुनि तथा देवता भी मोह में डाल दिये जाते हैं। इस ब्रह्माण्ड में चौदह लोकों में से पृथ्वी लोक सातवें स्थान पर है इसलिए इसके निवासियों को केवल थोड़ी सी शक्ति ही प्राप्त है।

इस क्षुद्र पृथ्वीलोक के देशों में भारतवर्ष सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि सृष्टि के उषाकाल से ही भारत के मुनियों ने गुह्य आध्यात्मिक विज्ञान का अनुशीलन करने में अद्वितीय पटुता प्रदर्शित की है। अतीत काल में ये ऋषि-मुनि उच्चतर लोकों के साथ संचार कर सकते थे। किन्तु आज भारत की ऐसी दुर्दशा है कि हम पूर्ववर्ती ऋषियों-मुनियों के उपदेशों का अनुसरण करना नहीं चाहते। हम कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने को तैयार हैं किन्तु भ्रामक दार्शनिक तर्कों तथा साधनों से उनके उपदेशों को तोड़ने मरोड़ने में लगे रहते हैं। यह प्रमाण है भारत की अवांछित

दशा का। भारत अब असली ईश्वर को मिटाने के लिए उत्सुक है और उनके स्थान पर अनेक नकली ईश्वरों को बैठाना चाहता है। यह भारत का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है।

श्रीकृष्ण भगवान् हैं

यह विचित्र बात है किन्तु सत्य है कि राजनीतिक नेता यह कभी नहीं समझ सकते कि परब्रह्म निर्विशेष या निराकार न होकर श्रीभगवान् हैं। शास्त्रों के पन्नों में ऐसे अनेक अंश हैं जो कारणार्णव में शयन कर रहे महाविष्णु के विराट रूप जैसे अवतारों का वर्णन करते हैं किन्तु भगवान् कृष्ण तो इन महाविष्णु के भी स्रोत हैं। इतने पर भी ये उन्मत्त राजनीतिक नेता सत्य को जान नहीं सकते। किन्तु यदि भगवान् कृष्ण अपनी कृपावश ऐसे नास्तिकों को आशीष देना चाहते हैं तो उनके चट्टान तुल्य हृदय पिघल जाएंगे और अपनी बाँसुरी बजाते कृष्ण के द्विभुजी रूप का उन्हें दर्शन होगा।

जो लोग कृष्ण की कृपा प्राप्त किये बिना उन्हें समझने का प्रयास करते हैं, तो वे भ्रमित हुए बिना नहीं रह सकते, चाहे वे उन्हीं की तरह के विद्वान दार्शनिक क्यों न हों। *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है कि भक्तों के सामने कृष्ण आसानी से प्रकट होते हैं किन्तु वे वैदिक विद्वानों की पहुँच से बाहर हैं। श्रील सार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु की एक लीला में भाग लेते हुए जिसमें भट्टाचार्य ने अपने वैदिक ज्ञान का प्रदर्शन किया था, इसे सिद्ध किया है। हाल ही में, श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय तथा डा. भंडारकर जैसे पंडित भी इस विषय तक पहुँचने का प्रयास करते हुए समान रूप से मोह-ग्रस्त हुए हैं।

जो वास्तव में कृष्ण को जानना चाहता है उसे उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिसकी संस्तुति उन्होंने *भगवद्गीता* में (१८.५५) की है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः*—मनुष्य केवल

भक्ति द्वारा मुझ भगवान् को जिस रूप में मैं हूँ अर्थात् भगवान् रूप में, समझ सकता है। भक्ति के अलावा कृष्ण को समझने का कोई उपाय नहीं है। जब भगवान् कृष्ण श्रीचैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए तो उन्होंने भक्ति के द्वारा कृष्ण को प्राप्त करने के सम्बन्ध में वही उपदेश दिये। अतः यह निश्चित है कि कृष्ण तक केवल इसी विधि से पहुँचा जा सकता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिष्य-परम्परा का पालन करते हुए वृन्दावन के षड्गोस्वामियों ने भगवान् कृष्ण की विस्तृत व्याख्या से युक्त विपुल साहित्य लिखा है। इन गुह्य रहस्यों को अभी भी ठीक से विश्व में प्रसारित करने की आवश्यकता है। अभी तक आधुनिक चिन्तकों में गोस्वामियों के गुह्य तर्क तथा अगाध विश्लेषणात्मक दर्शन की ओर ध्यान नहीं दिया। इस त्रुटि के गुनाह का भार हम सबों पर ही पड़ना चाहिए। गौड़ीय मठ मिशन की स्थापना श्रील रूपगोस्वामी तथा श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी के वचनों का प्रसार करने के लिए की गई थी।

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को जो विश्वरूप दिखलाया वह भगवान् के दैवी भाव का विशुद्ध रूप नहीं है। वस्तुतः वंशी बजाते हुए कृष्ण का द्विभुजी मानवीय रूप भगवान् की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। किन्तु यह भूल नहीं करनी चाहिए कि चूँकि कृष्ण मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं अतः वे मानव हैं। उनका स्वरूप सच्चिदानन्दमय है जो सामान्य मर्त्य से भिन्न है। वे असाधारण मानव भी नहीं हैं। मनुष्य रूप भगवान् के दिव्य रूप की प्रतिकृति हो सकता है किन्तु इससे ईश्वर मनुष्य नहीं बन जाता। बाइबल तथा अन्य धर्मग्रन्थ कहते हैं कि मनुष्य ईश्वर के स्वरूप के अनुसार बनाया गया था किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि ईश्वर मनुष्य है।

गीता में इसका यथेष्ट प्रमाण है कि जो लोग ईश्वर विषयक सत्य

को ठीक से जान लेते हैं वे इस शरीर को त्यागने पर आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करेंगे और ईश्वर के साथ रहेंगे। केवल वे जो ईश्वर को नित्य परमपुरुष मानते हैं, अमर बन सकते हैं। यह अनुभूति एकमात्र मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है और जो इसे पा लेता है वह सर्वोच्च सिद्धि को प्राप्त होता है। सिद्धि पा लेने पर जीव जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग से युक्त इस नश्वर जगत में नहीं लौटता। जो लोग इस लक्ष्य को पाने के लिए अपने जीवन को अनुशासन-बद्ध करते हैं वे ही अपने मनुष्य जन्म के उद्देश्य को पूरा करते हैं। अन्य लोग विस्मृति के गर्त में चले जाते हैं।

माया मनुष्य को प्रेरित करती है कि वह योजनाएं बनाए जिससे जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि युक्त यह नश्वर जीवन स्थायी हो सके। इस भौतिक जगत में निरन्तर आनन्दयुक्त जीवन की योजना बनाना सबसे बड़ा भ्रम है। इन दो में से कौन सी योजना श्रेष्ठतर है—वह जिससे सूकर तथा कूकर जैसी पशुयोनियों में जन्म हो या कि वह जो जीव को भगवद्धाम ले जाएं? भगवद्धाम में जीव के आध्यात्मिक जीवन में दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य रसों में भगवान् की सेवा करनी होती है। भगवान् कृष्ण तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु दोनों ने ही जीवों को आकृष्ट करने तथा उन्हें *गीता* के निम्नलिखित शब्दों का अर्थ सिखाने के लिए लीलाएँ कीं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"सभी प्रकार के धर्मों को त्याग दो और मेरी शरण ग्रहण करो। मैं तुम्हें सारे पापकर्मों के फलों से उबार लूँगा। डरो मत।"

भला उन बद्धजीवों से अधिक कौन ठगा जा सकता है जो इस

सत्य को समझने का प्रयास तक नहीं करते? श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने कहा है, "जिसने भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध समझने का प्रयास नहीं किया है, उसने अपना जीवन नष्ट कर दिया है; ऐसा व्यक्ति दुष्ट है और पशु से भी अधम है।"

डा. राधाकृष्णन ने भगवान् द्वारा अवतार लेने के सम्बन्ध में अपना मत बिना समझे व्यक्त किया है। वे लिखते हैं, "अवतार ईश्वर का मनुष्य में अवतरण है न कि मनुष्य का ईश्वर में उत्थान।" "ईश्वर का मनुष्य में अवतरण" से उनका आशय है कि अवतार पाँच स्थूल तत्वों से बने भौतिक शरीर से युक्त होते हैं। किन्तु अभी यह स्पष्ट नहीं हो पाया कि "यह मनुष्य का ईश्वर में उत्थान नहीं है" से उनका आशय क्या है? आजकल तो मनुष्य को ईश्वर कहने की प्रथा जोरों पर है। केवल कुछ ही लोगों को "अवतार" नहीं कहा जाता अपितु बहुत से दार्शनिक तो यहाँ तक कहते हैं कि हर व्यक्ति ईश्वर है। फिलहाल हम इस विषय की गहराई में नहीं जाना चाहते।

किन्तु हम डा. राधाकृष्णन को यह सूचित करना चाहेंगे कि जब परमेश्वर किसी जीव को अपनी दिव्य शक्ति प्रदान करते हैं जिससे वह जीव कोई कार्यविशेष सम्पन्न कर सके तो वह जीव शक्त्यावेश अवतार कहलाता है। किन्तु अवतार का यही एकमात्र प्रकार नहीं है। शास्त्रों में परमेश्वर के असंख्य अवतारों का वर्णन है। यथा स्वयं-रूप, स्वयं-प्रकाश, आवेश, विलास, प्राभव, वैभव, युग-अवतार, पुरुष-अवतार, गुण-अवतार तथा मन्वन्तर-अवतार। यदि हम एक मन्वन्तर अवतार की आयु की गणना करें तो यह तीन हजार लाख वर्ष से अधिक आएगी जो अविश्वसनीय लगती है और कुछ अवतार तो इससे भी अधिक आयु तक जीवित रहते हैं। शास्त्र भगवान् के प्रामाणिक अवतारों के प्राकट्य के उद्देश्यों, उनके रूपों, प्राकट्य के स्थानों, उनकी

लीलाओं आदि का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। किसी मर्त्य को मनमाने ढंग से ईश्वर की वाणी समझकर अवतार कहकर नहीं चुना जा सकता। यदि कुछ लोग शास्त्रीय आदेशों के बावजूद भी किसी मनुष्य को अवतार स्वीकार करते हैं तो उनके आध्यात्मिक ज्ञान की सीमा का आसानी से पता चल जाता है।

विद्या की देवी सरस्वती ने डा. राधाकृष्णन को यह कहने की प्रेरणा दी, "मनुष्य ईश्वर नहीं बन सकता।" हम इस कथन का स्पष्टीकरण यह कह कर करना चाहेंगे कि "मनुष्य मुक्त होने पर भी ईश्वर नहीं बन सकता।" मुक्त पुरुष ईश्वर का शुद्ध भक्त बन सकता है किन्तु वह न तो ईश्वर बन सकता है न ही ईश्वर में समा कर अपनी पहचान खो सकता है। ऐसे असंख्य उदाहरण हैं जब मुक्तात्मा ने ईश्वर न बन पाने पर ईश्वर का भक्त बनने से इनकार कर दिया। तब इसके लिए एक ही विकल्प रह जाता है जिसका बहुत ही उचित वर्णन *श्रीमद्भागवत* में (१०.२.३२) हुआ है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्
त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

"हे कमलनयन प्रभु! भले ही वे अभक्तजन जो सर्वोच्च पद पाने के लिए कठिन तपस्या करते हैं अपने आपको मुक्त हुआ समझें किन्तु उनकी बुद्धि अशुद्ध होती है। वे अपने कल्पित श्रेष्ठता के पद से नीचे गिर जाते हैं क्योंकि उन्हें आपके चरणकमलों के प्रति कोई सम्मान नहीं रहता।"

ऐसे "मुक्त" आत्माओं को भौतिक प्रकृति की बाह्य चकाचौंध से

आकृष्ट होकर इस पृथ्वी पर आना पड़ता है और किसी न किसी सामाजिक, राजनीतिक या परोपकारी कार्य में लिप्त होना पड़ता है।

नित्य बद्धजीवों के अतिरिक्त अन्य लोग हैं जो नित्यमुक्त हैं। वे इस भौतिक जगत में कभी नहीं आते। नित्यबद्ध जीवों में ऐसे लोग हैं जो इस जगत से मुक्ति पाने का बहुत बड़ा दिखावा करते हैं। मायावादी प्रायः यह दृष्टान्त दुहराते हैं, "सारी नदियाँ बहकर समुद्र में जाती हैं।" इसका अर्थ है कि सारे जीव ब्रह्म में मिल जाते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि अनेक जलचर सागर के स्थायी निवासी हैं और वे कभी भी नदियों में जाकर रहने के लिए प्रलोभित नहीं होते। नित्य मुक्तों को मुक्ति के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती।

डा. राधाकृष्णन ने "आत्म-चेता व्यक्ति" शब्दों का प्रयोग किया है। यदि इन शब्दों से आत्म की ऐसी चेतन अवस्था का सूचन होता हो जिसमें व्यक्ति अपने को भगवान् कृष्ण का नित्य दास अनुभव करे तो हमें इनके प्रयोग पर कोई आपत्ति नहीं है। श्रीचैतन्य इसी सत्य की शिक्षा देने आये थे। एकबार यदि जीव यह अनुभव कर ले कि वह भगवान् कृष्ण का नित्य दास है तो उसका कष्टमय जीवन समाप्त हो जाता है। वह इसी अनुभूति से मुक्त बन जाता है। बाद में उसकी समझ में आने लगता है कि मुक्ति उसके पास ही खड़ी होकर उसकी तथा भगवान् कृष्ण के अन्य समस्त नित्य सेवकों की सेवा करने की प्रतीक्षा कर रही है।

प्रामाणिक शास्त्र पुकार पुकार कर कह चुके हैं कि कृष्ण आदि भगवान् तथा समस्त अवतारों के स्रोत हैं। *भगवद्गीता* में (७.७) उनके शब्द हैं *मत्तःपरतरं नान्यत्*—हे धनंजय! मुझसे श्रेष्ठ कोई सत्य नहीं है। भगवान् कृष्ण यह शिक्षा देने के लिए स्वयं आये कि सर्वोच्च परम सत्य कोई शक्तिहीन भौतिक विचारधारा नहीं है। वे परम आध्यात्मिक

शक्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति हैं। जो लोग इस सुदृढ़ सत्य को नहीं समझ सकते वे मूर्ख हैं और अनन्त कल्पनाएँ करते रहते हैं। ऐसा व्यक्ति जो एक होकर भी विस्तार करना चाहता है और अनेक बन जाता है। भला क्या मनुष्य या कोई रूपहीन निर्विशेष व्यष्टि हो सकता है? जब यह पुरुष अनेक बनना चाहता है तो क्या वह अपने को विनष्ट करने के लिए ऐसा करता है? यदि अपने आपको अनेक में विस्तार करके भगवान् को अपनी सत्ता खोनी होती तो इसका अर्थ आत्मविनाश होता। क्या भगवान् ने ऐसी भयंकर भूल की है? या उन लोगों ने यह भयंकर भूल की है जो वैदिक कथनों का गलत अर्थ लगाते हैं और यह कहते हैं कि ईश्वर ने अपना विस्तार अनेक जीवों में करके अपनी सत्ता खो दी है? परमेश्वर जैसा चाहें वैसा कर सकते हैं—वे अनेक अवतारों में अथवा विविध भिन्ना शक्तियों में अपना विस्तार कर सकते हैं। और इस तरह अपने विस्तार करने के बाद भी वे स्वयं में उसी तरह पूर्ण बने रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो वे किस तरह परम पूर्ण ब्रह्म होते?

माया द्वारा बन्दी बनाये जाने से जीव ने कृष्ण को भुला दिया है

भगवान् कृष्ण अपने *स्वांश-वैभव* के रूप में असंख्य विष्णु-रूपों में विस्तार करते हैं और कोटि कोटि जीवों के रूप में अपने आपको *विभिन्नांश-प्रकाश* से प्रकट करते हैं। सारे विष्णु अंश परमेश्वर की कोटि में आते हैं किन्तु जीव नहीं आते। वे भगवान् की तटस्था शक्ति हैं। नित्य जीवों वाली यह तटस्था शक्ति भगवान् की *पराशक्ति* की अभिव्यक्ति है। *भगवद्गीता* का निष्कर्ष है कि जीव सदा से भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति है, था और रहेगा। वह कभी भी परमेश्वर या विष्णु रूपों की कोटि में नहीं आएगा। कृष्ण की यह

भिन्ना शक्ति, जो *विभिन्नांश* या जीव कहलाती है, भगवान् का अतिसूक्ष्म अंश है जिस तरह कि विशाल अग्नि की सूक्ष्म चिनगारियाँ हैं।

अंश कभी पूर्ण या पूर्ण के तुल्य नहीं हो सकता। अतः मायावादियों का यह दावा कि अंश पूर्ण बन सकता है दुष्टतापूर्ण है। यह वैदिक निर्णय है। भिन्नांश जीव अपनी बद्ध अवस्था पर विजय पाकर आध्यात्मिक आकाश में प्रविष्ट होकर, भगवान् की दिव्य शाश्वत आनन्दमयी लीलाओं में भाग लेता है। जीव अनेक रसों में से किसी एक में भगवान् की सेवा में स्थायी रूप में लगता है और दैवी आनन्द प्राप्त करता है।

शास्त्रों ने स्पष्ट इंगित किया है कि भगवान् की भक्ति का आनन्द निर्विशेष मुक्ति के आनन्द—ब्रह्मानन्द—से कहीं श्रेष्ठ है। परमेश्वर में समा जाने का सुख (*सायुज्यमुक्ति*) भक्ति से प्राप्त होने वाले सुख के सागर के समक्ष गोखुर में भरे जल के समान है। भक्त कभी भी ज्ञानी की सायुज्य मुक्ति की याचना नहीं करता क्योंकि यह असम्भव है। निर्विशेषवादियों के लिए सायुज्य मुक्ति का अर्थ अपनी पहचान या विशिष्टता का परित्याग है। यह आध्यात्मिक आत्मघात से कम नहीं। इस सन्दर्भ में, मैं डा. राधाकृष्णन द्वारा की गई बाइबल की टिप्पणी प्रस्तुत कर रहा हूँ—"अवतार सिद्धान्त ने ईसाई-जगत को अत्यधिक क्षुब्ध किया। एरिओस का मानना था कि पुत्र पिता के तुल्य नहीं है अपितु पिता के द्वारा उत्पन्न है। सैबेलियस का मत है कि वे पृथक पृथक नहीं अपितु एक ही प्राणी के विभिन्न रूप हैं। एरिओस ने पिता तथा पुत्र के पृथकत्व पर और सैबेलियस ने उनके एकत्व पर बल दिया है। अन्तिम अभिमत यह था कि पिता तथा पुत्र समान हैं और एक ही वस्तु से बने हैं किन्तु वे भिन्न भिन्न पुरुष थे (इन्ट्रोडक्टरी एसे पृष्ठ ३५)।"

ये शब्द अस्पष्ट रूप में "भेदाभेद तत्व" का वर्णन करने वाले

हैं इसलिए हम इन्हें माने ले रहे हैं। ईश्वरपुत्र जीसस जीव है, जो परमेश्वर का भिन्नांश है किन्तु जीव भी आध्यात्मिक होता है इसलिए जीसस गुणात्मक रूप से परमेश्वर जैसा ही है। किन्तु पुत्र कभी भी पूर्णतया पिता के तुल्य नहीं हो सकता। कहने का भाव यह है कि जीव कभी भी परमेश्वर के समान पद पर नहीं होता। इतना ही नहीं, सारे जीव पृथक व्यक्ति हैं। जिस तरह प्रत्येक जीव अद्वितीय व्यक्ति है उसी तरह ईश्वर भी अद्वितीय व्यक्ति है। अन्तर इतना ही है कि ईश्वर सर्वोच्च है। भगवान् को निर्विशेष तथा रूप-हीन बताने से मनुष्य उनकी परिपूर्णता को दृष्टि से ओझल कर देता है। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३९) भगवान् के सर्वोच्च व्यक्तित्व की घोषणा मिलती है—

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत्परमः पुमान् यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

'मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जिन्होंने स्वयं को कृष्ण के रूप में तथा जगत् में राम, नृसिंह, वामन आदि अवतारों को अपने स्वांशों के रूप में प्रकट किया है।''

भगवान् के ये सारे अवतार पूर्ण देव हैं। वे किसी की धारणा से प्रभावित नहीं होते। वे किसी के कहने पर निर्विशेष या निराकार नहीं बनते। वे शाश्वत विद्यमान रहते हैं। वे जब आवश्यक समझते हैं तो अपने आदि दिव्य रूपों में प्रकट होते हैं और अन्तर्धान हो जाते हैं जिस तरह सूर्य उदय और अस्त होता है। प्रकट होने के बाद वे व्यक्त लीलाएँ करते हैं और अन्तर्धान होने पर अपनी अव्यक्त लीलाएँ चालू रखते हैं। *ब्रह्मसंहिता* (५.३९) के उपर्युक्त श्लोक के अनुसार भगवान्

कृष्ण आदि भगवान् हैं और सारे अवतार उनके अंश हैं। लेकिन भगवान् का कोई भी अवतार जीवों की कोटि में नहीं आता। इस सत्य की पुष्टि श्रील व्यासदेव ने भी *श्रीमद्भागवत* में (१.३.२८) की है—*एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*—उपर्युक्त सारे अवतार या तो भगवान् के स्वांश हैं या स्वांशों के अंश हैं किन्तु श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं। दूसरे शब्दों में, न केवल अवतार प्रकट होते हैं अपितु समस्त अवतारों के स्रोत भगवान् श्रीकृष्ण भी स्वयं के रूप में तथा अवतार के रूप में प्रकट होते हैं। ये गुह्य विषय मात्र भगवद्भक्तों द्वारा समझे जाते हैं, अन्यों द्वारा नहीं, चाहे वे कितने ही बड़े पंडित क्यों न हों।

अतः जब डा. राधाकृष्णन लिखते हैं कि भगवान् कृष्ण एक सामान्य मर्त्य हैं या बहुत हुआ तो असाधारण व्यक्ति हैं, तो वे निश्चित रूप से भ्रम में रहते हैं। भगवान् कृष्ण सर्वोच्च परम सत्य, दुर्लंघ्य तथा पूर्णरूपेण अलौकिक हैं। उन्हें निर्विशेष तथा रूपविहीन सोचा ही नहीं जा सकता। वे निस्सन्देह दिव्य, आदि भगवान् सच्चिदानन्द रूप हैं। *भगवद्गीता* में (१०.१२) अर्जुन ने भगवान् कृष्ण के परम दैवत्व विषयक सत्य की पुष्टि की है। भला डा. राधाकृष्णन भगवान् कृष्ण के दिव्य गुणों तथा व्यक्तित्व की सराहना कैसे कर सकते हैं जब कि देवता तक उन्हें नहीं समझ पाते? *आदि देव* शब्द का अर्थ है ''आदि भगवान्।'' यह शब्द सूचित करता है कि कृष्ण समस्त विष्णु अंशों के उद्गम हैं। वेदों के *पुरुष सूक्त* में कारणोदकशायी विष्णु की स्तुति की गई है फिर भी भगवान् कृष्ण इस विष्णु अंश तक के परम उद्गम हैं। *ब्रह्मसंहिता* तो स्पष्ट घोषित करती है कि कारणोदकशायी विष्णु मात्र भगवान् कृष्ण के अंश हैं। अतः डा. राधाकृष्णन जिस परम सत्य को शाश्वत तथा अनादि स्वीकार करते हैं वह भगवान् कृष्ण ही हैं किन्तु डा. राधाकृष्णन

न जाने कैसे चूक जाते हैं।

भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं—इस तथ्य को न केवल अर्जुन स्वीकार करता है अपितु व्यास देव, नारद, देवल तथा असित जैसे प्रसिद्ध ऋषि-मुनि भी स्वीकार करते हैं। समस्त पूर्ववर्ती आचार्य तथा आज के सन्त एवं असंख्य सामान्य लोग एक स्वर से कृष्ण को भगवान् स्वीकार करते हैं किन्तु डा. ...जैसा प्रसिद्ध पंडित उन्हें ईश्वर मानने में हिचकिचाता है! क्यों? इसकी व्याख्या श्रील यामुनाचार्य ने अपने ग्रन्थ *स्तोत्ररत्न* में अच्छे ढंग से की है—

त्वां शीलरूपचरितैः परमप्रकृष्टैः
सत्त्वेन सात्विकतया प्रबलैश्च शास्त्रैः।
प्रख्यात दैवपरमार्थविदां मतैश्च
नैवासुरप्रकृतयः प्रभवन्ति बोद्धुम्॥

"हे प्रभु! जो आसुरी सिद्धान्तों द्वारा प्रभावित होते हैं वे आपका साक्षात्कार नहीं कर पाते यद्यपि आप अपने उच्च कार्यों, रूपों, गुण तथा असामान्य शक्ति के कारण, जिनकी पुष्टि सतोगुणी शास्त्रों तथा दैवी स्वभाव वाले विख्यात योगियों द्वारा होती है, सर्वोच्च हैं।"

भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय में समुचित शिष्य परम्परा से होकर गीता का दिव्य ज्ञान प्राप्त करने की महत्ता के विषय में बतलाते हैं। इस तरह से उपर्युक्त प्रकार की गलतियाँ करने से बचा जा सकता है, जिन्हें शक्तिवान् ऋषि-मुनि तक कर बैठते हैं। इतने पर भी कुछ लोग मनमाने ढंग से गीता को पढ़ने का प्रयास करके अपने मनोकल्पित निष्कर्ष निकालते हैं और इस तरह वे शिष्य-परम्परा के निष्कर्षों तथा महाजनों की उपेक्षा कर देते हैं। निश्चय ही उनके साथ हमारी सहानुभूति है किन्तु साथ ही हमें हँसी भी आती है। हमें *भगवद्गीता* के चतुर्थ

अध्याय से यह ज्ञात है कि करोड़ों वर्षों के अन्तराल के बाद भगवान् ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में शिष्य परम्परा की आध्यात्मिक शृंखला को फिर से जोड़ते हुए अर्जुन से उचित कर्म, ज्ञान तथा भक्ति के विज्ञान की विस्तृत व्याख्या की। *भगवद्गीता* किसी नये दर्शन का नवीन अनुवाद नहीं है। भगवान् कृष्ण शाश्वत रूप से भगवान् हैं। इसी तरह *भगवद्गीता* उनके शाश्वत उपदेशों को प्रस्तुत करती है जो परम अभिन्न सत्य को सत्यापित करते हैं। परमेश्वर नित्य, नवयौवन हैं और उनके शब्द भी उसी तरह के हैं—सदैव तरोताजा। संसारी विद्वानों को *भगवद्गीता* में सदैव नये नये अर्थ मिल सकते हैं और वे अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन कर सकते हैं किन्तु यह सब माया का खेल है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा *भगवद्गीता* का असली सार प्रसारित नहीं किया जा सकता। *गीता* का दिव्य ज्ञान एकमात्र प्रामाणिक शिष्य परम्परा के पारदर्शी माध्यम द्वारा ही उपलब्ध होता है। भक्तगण तथा सन्तजन गीता में निहित भगवान् के सन्देश को यथार्थ रूप में प्राप्त करने के प्रति चिन्तित रहते हैं जबकि वाक्जाल में रुचि रखने वाले विद्वान इसमें गौण अर्थ खोजते रहते हैं।

जो लोग तर्कों से मोहित हैं तथा जो लोग किसी प्रामाणिक शिष्य परम्परा से दिव्य ज्ञान प्राप्त नहीं करते अतः इस तरह पथभ्रष्ट हैं, उन्हें शिक्षा देने के लिए हमने 'भगवद्गीता' के अनिवार्य ज्ञान को संक्षेप में संग्रहीत किया है—

(१)भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, भगवान् हैं, समस्त कारणों के कारण हैं। ईश्वर की परिभाषा वेदों की इस सूक्ति में दी हुई है "यह ब्रह्माण्ड उनके द्वारा तथा उन्हीं से प्रकट है और वे ही इसके सृजन, पालन तथा संहार का नियन्त्रण करते हैं।" वे इस असीम विविधतापूर्ण विराट जगत तथा असीम आध्यात्मिक आकाश, वैकुण्ठ, दोनों ही के कारण हैं। वे शाश्वत विद्यमान हैं और दिव्य परम पुरुष हैं जिसका स्वरूप

आध्यात्मिक है। निर्विशेष ब्रह्म उनके शरीर का तेज मात्र है। वे अद्वैत सत्य हैं। परमात्मा उनका स्वांश है जो हर एक के हृदय में निवास करता है और साथ ही सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है।

(२)जीव भगवान् कृष्ण के सूक्ष्म अंश हैं। यद्यपि जीव गुणात्मक दृष्टि से भगवान् से अभिन्न है किन्तु मात्रात्मक दृष्टि से भिन्न है क्योंकि भगवान् अनन्त है और जीव अतिसूक्ष्म है। जीव भगवान् की तटस्था शक्ति में स्थित है जो अचिन्त्य रूप से भगवान् से एक है और भिन्न भी।

(३)जीव, जो कि भगवान् की तटस्था शक्ति हैं, वैकुण्ठ में या इस भौतिक जगत में शाश्वत रूप से निवास करने में समर्थ हैं। जीव असंख्य पापकर्मों के फलस्वरूप भौतिक अविद्या में आ गिरता है और इस अनजान परिवेश में वह ऊपर-नीचे, समस्त लोकों से होता हुआ ब्रह्मा के लोक से लेकर पाताल लोक तक की, यात्रा करता रहता है। भौतिक जगत में जीव को जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग का अनुभव होता है और उसे तीन प्रकार के कष्ट—दैहिक, दैविक तथा भौतिक ताप—सहने पड़ते हैं।

(४)बद्धजीव भौतिक जगत नामक विविधता-रूपी बन्दीगृह में कैद है। इस जगत का स्वभाव है सृजन, पालन और संहार। सृजन तथा पालन की अवधि में यह भौतिक प्रकृति व्यक्त अवस्था में होती है किन्तु विनाश के साथ यह पुनः अव्यक्त हो जाती है। इस तरह यह लौकिक मायामय संसार भगवान् की (निकृष्ट) अपरा शक्ति है क्योंकि कभी तो यह व्यक्त रहती है और कभी अव्यक्त।

(५)भगवान् की इस व्यक्त तथा अव्यक्त बहिरंगा शक्ति के अलावा भी एक अन्य जगत है जो दिव्य है और आध्यात्मिक रूप से विविधतायुक्त है। यह असीम दिव्य आकाश वैकुण्ठ कहलाता है और शाश्वत होता

है। यह सदैव व्यक्त है, कभी अव्यक्त नहीं रहता। इस तरह इसमें सृजन तथा संहार नहीं होता।

(६)जो बद्धजीव अपनी पहचान इस मोहमयी भौतिक प्रकृति से करते हैं और इस पर गर्व करते हैं तथा परमेश्वर के विषय में जानने की तनिक भी परवाह नहीं करते वे भगवान् की मायामयी शक्ति द्वारा, जो महाकाली, चण्डी तथा दुर्गा के नामों से जानी जाती है, वशीभूत करके, तीन तापों रूपी उसके त्रिशूल द्वारा बेधे जाते हैं। ये आसुरी जीव काली या महामाया की मोहमयी शक्ति द्वारा दास बना लिये जाते हैं। वैदिक शास्त्रों का सार रूप भगवद्गीता बद्धजीवों के उद्धार के लिए ही रची गयी थी। गीता का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने से जीव भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है और भौतिक जगत के कष्टों के चक्र से मोक्ष पा लेता है।

(७)बद्धजीव भौतिक रोग—जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग—के त्रय तापों से पीड़ित है। जब यह कष्ट असह्य हो जाता है तो वह राहत चाहता है। जो लोग अल्पज्ञ हैं वे निर्विशेष मुक्ति की राह अपनाते हैं और अपना लक्ष्य पूरा करने के लिए कठिन तपस्या करते हैं। इन मुक्तिकामियों से भी उच्च हैं भगवद्भक्त जो यह अनुभव करते हैं कि उनका दास होना ही उनका नित्य स्वभाव है। वे इस स्वभाव को समाप्त नहीं करना चाहते अपितु वे भक्तियोग का अभ्यास तथा प्रचार करते हैं जिससे वे भगवद्धाम में प्रवेश कर सकें। सारे जीवों को इस शाश्वत भक्तियोग का अभ्यास करने का अधिकार है।

(८)महत्तत्त्व यानी भौतिक प्रकृति २४ अवयवों के रूप में प्रकट होती है—(१)अव्यक्त तत्व, (२)मिथ्या अहंकार, (३)बुद्धि, (४)मन, (५)आकाश, (६)वायु, (७)अग्नि, (८)जल, (९)पृथ्वी, (१०)शब्द, (११)स्पर्श, (१२)रूप, (१३)स्वाद, (१४)गन्ध, (१५)कान,

(१६)त्वचा, (१७)आँखें, (१८)जीभ, (१९)नाक, (२०)पेट, (२१)हाथ, (२२)पाँव, (२३)गुदा, (२४)उपस्था।

(९)अविच्छिन्न परब्रह्म आदि परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण इस भौतिक जगत में ब्रह्मा के प्रत्येक दिवस में एक बार—अर्थात् प्रत्येक ८,६४,००,००,००० सौर वर्षों में एक बार—अपने शरणागत भक्तों तथा नास्तिक अभक्तों पर अपनी दयावृष्टि करने के लिए अवतार लेते हैं। वे अपने भक्तों की रक्षा करते हैं और नास्तिक असुरों का वध करते हैं और इस तरह इन असुरों को कष्टदायक या दूसरे शब्दों में निर्विशेष मुक्ति प्रदान करते हैं। दूसरी ओर, *भगवद्गीता* भगवान् की भक्ति के माध्यम से मुक्ति की शिक्षा देती है। इस भक्ति को पाने का एकमात्र उपाय है सही शिष्य-परम्परा से सम्बद्ध गुरु की शरण में जाना। जो लोग गुरु की पूजा किये बिना परिश्रम करते हैं उनके सारे प्रयास व्यर्थ सिद्ध होते हैं।

(१०)वे मूर्ख आत्माएँ जो प्रामाणिक गुरु की शरण में जाने से इनकार करती हैं, निश्चित रूप से आश्रयविहीन हैं। गुरु के मार्गदर्शन के बिना ये धूर्त अपने को पण्डित मानते हैं और इसी भ्रान्ति के कारण ये ईश्वर की पूजा मनुष्य के रूप में तथा मर्त्य की पूजा ईश्वर के रूप में करते हैं।

(११)भगवान् षड्ऐश्वर्यों से युक्त हैं और वे किसी सम्प्रदाय वर्ग, या देश की सम्पत्ति नहीं हैं। वे हर एक के लिए उपलब्ध हैं। वे सबों के उद्धारक तथा सबों के परम पिता हैं। वे इस जगत में हर जीव को मुक्त बनाने के लिए प्रकट होते हैं; इसलिए *भगवद्गीता* जो कि उनका संदेश है हर देश तथा सारे लोगों पर लागू होती है। यह सर्वत्र प्रचार किये जाने के लिए है। इसलिए वे भाग्यशाली आत्माएँ जो भगवान् के सन्देश का प्रचार करती हैं, उन्हें सर्वाधिक प्रिय हैं।

(१२)मूर्ख आसुरी मूढ़ भगवान् की माया शक्ति की मुट्ठी में होने से अपनी भौतिकतावादी योजनाओं की शेखी बघारते हैं। एकमात्र *भगवद्गीता* ही उनके अज्ञान के कठोर कवच को भेद कर उनमें सत्य संचारित कर सकती है।

(१३)एकजुट शक्तिशाली प्रचार द्वारा भक्तों को चाहिए कि वे ऐसे मूर्खों को बता दें कि उनकी तथाकथित योजनाएँ सफल नहीं हो पाएँगी क्योंकि उन्होंने जिस नींव पर अपने स्वप्न-आवासों को बनाने का चुनाव किया है वह वस्तुतः मृगतृष्णा है—केवल चलचित्र है। असलियत तो अन्यत्र है। असलियत तथा सत्य के लोक में ले जाने के लिए जो जानकारी चाहिए वह *बैक टु गाडहेड* पत्रिका में उपलब्ध है।

(१४)इसलिए असली सभ्यता का सही लक्षण यह है कि इसके नागरिक भक्तियोग अपनाने तथा उस भगवद्धाम को जाने के लिए जहाँ वे अपने वास्तविक घर में शाश्वत निवास करेंगे, *बैक टु गाडहेड* पत्रिका द्वारा प्रोत्साहित हों। केवल इसी विधि से वे अपने व्यर्थ श्रम को समाप्त कर सकेंगे।

(१५)जिस प्रकार सबसे पापी दुष्ट मृत्यु के बाद प्रेत शरीर में निवास करता है और आकाश में विचरण करता रहता है क्योंकि उसे स्थूल शरीर नहीं मिल पाता उसी तरह से निर्विशेषवादी मुक्ति के दिव्य पद तक ऊपर उठने के बावजूद परमेश्वर के प्रति प्रेमा-भक्ति रस उत्पन्न न कर पाने के कारण भौतिक जगत में नीचे वापस आ गिरता है। इसलिए एक निर्विशेषवादी जो भी कठिन तपस्याएँ करता है वे भक्ति के नित्य धर्म के समतुल्य नहीं होतीं।

(१६)जब अद्वैतवादी भगवान् के निराकार निर्विशेष पक्ष के प्रति इतने अनुरक्त हो जाते हैं कि वे उनमें तथा उनके दिव्य शरीर में अन्तर करने लगते हैं तो उनकी चेतना इस निन्दा से दूषित हो जाती है और

इस तरह वे भगवान् के नित्य धाम में स्थान पा लेने से वंचित रह जाते हैं। किन्तु यदि सौभाग्यवश वे किसी शुद्ध भक्त के सम्पर्क में आते हैं और उससे भगवान् के नाम, गुण, लीलाओं आदि के बारे में सुनते हैं तो उनका दूषण धुल जाता है और वे भगवान् के महिमामय चरित्र के प्रति आकृष्ट तथा प्रेरित होते हैं और अन्त में पूर्णरूपेण उनकी शरण ग्रहण करते हैं। इस तरह *भगवद्गीता* ऐसा उपदेशात्मक ग्रन्थ है कि जो लोग परमेश्वर के साथ नित्य लीलाओं में भाग लेना चाहते हैं उन्हें इसका सन्देश शरणागति का पहला पाठ पढ़ाता है। और चरम गन्तव्य तक पहुँचने के लिए यह शरणागति परम आवश्यक है। यह समझना होगा कि शुद्ध भक्त भगवद्गीता के सिद्धान्त के अनुसार शरणागति की इस परीक्षा में पूर्णरूपेण उत्तीर्ण हो चुके होते हैं।

बुद्धि का सर्वोच्च उपयोग

बुद्धि का सर्वोच्च उपयोग

श्रीमद्भागवत में (१०.२.३२)कहा गया है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्
त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धय: ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत:
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय: ॥

"हे कमलनयन प्रभु! भले ही वे अभक्त जन जो सर्वोच्च पद पाने के लिए कठिन तपस्या करते हैं अपने को मुक्त हुआ समझें किन्तु उनकी बुद्धि अशुद्ध रहती है। वे कल्पित श्रेष्ठता के पद से नीचे गिर जाते हैं क्योंकि उन्हें आपके चरणकमलों के प्रति कोई सम्मान नहीं रहता।"

अत: भगवान् का शरणागत दास जिस योग विधि का अभ्यास करता है वह पतंजलि के अष्टांग योग से जिसमें इंद्रिय निग्रह, योगासन तथा प्राणायाम आदि सम्मिलित हैं सर्वथा भिन्न है। एक तरह से ये अभ्यास उत्तम इन्द्रिय भोग के लिए शारीरिक शक्ति को बढ़ाने के लिए हैं। दूसरी ओर, भक्त ईश-साक्षात्कार की सर्वोत्तम योग पद्धति का पालन करता है जिसका प्रतिपादन *भगवद्गीता* में हुआ है। उसके

कर्म स्वार्थ की भावना से प्रेरित और अपने मनवांछित सपनों की पूर्ति के उद्देश्य से नहीं होते, अपितु पृथ्वी पर ईश्वर की इच्छा को पूर्ण करने के लिए निर्दिष्ट होते हैं। यह योग बुद्धियोग कहलाता है जिसके अन्तर्गत सारे विश्व का सौभाग्य निहित है।

भगवद्गीता में (६.४६-४७) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"योगी पुरुष तपस्वी से, ज्ञानी से तथा सकाम कर्मी से बढ़कर होता है। अतः हे अर्जुन! तुम सभी प्रकार से योगी बनो। और समस्त योगियों में से जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरे परायण है, अपने अन्तःकरण में मेरे विषय में सोचता है और मेरी दिव्य प्रेमाभक्ति करता है वह योग में मुझसे परम अन्तरंग रूप में युक्त रहता है और सबों में सर्वोच्च है। यह मेरा मत है।"

भक्त को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जाता है क्योंकि उसका एकमात्र मन्तव्य जगत में परमेश्वर की इच्छा को स्थापित करना है।

जैसे ही जगत में सारी वस्तुएँ भगवान् की इच्छा के अनुसार संचालित की जाने लगेंगी वैसे ही सारे कर्म आध्यात्मिक हो जाएंगे और भगवान् की उपस्थिति सर्वत्र तथा हर वस्तु में अनुभव की जाने लगेगी। इसलिए भक्त के लिए योग का उद्देश्य मोक्ष या इन्द्रियभोग जैसी तुच्छ तथा कृपण वस्तुएँ प्राप्त करना न होकर भगवान् के साथ भक्ति के प्रेममय सम्बन्ध की पुनःस्थापना करना तथा इस सत्य को जगत भर में प्रसारित करना होता है। वह जानता है कि ब्रह्मपद

पर पहुँचे बिना कोई व्यक्ति भगवान् की शुद्धभक्ति नहीं कर सकता जोकि योग की सर्वोच्च अवस्था है। फिर भी वह जानता है कि ब्रह्म-साक्षात्कार भक्तिमयी शरणागति की सर्वोच्च अवस्था के सहवर्ती है। इसलिए यदि वह भक्ति के द्वारा आध्यात्मिकता का ऐसा वातावरण उत्पन्न करने में सहायता कर सकता है जो पृथ्वी में व्याप्त हो तथा हर वस्तु को आनन्दमय बनाए तो फिर वह मुक्ति के असार स्वार्थी आनन्द के लिए प्रयत्न क्यों करे?

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने घोषणा की थी कि हर जीव की स्वाभाविक स्थिति भगवान् कृष्ण के नित्य दास की है। इसलिए हर जीव मूलतः मुक्त प्राणी है। जीव की वर्तमान बद्ध अवस्था माया है जो उसके द्वारा भगवान् कृष्ण को भुलाने से उत्पन्न हुई है। *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं कि जीव उनका पृथक् अंश है। बद्धात्मा माया के एजेन्टों मन, इन्द्रियों आदि के द्वारा शृंखला में बंधा है। अब जीव अपने पूर्व पापमय कर्मों के फलस्वरूप बन्दी है किन्तु वह नित्य इसी तरह से क्यों रहे? उसकी बन्दी की अवधि को एकमात्र भगवान् की कृपा से आसानी से समाप्त किया जा सकता है। यदि जीव को भगवान् की कृपा उपलब्ध न हो तो वह अपने आप कभी मुक्त नहीं हो सकता। ऐसे वंचित व्यक्ति जो सोचते हैं कि भगवान् की कृपा के बिना ही केवल कठोर तपस्या करके वे मुक्ति पा सकते हैं वे पूरी तरह से भूल में हैं और वे असफल होते हैं। यद्यपि मुक्ति प्राप्त करने में भगवान् की कृपा का प्राप्त होना मुख्य कारण है फिर भी भगवान् बद्धात्मा के मामले में सीधे सम्मिलित नहीं होते। *भगवद्गीता* में (५.१४) भगवान् ने जीव तथा अपना दोनों ही का सन्दर्भ दिया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

"अपने शरीर रूपी नगर का स्वामी देहधारी जीवात्मा न तो कर्म का सृजन करता है, न लोगों को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है, न ही कर्मफल की रचना करता है। यह सब तो प्रकृति के गुणों द्वारा ही किया जाता है।"

यद्यपि उपर्युक्त कथन सच है किन्तु भगवान् के ही संरक्षण में जीवात्माएँ बद्धावस्था में उष्णता और शीत, आनन्द और पीड़ा आदि द्वन्द्वों का अपने अपने कर्मों के अनुसार अनुभव करती हैं। चूँकि इन सब पर भगवान् का नियन्त्रण अपरोक्ष रीति से रहता है अतएव इसके विषय में शिकायत करना व्यर्थ है। बस, उनकी कृपा के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। इससे सारे द्वन्द्व समूल नष्ट हो जाएँगे। अतः भगवान् के भक्त द्वन्द्वों से कभी विचलित नहीं होते। पवित्र तथा बुद्धिमान व्यक्ति सोचता है कि उसके पूर्व पापकर्मों के कारण जो भी कष्ट मिल रहे हैं वे भगवान् की कृपा के कारण बहुत कम हैं और उस कृपा से सारा कष्ट एकक्षण में छूमन्तर हो सकता है। *श्रीमद्भागवत* में (१०.१४.८) ब्रह्माजी कहते हैं—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन् नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

"हे प्रभु, जो तत्परता के साथ आपकी अहैतुकी कृपा पाने के लिए प्रतीक्षित रहता है और साथ ही वह धैर्यपूर्वक अपने विगत दुष्कर्मों

के फलों को सहन करता है तथा अपने मन, वचन तथा शरीर से आपको सादर नमस्कार करता है वह निश्चय ही मोक्ष का पात्र है क्योंकि यह उसका सही दावा बन चुका है।"

उदार तथा शुद्ध भगवद्भक्तों के हृदयों के भीतर भगवान् के आदेशों तथा भौतिक प्रकृति की कार्यवाही को सूचित किया जाता है। वे यह भी जानते रहते हैं कि पूर्ण स्वतन्त्र भगवान् जो दिव्य कार्यों में नित्य लगे रहते हैं, किसी विशेष देश को अपनी पार्थिव लीलाएँ प्रकट करने के लिए चुनते हैं और यह नामधारी देश भारतवर्ष है। इसलिए सभी भारतवासियों को भगवान् के आदेशों को पूरा करना चाहिए। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी *चैतन्यचरितामृत* में (आदि ९.४१) कहते हैं—

भारतभूमिते हैल मनुष्य जन्म यार।
जन्म सार्थक करि' कर पर-उपकार॥

"जिसने भारतवर्ष में मनुष्य के रूप में जन्म लिया है उसे अपना जीवन सफल बनाना चाहिए और अन्य लोगों के लाभ हेतु कार्य करना चाहिए।"

यह सच है कि भारतवासी विश्व भर के लोगों को लाभ पहुँचाने में विशेष रूप से समर्थ हैं। किन्तु यदि भारतवासी इस दायित्व को नहीं निभाते और उल्टे वे पश्चिम में विविध रूपों में प्रकट माया शक्ति द्वारा लुब्ध तथा चमत्कृत होते हैं तो वे कृपण कहलाएँगे और बहुत ही लज्जाजनक ढंग से जीवन का अंत करेंगे। रात में सूर्य इसलिए नहीं दिखता क्योंकि पृथ्वी घूमती है; फिर भी सूर्य आकाश में रहता है और सारा सौर मण्डल उसके प्रभाव में कार्यशील रहता है। इसी तरह भारत के ज्ञान का प्रकाश जो *वेदों, उपनिषदों, वेदान्त-सूत्र,*

पुराणों, गीता तथा अन्य पूरक ग्रन्थों के दिव्य दर्शन में निहित है, वह निश्चय ही उपलब्ध है किन्तु अज्ञान तथा विषयवासना के प्रभाव से अस्थायी रूप से हमारी दृष्टि से ओझल है। निस्सन्देह, भगवान् की इच्छा तथा उनके शुद्ध भक्त की कृपा से यह ज्ञान पुनः सर्वत्र फैलेगा। इसकी भविष्यवाणी श्रीचैतन्य महाप्रभु कर गये हैं।

पृथिवीते आछे यत नगरादि ग्राम
सर्वत्र प्रचार हैबे मोर नाम।

"मेरा पवित्र नाम इस भूमण्डल में प्रत्येक नगर तथा ग्राम में प्रचारित होगा।"

यह भविष्यवाणी बड़ी आसानी से सत्य उतरेगी क्योंकि भगवान् का शुद्ध भक्त श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित धर्म यानी ईशप्रेम की तरंगों से विश्व को आप्लावित कर सकता है। यदि भगवान् चाहें तो सब कुछ सम्भव है। अतः यदि भगवान् चाहें तो हर व्यक्ति उनकी शरण में जाने का प्रेमरस विकसित कर सकता है।

भारतीयों को निडर होकर दूर दूर तक भगवान् की महिमा का प्रचार करना चाहिए। भगवान् नारायण की शरण ग्रहण करने वाला व्यक्ति उनके सन्देश का प्रचार करने के प्रयास में सारे खतरों को झेल सकता है। *श्रीमद्भागवत* में (६.१७.२८) कहा गया है—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥

"भगवान् नारायण की भक्ति में पूरी तरह से लग्न भक्तगण कभी भी जीवन की किसी अवस्था से डरते नहीं। उनके लिए स्वर्ग लोक, मुक्ति तथा नरक लोक एक से हैं क्योंकि ऐसे भक्त भगवान् की

सेवा मात्र में ही रुचि रखते हैं।"

जब परमसत्य का शुद्ध सतोगुणी ज्ञान तमो तथा रजो गुण के निरंकुश दबदबे से दबा दिया जाता है तो ऋषि-मुनि तथा स्वरूपसिद्ध महात्मा एकान्त पूजास्थल में जाकर अपने को आध्यात्मिक रूप से उठाने में ही ध्यानस्थ हो जाते हैं। वे अपने साथ रहने वाले तथा सेवा करने वाले कुछ शिष्यों को भी अत्यन्त लाभ पहुँचाते हैं। किन्तु यदि भगवान् चाहते हैं तो ये ऋषि-मुनि तथा योगी अपने मिशनरी कार्यों से जगत को लाभान्वित करने के लिए आगे बढ़कर आते हैं। संसार के परम कल्याण हेतु जनक, युधिष्ठिर तथा कार्तवीर्य जैसे राजर्षि संसार का कार्य-भार सँभालते हैं।

आध्यात्मिक जगत में भगवान् की सारी लीलाएँ नित्य हैं। इसी तरह उनकी पार्थिव लीलाएँ भी दिव्य तथा नित्य हैं। *चैतन्य भागवत* में कहा गया है, "अभी भी गौरांग महाप्रभु अपनी नित्य दिव्य लीलाएँ कर रहे हैं किन्तु केवल अति भाग्यशाली व्यक्ति ही उन्हें देख सकते हैं।" जब सूर्य अस्त होता है तो हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है किन्तु इस भूमण्डल में वह कहीं न कहीं चमकता रहता है। इसी तरह जब भगवान् अपनी पार्थिव लीलाएँ समेटते हैं तो वे ब्रह्माण्ड के असंख्य करोड़ों लोकों में से किसी एक या अधिक लोकों में अपने को प्रकट करते रहते हैं। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३९) ब्रह्माजी कहते हैं—

रामादिमूर्तिष कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं सम्भवत्परमः पुमान् यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो जगत में स्वयं कृष्ण के रूप में तथा राम, नृसिंह, वामन आदि अपने स्वांशों के रूप में विविध अवतारों में प्रकट हुए।"

ब्रह्मा के एक दिन में चतुर्युगों, अर्थात् सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि, के पूरे एक हजार चक्र होते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में (८.१७) हुई है—*सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः*—मानवीय गणना के अनुसार एक हजार युग मिलकर ब्रह्मा के एक दिन की रचना करते हैं। वैदिक परिगणना के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु आते-जाते हैं। अतः प्रत्येक मनु चतुर्युग के ७१ चक्रों तक जीवित रहता है। सम्प्रति हम वैवस्वत मनु के काल में हैं जो चतुर्युग का अट्ठाइसवाँ चक्र है और यह कलियुग है। किन्तु यह कलियुग अति विशिष्ट है क्योंकि इस युग में श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने आदि रूप में प्रकट होते हैं और शुद्ध भगवत्प्रेम के गुह्य विज्ञान का प्रचार करते हैं। हमें यह सब शास्त्रों से ज्ञात होता है। हमें बहुत आशा है कि निकट भविष्य में यह शुद्ध भगवत्प्रेम का विज्ञान विश्व भर में प्रचारित होगा।

सत्ययुग में सतोगुण की प्रधानता होती है या यह कहा जा सकता है कि जब किसी व्यक्ति में सतोगुण इस मात्रा में बढ़ जाता है कि वह भगवान् के दास के रूप में अपनी मूल स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त होता है और इस तरह अपने मनुष्य जीवन को पूर्ण सफल बनाता है, उस समय उसे सत्ययुग का आनन्द तथा शान्ति प्राप्त होते हैं। इस भौतिक प्रकृति में सतो, रजो तथा तमो, ये तीनों गुण सदैव विद्यमान रहते हैं। गुण विशेष की प्रधानता के अनुसार युग सत्य से त्रेता, त्रेता से द्वापर और द्वापर से कलियुग में बदलते हैं। कलियुग में जीव प्रधानतया तमोगुणी हैं और इस गुण में वृद्धि के साथ ही तीन प्रकार के भौतिक कष्टों में असीम विस्तार होता है। फलतः आज लोग लघु आयु, दुर्भाग्य, कुण्ठित बुद्धि, आलस्य, रोग तथा अन्य अनेक कष्टों से पीड़ित हैं।

फिर भी इस युग को घटिया समझने का कोई कारण नहीं है क्योंकि भगवान् के सर्वाधिक वदान्य अवतार श्रीचैतन्य महाप्रभु पीड़ित जीवों पर अपनी दया की वृष्टि करने के लिए कलियुग में प्रकट हुए हैं। इस युग में परमेश्वर की कृपा निश्चित रूप से अन्य युगों की अपेक्षा अधिक उदार है। श्रील रूप गोस्वामी ने अपने नाटक *विदग्ध माधव* में श्रीचैतन्य महाप्रभु का वर्णन इस प्रकार किया है—

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुम् उन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दन॥

"शचीदेवी के पुत्र कहलाने वाले महाप्रभु आपके हृदय के अन्तरमन में दिव्य रूप से स्थित हों। पिघले सोने की आभा से प्रकाशित वे अपनी अहैतुकी कृपा से कलियुग में वह देने के लिए अवतरित हुए हैं जिसे इसके पूर्व कोई भी अवतार नहीं दे पाया—यह है उनकी सेवा के रसास्वादन का सर्वाधिक उदात्त तथा प्रकाशमान आध्यात्मिक ज्ञान।"

इसलिए वर्तमान कलियुग अत्यन्त शुभ है क्योंकि इस युग में मनुष्य को भक्ति का वह कोष प्राप्त हो सकता है जिसका प्रचार स्वयं महाप्रभु ने किया। हमारी समस्त आशाएँ भगवान् के उन शरणागत भक्तों पर टिकी हैं जिन्हें इसका पूरा पूरा ज्ञान है कि इस दिव्य विज्ञान को किस तरह प्रसारित किया जाय। श्रील शुकदेव गोस्वामी

ने कलियुग के बुरे पक्षों का वर्णन करते हुए *श्रीमद्भागवत* के अन्त में (१२.३.५१-५२) इस विषय का सार-समाहार इस प्रकार किया है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

"हे राजा! यद्यपि कलियुग दोषों का सागर है किन्तु फिर भी इस युग में एक सद्गुण है कि हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन करने मात्र से ही मनुष्य भव-बन्धन से मुक्त हो सकता है और दिव्य धाम को जा सकता है। सत्ययुग में विष्णु का ध्यान करने, त्रेता में यज्ञ करने तथा द्वापर में भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने से जो भी फल प्राप्त किया जाता था वह कलियुग में हरे कृष्ण महामन्त्र का कीर्तन करने से ही प्राप्त किया जा सकता है।"

इन श्लोकों में आगत *हरिकीर्तन* शब्द, जिसका अर्थ "कृष्ण की महिमा का गायन या कीर्तन करना" है *भगवद्गीता* पर लागू हो सकता है जो कि स्वयं ईश्वर द्वारा गाया हुआ गीत है। *भगवद्गीता* के ज्ञान को विश्वव्यापी बनाने से ऐसी नींव पड़ेगी जिस पर भगवत्प्रेम के विज्ञान का महल खड़ा किया जा सकता है। यह महल कलियुग में श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा शिक्षा दिये गये भक्ति के उदात्त कोष का आधार होगा और भगवान् के शुद्ध भक्तों के दिव्य प्रयासों के लिए यह जाज्वल्यमान महल का काम करेगा।

सम्प्रति वेदों, वेदान्त सूत्र तथा उपनिषदों में निहित ज्ञान का अल्पांश ही जनता को उपलब्ध है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि समस्त वैदिक

ज्ञान का सार *गीतोपनिषद* में उपलब्ध है जो कि सार्वजनिक रूप में *भगवद्गीता* के नाम से जाना जाता है। भगवान् कृष्ण ने उपनिषद रूपी गायों को दुहा और इस तरह से प्राप्त दूध—*भगवद्गीता*—का पान अर्जुन ने किया। यदि अर्जुन कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल के मध्य भगवद्गीता सुनने के लिए समय निकाल सकता है तो वह कौन सा अत्यावश्यक कार्य है जो हमें गीता सुनने से रोक रहा है? जब गीता का ज्ञान फैलेगा तो प्रत्येक व्यक्ति योग पद को आसानी से प्राप्त कर सकेगा। जब भगवान् के शुद्ध भक्त अपनी आध्यात्मिक बुद्धि का उपयोग भगवान् की सेवा में करने में सफल होंगे तो ईश्वर के परम वदान्य अवतार श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा सिखाया गया ईश्वर-प्रेम का विज्ञान सर्वत्र वितरित हो जाएगा। सभी लक्षणों को देखते हुए अब समय परिपक्व है। भारतीयों को अब अपने सन्त उपदेशकों, शुद्ध भक्तों की शरण ग्रहण करके एकजुट होकर *भगवद्गीता* के माध्यम से कृष्ण की महिमा का प्रचार करना चाहिए। इस तरह से संसार समृद्ध तथा पूर्ण बन जाएगा। वर्तमान युग में आध्यात्मिक बातों में लोगों की रुचि काफी बढ़ी है। भगवद्गीता का ज्ञान प्रसारित करने के लिए योग तथा ध्यान-समितियों में विशेष वृद्धि हुई है किन्तु यह किस तरह पूरा हो यह प्रश्न बना हुआ है। हमें पूर्ण विश्वास है कि प्रेमा-भक्ति विषयक शिक्षाएँ समस्त विवादास्पद विचारों में तालमेल ला सकेंगी।

मानवता को सकारात्मक तथा अनुकूल चेतना की ओर निर्देशित करने की सबसे प्रभावशाली विधि भारत में उपलब्ध है। कोई भी व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में उचित रूप से *भगवद्गीता* सुनकर चेतना की उच्च अवस्था तक पहुँच सकता है और तब भगवद्नाम का निरन्तर कीर्तन करते हुए ईश्वर को वश में कर सकता है। इस समय

विश्व-मामलों की स्थिति कल्पनाओं, कलह तथा संघर्ष से पूर्ण है। यह सब कलियुग का प्रभाव है, किन्तु जीव के शाश्वत स्वभाव में हमारी श्रद्धा हमें यह विश्वास करने के लिए प्रेरित करती है कि कोई भी व्यक्ति कृष्ण के नाम का श्रवण तथा कीर्तन मात्र करके भक्ति प्राप्त कर सकता है और इस तरह उनके प्रति अपने सुप्त प्रेम को जाग्रत कर सकता है। हमें *श्रीमद्भागवत* से ऊपर उद्धृत किए गए श्रील शुकदेव गोस्वामी के शब्दों में पूरी श्रद्धा है कि कृष्ण नाम का कीर्तन करने से ही मनुष्य उनके नित्यधाम तक पहुँच सकता है।

इसलिए ये सारे संकेत विश्व चेतना में शुभ परिवर्तनों के सूचक हैं। लेकिन इन परिवर्तनों को हर व्यक्ति के हृदय के भीतर से शुरू करना होगा। इन्हें किसी राजनीतिक पहल या सामाजिक समंजन के द्वारा प्राप्त कर पाना असम्भव है। मनुष्यों के हृदय के भीतर से निकली भक्ति की भावनाओं की चरम परिणति शुद्ध भक्त की आध्यात्मिक सिद्धि में होती है। भगवद्गीता में कृष्ण ने इस आध्यात्मिक सिद्धि को भक्तियोग या बुद्धियोग कहा है। एक निश्चित अवस्था पर योग की सारी प्रणालियाँ पुरानी पड़ जाती हैं और बुद्धियोग के अतिरिक्त अन्य सबों का परित्याग करना पड़ता है। भगवान् कहते हैं कि (*भगवद्गीता* २.३९-४०) इस मार्ग में थोड़ी सी भी प्रगति से बड़े बड़े फल प्राप्त होते हैं।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

"यहाँ तक मैंने सांख्य द्वारा इस ज्ञान का वर्णन किया। अब निष्काम भाव से कर्म करना बता रहा हूँ, उसे सुनो। हे पृथापुत्र! यदि तुम ऐसे ज्ञान से कर्म करोगे तो तुम कर्मों के बन्धन से अपने को मुक्त कर सकते हो। इस प्रयास में न तो हानि होती है, न ह्रास अपितु इस पथ पर की गई अल्प प्रगति भी महान भय से रक्षा कर सकती है।"

असली योग बुद्धियोग अर्थात् भक्तियोग है जो परमेश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति कराने वाला है। जब भक्त का भगवान् से प्रत्यक्ष सामना होता है तो मुक्ति स्त्री का रूप धारण करके उसकी सेवा करने के लिए हाथ जोड़े खड़ी रहती है और उसके साथ साक्षात् भौतिक ऐश्वर्य, इन्द्रियसुख तथा धर्म रहते हैं जो दासों की तरह भक्त का मुँह जोहते हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त योग सिद्धि के साकार रूप हैं। इस तरह चारों वैदिक लक्ष्य उनकी आज्ञा-पालन के लिए तत्पर रहते हैं। इन चारों लक्ष्यों के परे परम गन्तव्य है—पराचेतना या ईशभावनामृत। यह पाँचवा तथा सर्वोपरि वैदिक लक्ष्य है। जिसने विशुद्ध कृष्णभावनामृत की दशा पा ली है वह अति दुर्लभ व्यक्ति है—श्रीचैतन्य महाप्रभु के अनुसार दस लाख भक्तों में से एक।

चेतना की ऐसी उच्चावस्था योग की चरम परिणति है। अन्य कोई भी योग विधि—यथा हठयोग या राजयोग—मनुष्य को इस पद पर नहीं ला सकती। बुद्धियोग इन सभी योगाभ्यासों से बहुत ऊपर है क्योंकि ये अधिकांशतया शारीरिक आसन हैं। किन्तु बुद्धियोग आत्मसाक्षात्कार के लिए आध्यात्मिक अनुशासन है; यह साक्षात्कार अद्वैत परब्रह्म की पूर्ण अनुभूति है जिससे हर वस्तु परमेश्वर में और हर वस्तु में परमेश्वर स्थित दिखते हैं। 'भगवद्गीता' में (७.७) कृष्ण बतलाते हैं कि—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

"हे धनञ्जय! मुझसे बढ़कर और कोई सत्य नहीं है। जिस प्रकार मोती धागे में गुँथे रहते हैं उसी प्रकार सब कुछ मुझी पर आश्रित है।"

इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक जीव, असुरों से लेकर देवताओं, मनुष्यों तथा निम्नतर प्राणियों तक, परमेश्वर पर पूर्णतया आश्रित है। जो परब्रह्म को इस तरह देखता है वह पूरे मन से भगवान् की शरण ग्रहण कर सकता है।

शुद्ध भक्ति की दृष्टि का वर्णन 'भगवद्गीता' में (१५.१९-२०) कृष्ण द्वारा किया गया है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतदबुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

"जो कोई भी मुझे संशयरहित होकर पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानता है वह सब कुछ जानने वाला है। अतएव हे भरतपुत्र! वह व्यक्ति अपने आपको मेरी पूर्ण भक्ति में लगाता है। हे अनघ! यह वैदिक शास्त्रों का सर्वाधिक गुह्य अंश है जिसे अब मैंने प्रकट किया है। जो कोई इसे समझेगा वह बुद्धिमान हो जाएगा और उसके प्रयास पूर्ण होंगे।"

एक बार भगवान् के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण कर लेने पर मनुष्य को, यह चर तथा अचर पदार्थ वाला जगत नहीं, अपितु

भगवान् का रूप ही सर्वत्र दिखता है। ऐसी शरणागति के छह अंग हैं—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

"शरणागति के छह विभाग हैं—भक्ति के अनुकूल जो वस्तुएँ हों उन्हें स्वीकार करना, प्रतिकूल वस्तुओं का निषेध, कृष्ण द्वारा संरक्षण मिलने का विश्वास, भगवान् को अपना अभिभावक या स्वामी मानना, पूर्ण शरणागति तथा दीनता।"

भगवान् तथा उनके शरणागत भक्त के मध्य का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ होता है। भक्त की हर बात भगवान् को ज्ञात रहती है। भक्त का ऐसा कोई स्वार्थ नहीं होता जिससे उसे ज्ञान, कर्म, इन्द्रियसुख, शोक, ध्यान आदि में पड़ना पड़े। वह पूरे समय भगवान् की सेवा में लगा रहता है। उसकी चेतना सारे कल्मष से शुद्ध हो जाती है और बद्धजीवन रूपी अग्नि बुझ जाती है। द्वित्व तथा मोह उसके हृदय से निकल जाते हैं, कृष्ण के प्रति उसकी भक्ति एकांगी हो जाती है और वह अपने आपको भगवान् के चरणों पर बिके हुए पशु की भाँति डाल देता है। इस अवस्था में भगवान् स्वयं ही भक्त को बुद्धियोग प्रदान करते हैं जिससे वह उनको प्राप्त कर ले।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

"जो प्रेमपूर्वक मेरी सेवा करने में निरन्तर लगे रहते हैं उन्हें मैं ज्ञान प्रदान करता हूँ जिसके द्वारा वे मुझ तक आ सकते हैं। मैं उन पर विशेष कृपा करने के हेतु, उनके हृदयों में वास करते हुए, ज्ञान के प्रकाशमान दीपक से अज्ञानजन्य अन्धकार को दूर करता हूँ।" (भगवद्गीता १०.१०-११)

जब भक्त इस तरह की शरण तथा पूर्ण निर्भरता का मनोभाव ग्रहण करता है तो भगवान् की इच्छा से सब कुछ आसानी से हो जाता है। यदि शरणागति किसी कारण से अधूरी रहती है तो भक्त अन्य योग-क्रियाओं से प्राप्त होने वाले लक्ष्य प्राप्त करता है। भगवान् कहते हैं "इस मार्ग में थोड़ी भी प्रगति मनुष्य को बड़े से बड़े भय से बचाती है।" दूसरे शब्दों में, भगवान् स्वयं हस्तक्षेप करके आध्यात्मिक जीवन में अपने शरणागत भक्त की सफलता सुनिश्चित करते हैं। क्या इसमें कोई सन्देह है कि एक बार यदि भगवान् की शक्ति सक्रिय हो उठे तो हमारे सारे कृत्रिम प्रयास नगण्य तथा व्यर्थ हो जाते हैं? भगवान् की वह अचिन्त्य शक्ति जो हमें आध्यात्मिक सिद्धि का वर प्रदान करती है, उनकी शक्तियों की मात्रा तथा महिमा को बताती है। निस्सन्देह, आध्यात्मिक प्रगति के अन्य साधन भी हैं यथा राजयोग जिससे मनुष्य समदर्शी बन सकता है या फिर कठिन प्राणायाम, कठिन तपस्या तथा वैराग्य जैसे अतिशक्तिशाली साधन। किन्तु जब भगवान् की दैवी शक्ति कार्य करती है तो ये सारे साधन शरणागति की तुलना में व्यर्थ प्रतीत होते हैं। ये अन्य विधियाँ यद्यपि अत्यन्त शक्तिशाली हैं किन्तु हैं मानवीय प्रयास। अतः वे भगवान् की दिव्य शक्ति की तुलना कैसे कर सकते हैं? भगवान् इस दैवी शक्ति से विशेष व्यक्ति को विशेष परिस्थितियों में आशीर्वाद देते हैं।

शरणागति का प्रथम अंग है उसे स्वीकार करना जो हमें भगवान् की कृपा दिला सके। इसका अर्थ है पूरी तरह भगवान् की इच्छा पर निर्भर करना। ऐसी शरणागति पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहता। यह इन्द्रिय-सुख की इच्छा, मुक्ति या योग सिद्धियों से अकलुषित रहती है। भक्त अन्यों की तरह कभी भी चिन्ता में नहीं रहता। उसकी एकमात्र चिन्ता भगवान् की इच्छा का पालन करना होता है। इस सन्दर्भ में श्रील व्यासदेव कहते हैं—

"यदि शरणागत व्यक्ति भोजन तथा आवास का प्रबन्ध चाहते हुए भी नहीं कर पाता, या एक बार इन सब वस्तुओं को प्राप्त करके उन्हें खो देता है तो वह ऐसी विपत्ति से अविचल रहता है और भगवान् हरि का स्मरण मात्र करता है।"

यह सच है कि जब कोई व्यक्ति निष्ठापूर्वक भगवान् के चरणकमलों पर विनती करता है, तो भगवान् सामान्यतः उसकी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। किन्तु जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों पर अपने को डाल कर पूर्णरूप से उनकी शरण ग्रहण कर ली है वे उनसे किसी भौतिक वस्तु के लिए याचना नहीं करते। फिर भी भगवान् स्वतः उनकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देते हैं। गीता में (९.२२) भगवान् कृष्ण हमें आश्वस्त करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

"किन्तु जो लोग अनन्य भाव से मेरे दिव्य रूप का ध्यान करते हुए निरन्तर मेरी पूजा करते हैं उनकी जो आवश्यकताएँ होती हैं, उन्हें मैं पूरा करता हूँ और उनके पास जो कुछ होता है उसकी रक्षा करता हूँ।"

एकाग्रचित्त भक्तगण शरणागत आत्माएँ हैं। वे अनुभव कर सकते हैं कि भगवान् की शक्तियाँ किस तरह कार्यशील हैं। यदि कभी दीर्घकाल तक याचना करने के बाद भी भगवान् अपनी कृपा नहीं दिखलाते तो वे चिन्तित नहीं होते क्योंकि उनमें यह अटल विश्वास रहता है कि भगवान् उनकी रक्षा हर परिस्थिति में करेंगे। वर्तमान युग की मनोवृत्ति अध्यात्म के लिए अनुकूल नहीं है अतएव भगवान् के प्रति उच्चकोटि की श्रद्धा विकसित कर पाना कठिन है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि भगवान् के प्रति श्रद्धा कभी भी व्यर्थ नहीं जाती। प्रारम्भ में हमें इस तथ्य को मानने में हिचक हो सकती है किन्तु कालान्तर में हम यह समझ पाते हैं कि भगवान् सदैव हमारी रक्षा कर रहे हैं।

कभी कभी जब हम संशय तथा उद्विग्नता से ग्रस्त हों तो हमें अपने संकल्प में दृढ़ रहना चाहिए। संशय दूर करने का श्रेष्ठ उपाय है संत पुरुषों (साधुओं) की संगति। ये संत पुरुष जो शास्त्रों के निर्णयों में सिद्धहस्त हैं तथा जिन्होंने परमेश्वर का साक्षात्कार किया है, हमारे संशयों को दूर कर सकते हैं और अकाट्य उपदेशों तथा आदर्श कर्मों के द्वारा हमारे बेचैन मनों को शान्त बना सकते हैं। जब कानों तथा हृदय को अमृत तुल्य लगने वाली कृष्ण-चेतना की कथाएँ सन्तों की संगति में सुनी जाती हैं तथा विवेचित होती हैं तो भगवान् के प्रति आकर्षण तथा भक्ति के साथ साथ उनके प्रति श्रद्धा भी क्रमशः बढ़ती जाती है। श्रद्धा से शरणागति की शुरुआत होती है और बाद में सन्तों की संगति के प्रबल प्रभाव से यह श्रद्धा गहराती है और स्थिर हो जाती है। एक बार श्रद्धा स्थिर हुई नहीं कि सारे मानसिक क्षोभ तथा संशय भगवान् की निरन्तर पूजा के कारण दूर हो जाते हैं। तब मनुष्य अत्यन्त गुह्य तथा उच्च कोटि

का भजन करने लगता है और इससे ईशप्रेम की अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था तक पहुँचने के लिए संतों की संगति अनिवार्य है, इसका कोई विकल्प नहीं है। इसीलिए कहा गया है—

'साधुसंग', 'साधुसंग'-सर्व-शास्त्रे कय।
लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

"सारे शास्त्रों का यही निर्णय है कि शुद्ध भक्त के साथ क्षणभर की भी संगति से मनुष्य को सारी सिद्धि मिल सकती है।" (*चैतन्य चरितामृत*, मध्य २२.५४)

भगवान् साधुओं के विषय में क्या अनुभव करते हैं इसका उद्घाटन उन्हीं के द्वारा *श्रीमद्भागवत* में (९.४.६८) किया गया है—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

"शुद्ध भक्त सदैव मेरे हृदय के भीतर रहता है और मैं अपने शुद्ध भक्त के हृदय में सदैव रहता हूँ। मेरे भक्त मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानता।"

भगवान् सदैव अपने शुद्ध भक्तों के हृदय में निवास करते हैं अतः उनमें उन तीर्थस्थानों को शुद्ध करने की शक्ति रहती है जो सभी तीर्थयात्रियों द्वारा निक्षिप्त पापों से पूरी तरह लदे रहते हैं। ये हैं कतिपय महिमाएँ भगवान् के शुद्ध शरणागत भक्तों की।

भगवद्गीता में (१८.५८) भगवान् कृष्ण कहते हैं— *मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि*—यदि तुम मेरे भाव से भावित हो जाओ तो तुम मेरी कृपा से बद्धजीवन के सारे अवरोधों को पार कर लोगे—इसलिए सकाम कर्म, ज्ञान की खोज तथा योग की इति भगवान् की शरण

में होती है। *गीता* में (१८.६६) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"सारे धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हारे सारे पापफलों से तुम्हें उबार लूँगा। डरो मत।"

जब भगवान् हमारी सुरक्षा का भार अपने ऊपर लेने को राजी हैं तो फिर डर किस बात का? जब सर्व शक्तिशाली तथा सम्पूर्ण विराट सृष्टि के पालक हमारे जीवन का भार अपने ऊपर लेने को तैयार हों तब हमें उनकी शरण में जाने में क्या आपत्ति हो सकती है? यदि इस असीम विराट जगत के सृजनकर्ता, पालक तथा संहारकर्ता भगवान् द्वारा सुरक्षा की गारंटी प्राप्त हो जाय तो हमें और क्या चाहिए? यदि हम सही तरीके से भगवान् की शक्तियों की अनुभूति करने का प्रयास करें तो वे उन्हें उसी रूप में हमें प्रकट करेंगे जैसी कि वे हैं। हम अपनी अल्प शारीरिक और मानसिक क्षमताओं से कितना कर सकते हैं? योग की असली सफलता भगवान् के चरणकमलों पर पूरी तरह शरण ग्रहण करने पर ही मिलती है।

चूँकि ऐसी पूर्ण शरणागति का भाव क्षणभर में प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसलिए हमें भी तत्क्षण ही भगवान् की कृपा प्रकट होने की आशा नहीं करनी चाहिए। यद्यपि भगवान् तथा कभी कभी उनके भक्त चमत्कार करते हैं किन्तु हमें इसकी उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि हमारे साथ ऐसी असामान्य बातें घटित होंगी। हाँ, यह निश्चित है कि भगवान् हमें जितनी कृपा का दान करते हैं वह उनके प्रति हमारी शरणागति से कहीं अधिक होता है। दूसरा खतरा यह है कि यदि हमें उनकी सारी कृपा तुरन्त मिल जाय तो हम

उसी तरह भ्रष्ट तथा पतित हो जायँ जिस तरह योगसिद्धि प्राप्त करने पर अनेक योगी हो जाते हैं। अच्छा हो कि हम धैर्य तथा उत्साह के साथ नियमित ढंग से अपना कर्तव्य करते रहें। तब हमें निस्सन्देह, भगवान् की पूरी कृपा मिल सकेगी।

वेदों तथा *श्रीमद्भागवत* दोनों ही में बद्ध-आत्मा का एक सा दृष्टान्त मिलता है—वृक्ष रूपी शरीर में दो समान पक्षी निवास करते हैं। एक परमात्मा है और दूसरा जीवात्मा। एक पक्षी, जीव, भौतिक जगत के फल का आस्वादन कर रहा है जबकि दूसरा भगवान् की समस्त दिव्य शक्तियों से परिपूर्ण होकर चुप बैठा रहता है। जीवात्मा को परमात्मा की शरण लेकर भगवान् द्वारा प्रदत्त फल का आस्वादन करना चाहिए।

भगवान् कहते हैं कि उनकी बहिरंगा शक्ति, महामाया या काली, अन्तरंगा या परा शक्ति के रूप में उनकी सेवा करती है। जीव को चाहिए कि वह इस पराशक्ति को स्वतन्त्र रूप से उसे प्रभावित करने दे; उस पर मिथ्या अहंकार का व्यवधान न डाले क्योंकि इससे वह अपने को कर्ता मानने लगता है। इस तरह भगवान् की शरण ग्रहण करना भक्ति की सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचने की संस्तुत विधि है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् का वचन है—*परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते*—भगवान् की शक्तियाँ विविध हैं। ये शक्तियाँ विभिन्न स्तरों पर भिन्न भिन्न अधिकारों से काम करती हैं तथा ज्ञान के स्तर पर वे विशिष्ट ढंग से प्रकट होती हैं, अन्य किसी से सर्वथा भिन्न। आध्यात्मिक स्तर पर ये शक्तियाँ विविधतायुक्त आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ प्रकट करती हैं। यदि कोई कृष्णभावनामृत में पूर्णता प्राप्त कर ले तो ये शक्तियाँ जानी जा सकती हैं। भौतिक प्रकृति के स्तर पर

इन्द्रियाँ सारे शरीर से श्रेष्ठ हैं, मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, बुद्धि मन से श्रेष्ठ है और आत्मा बुद्धि से भी सूक्ष्म तथा श्रेष्ठ है। आध्यात्मिक स्तर पर शुद्ध आत्मा जब अपने आदि आध्यात्मिक स्वरूप में होता है तो वह मधुर दिव्यता के परम साक्षात् रूप भगवान् की भक्ति करता है। यह भक्ति भगवान् की ह्लादिनी शक्ति के अंश रूप से परिपूरित रहती है।

श्री अरबिन्दो जैसे महान विचारक ने इस अवस्था को *विज्ञानानन्द* "अनुभूत ज्ञान का शुद्ध आनन्द" कहा है। जीसस ने इसे "स्वर्ग का राज्य" कहा है। इसके विपरीत जब कोई भौतिक स्तर पर संसारी सुख भोगना चाहता है तो आध्यात्मिक सुख रुद्ध होकर सुप्त हो जाता है। इसलिए योगसिद्धि की विशेषता आध्यात्मिक आनन्द का जाग्रत होना है। जब कोई इस आनन्दमय स्थिति की ओर प्रबल रीति से खिंचता है तो उसे भगवद्धाम की प्राप्ति होती है। लोहा निरन्तर अग्नि के सम्पर्क में रहने से अग्नि के गुण ग्रहण कर लेता है। इसी तरह जब प्रकृति में जीव भक्ति के द्वारा आध्यात्मिक आनन्द तक उठता है तो उसकी आध्यात्मिक चेतना जाग उठती है और वह इस परिवर्तनशील जगत को भूल जाता है। *भगवद्गीता* में (१२.८-९) भगवान् कृष्ण बताते हैं कि हम किस तरह अपने ऊपर उनकी आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव को बढ़ाएं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥

"मुझ भगवान् में अपने चित्त को स्थिर करो और अपनी सारी बुद्धि

मुझमें लगाओ। इस प्रकार तुम निस्सन्देह मुझमें सदैव वास करोगे। हे अर्जुन! हे धनञ्जय! यदि तुम अपने चित्त को अविचल भाव से मुझमें स्थिर नहीं कर सकते तो तुम भक्तियोग के विधि-विधानों का पालन करो। इस प्रकार तुममें मुझे प्राप्त करने की चाह उत्पन्न होगी।"

जब कोई व्यक्ति अपने मन को श्यामसुन्दर भगवान् कृष्ण के नित्य अतिसुन्दर रूप पर एकाग्र करता है तो समस्त क्लेश तथा वेदना दूर हो जाती हैं। हो सकता है कि शुरू शुरू में कृष्ण पर मन को एकाग्र कर पाना विफल रहे किन्तु *अभ्यास योग* से यह सम्भव हो जाता है। *अभ्यास योग* का अर्थ है श्रवण, कीर्तन, भगवान् की लीलाएं इत्यादि नौ प्रकार की भक्ति में निष्ठापूर्वक संलग्न होना। अभ्यास योग को सही ढंग से करने पर दैवी चेतना या पराचेतना जागृत होती है। यही असली सफलता है।

आधुनिक महर्षि श्री अरबिन्दो ने बतलाया है कि योगाभ्यास की तृतीयावस्था में योगी ईश्वर को सर्वत्र देखता है। ज्ञान योग की विधि में, जब योगी को निर्विशेष ब्रह्मसाक्षात्कार होता है तो वह ब्रह्म को सर्वव्यापी तथा अक्रिय देखता है। यह साक्षात्कार भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीलाओं या साज-सामग्री के ज्ञान से रहित होता है। किन्तु यदि ये दिव्य कथाएँ किसी के ध्यान को आकृष्ट कर सकें तो वह शीघ्र ही वेदों, उपनिषदों तथा गीता में बताये गये भक्तियोग मार्ग का अनुसरण करने लगता है। इस पथ पर अग्रसर होते ही दृष्टि में रूपान्तर होने लगता है। ऐसा विरल आत्मा जो इस विधि को पूरा कर लेता है वह हर वस्तु में भगवान् को और हर वस्तु को भगवान् में देख सकता है। इस बात की पुष्टि विविध शास्त्रों के उद्धरणों से होती है। *भगवद्गीता* में (७.१९) भगवान् कहते हैं—*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः*—शरणागत भक्त मुझे

ही समस्त कारणों का कारण जानता है। ऐसा महात्मा दुर्लभ होता है। उपनिषदें कहती हैं—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—हर वस्तु में ब्रह्म समाया है। जब कोई व्यक्ति इस विराट सृष्टि को भगवान् की दैवी शक्तियों के रूपान्तरण तथा अभिव्यक्ति के रूप में देखता है तो वह इस साक्षात्कार की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त करता है। श्री नारद ने श्रील व्यासदेव को इस प्रकार उपदेश दिया—

इदं हि विश्वं भगवान् इवेतरो
यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि ते
प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्॥

"भगवान् स्वयं ही यह विराट जगत हैं, फिर भी वे इससे पृथक हैं। उन्हीं से यह विराट जगत उद्भूत हुआ, उन्हीं में यह आश्रय पाता है और प्रलय के बाद उन्हीं में प्रवेश कर जाता है। आप यह सब जानते हैं। मैंने केवल प्रारूप बतलाया है।"

साक्षात्कार की इस अवस्था में नित्य सत्य, निर्विशेष सर्वव्यापकता के माया-मय भौतिक आवरण द्वारा, प्रच्छन्न नहीं रहता और परम आध्यात्मिक पुरुष प्रकाशित होता है। इस आध्यात्मिक पुरुष की पूर्णतम अभिव्यक्ति श्रीकृष्ण हैं जो सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप हैं और जो व्यक्त तथा अव्यक्त भौतिक ब्रह्माण्ड के परे हैं। *ब्रह्मसंहिता* बतलाती है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

"गोविन्द नाम से विख्यात कृष्ण परमेश्वर हैं। उनका नित्य आनन्दमय

आध्यात्मिक शरीर है (सच्चिदानन्द विग्रहः)। वे सभी वस्तुओं के उद्गम हैं। उनका कोई अन्य उद्गम नहीं तथा वे समस्त कारणों के आदि कारण हैं।"

निर्विशेष ब्रह्म परमेश्वर के सच्चिदानन्द रूप का दिव्य शारीरिक तेज है और मायामयी तथा नश्वर भौतिक प्रकृति उनकी विभक्ता शक्ति का रूपान्तर है।

यद्यपि सच्चिदानन्द भगवान् अपने नित्य धाम गोलोक वृन्दावन में स्थायी रूप से निवास करते हैं तो भी वे अपने को सर्वव्यापी विश्व रूप में प्रकट करते हैं और अपने अंश परमात्मा रूप में वे सम्पूर्ण विराट सृष्टि में उपस्थित हैं। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३७,४३) बतलाया गया है—

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्
ताभिर्य एव निजरूपतयाकलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु॥
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् की पूजा करता हूँ जो अपने ही धाम गोलोक में राधा के साथ निवास करते हैं, जो उनके आध्यात्मिक स्वरूप के ही सदृश्य हैं और चौंसठ कलाओं से युक्त साक्षात् आनन्द की शक्ति हैं और जिनके साथ उनकी सखियाँ हैं जो उनके शारीरिक स्वरूप की साक्षात् विस्तार हैं और उनके शाश्वत आनन्दमय रस

में सिक्त तथा जीवन्त रहती हैं।''

''सबसे नीचे देवीधाम (भौतिक संसार) स्थित है, उसके ऊपर महेश धाम है। इस महेश धाम के ऊपर हरिधाम है और इन सबों के ऊपर कृष्ण का अपना लोक है जो गोलोक कहलाता है। मैं उन आदि गोविन्द की पूजा करता हूँ जिन्होंने इन विभिन्न लोकों के शासकों के लिए उनके अपने-अपने अधिकार नियत कर दिये हैं।''

गोविन्द भगवान्, अलंघ्य, सर्वोच्च प्राणी तथा असीम ईश्वर हैं। वे कृष्ण कहलाते हैं क्योंकि वे अपनी असामान्य दिव्य लीलाओं से हर एक को आकर्षित करते हैं। इसलिए यह एकमत से स्वीकार किया गया है कि उनके अन्य सारे नाम तथा विस्तार आंशिक हैं। *श्रीमद्भागवत* घोषित करती है— *एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*—ईश्वर के ये सारे अवतार या तो भगवान् के स्वांश या स्वांश के भी अंश हैं किन्तु श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं।

इस तरह श्रीकृष्ण आदि, अनादि हैं और परमेश्वर हैं और यह भौतिक ब्रह्माण्ड उनकी असीम शक्ति का अंशमात्र है। आज हम इस भौतिक जगत को मोहमय कहकर इसका तिरस्कार कर सकते हैं किन्तु एक न एक दिन कृष्णभावनाभावित दृष्टि से हम भगवान् के साथ इसके घनिष्ठ सम्बन्ध को देख सकेंगे। आध्यात्मिक दृष्टि की इस अवस्था में हम भौतिक वस्तुओं को न तो शोषण के रूप में, न ही तिरस्कार के रूप में देखेंगे। ऐसी दिव्य दृष्टि केवल बुद्धियोग या भक्तियोग से प्राप्त की जाती है। तब हमें *ब्रह्मसंहिता* के निम्नलिखित श्लोक (५.५१) की सच्चाई स्पष्ट हो सकेगी—

अग्निर्मही गगनमम्बु मरु द्दिशश्च
कालस्तथात्ममनसीति जगत्त्रयाणि।

यस्माद् भवन्ति विभवन्ति विशन्ति यं च
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''तीनों जगत नौ तत्वों से बने हैं। ये हैं—अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल, वायु, दिशा, काल, आत्मा तथा मना मैं उन आदि गोविन्द की पूजा करता हूँ जिनसे ये उद्भूत होते हैं, जिनमें ये विद्यमान रहते हैं तथा विश्व संहार के बाद जिनमें ये प्रवेश कर जाते हैं।''

एक बार दिव्य साक्षात्कार प्राप्त कर लेने पर सारे कष्ट, शोक, मोह, भय आदि तुरन्त ही समूल नष्ट हो जाते हैं। आत्मा इन कष्टों से तब तक पीड़ित होता रहता है जबतक उसे यह भ्रम बना रहता है कि कृष्ण से बाहर कुछ स्थित है। इसलिए जब कोई व्यक्ति अध्यात्म को प्राप्त होता है तो उसे इसी जगत में सुख का अनुभव होने लगता है। जीवन का संसारी बोध प्रकृति के तीन गुणों का प्रतिफल है जो मन तथा इन्द्रियों को प्रभावित करते हैं। किन्तु जब बुद्धियोग के माध्यम से मनुष्य की दृष्टि रूपान्तरित हो जाती है तो उसे हर वस्तु कृष्ण से प्रत्यक्ष शृंखलाबद्ध दिखाई देती है। अग्नि, जल, आकाश तथा मन के साथ ही दिशाएँ, आत्मा तथा मन—ये सारे भौतिक तत्त्व—प्रत्येक भौतिक तथा आध्यात्मिक, साकार तथा निराकार वस्तु—परम पुरुष कृष्ण को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। जब कोई साक्षात्कार की इस दशा को प्राप्त हो जाता है तो पाप-पुण्य, सुख-दुख के द्वन्द्व तथा मोह अध्यात्म के आनन्दमय एकत्व द्वारा विनष्ट हो जाते हैं। एक उपनिषद् में यह कहा गया है कि ब्रह्मसाक्षात्कार से प्राप्त होने वाले सुख का अनुभव हो जाने पर भयभीत होने का कोई कारण नहीं रह जाता। *ईशोपनिषद्* के एक श्लोक (७) में ऐसा ही भाव व्यक्त हुआ है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वम् अनुपश्यतः॥

"जो व्यक्ति सारे जीवों को आध्यात्मिक स्फुलिंग के रूप में और गुण में भगवान् से एकाकार देखता है वह वस्तुओं का असली ज्ञाता बन जाता है। तब उसके लिए मोह या चिन्ता का क्या अर्थ है?"

आत्मसाक्षात्कार से यह ज्ञान होता है कि प्रत्येक वस्तु परमेश्वर में स्थित है। तब कोई मोह या शोक नहीं रह जाता और हर वस्तु अद्भुत रीति से सुसंगत प्रतीत होती है। तब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विविधता में एकता की अभिव्यक्ति दिखता है। इस स्तर पर प्रत्येक वस्तु सुख, ज्ञान तथा शाश्वत से पूर्ण होती है। यह ब्रह्मसाक्षात्कार का पद होता है।

इस स्वरूपसिद्ध अवस्था में हमें नारायण की उपस्थिति न केवल समस्त जीवित वस्तुओं में दिखती है अपितु समस्त निर्जीव वस्तुओं में भी दिखती है। जब हमारी चेतना को आच्छादित करने वाले अज्ञान का अन्धकार गुरु से प्राप्त होने वाले ज्ञान के कृपापूर्ण प्रकाश से दूर होता है तो हमें आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती है और तब हम देख सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु भगवान् से सीधे जुड़ी हुई है।

जीव उत्थान की जिन विविध अवस्थाओं से होकर गुजरता है वे विभिन्न कोशों के समान हैं जो उसे घेरे रहते हैं। ये हैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोश। अन्तिम कोश का भेदन हो जाने पर आत्मा शुद्ध चेतना प्राप्त करता है, वह पूर्ण आनन्द की (आनन्दमय) अवस्था में प्रवेश करता है और सच्चिदानन्द को विश्वमय अनुभव करता है। सर्वप्रथम आत्मा चेतना को घेरता है, तब वह प्रस्फुटित चेतना की अवस्था को, तब कुसुमित चेतना की अवस्था को और

अन्त में पूर्णतया कुसुमित चेतना को प्राप्त होता है। पूरे समय उसे आनन्द के क्रमशः विस्तार का अनुभव होता है किन्तु यह कृष्ण तथा उनकी भक्ति के सन्दर्भ में ही होता है। अन्तिम अवस्था में फूल, फल, पौधे, वृक्ष, मिट्टी—सारी वस्तुएँ तथा तत्त्व—कृष्ण की सेवा में प्रयुक्त किये जाने से आध्यात्मिक बन जाते हैं। दूसरे शब्दों में, कोई भी वस्तु भगवान् से पृथक नहीं देखी जाती। जैसा कि *ईशोपनिषद्* में (१) बतलाया गया है—*ईशावास्यमिदं सर्वम्*—इस ब्रह्माण्ड के भीतर की प्रत्येक चर अथवा अचर वस्तु भगवान् द्वारा नियन्त्रित की जाती है और उनके स्वामित्व में होती है।

ईश्वर को सर्वत्र तथा प्रत्येक जीव में देखना ही आत्मसाक्षात्कार की इति नहीं; मनुष्य को चाहिए कि वह उन्हें सारी घटनाओं में, प्रत्येक क्रिया में, मनुष्य के जीवन को प्रभावित करने वाले प्रत्येक विचार में, जिसमें निजी विचार भी सम्मिलित हैं, देखे। ऐसी दृष्टि प्राप्त करने के लिए दो बातें अनिवार्य हैं—हम अपने सारे कर्मों के फल भगवान् कृष्ण को अर्पित करें तथा हम जो भी कर्म करें वह उनकी भक्ति के रूप में किया जाय। हमें निरन्तर इस बात का ध्यान रखना होगा कि एकमात्र कृष्ण ही प्रत्येक कर्म के भोक्ता तथा स्वामी हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं (९.२४,२७)—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"मैं ही समस्त यज्ञों का एकमात्र भोक्ता तथा स्वामी हूँ। अतः जो लोग मेरी वास्तविक दिव्य प्रकृति को नहीं पहचान पाते, वे नीचे

गिर जाते हैं।" "हे कुन्तीपुत्र! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ भेंट रूप में देते हो या दान देते हो और जो भी तपस्या करते हो, उसे मुझे अर्पित करते हुए करो।"

कुछ लोग प्रत्येक वस्तु को भौतिक मान कर वैराग्य का ढोंग रचाते हैं और उन वस्तुओं का भी तिरस्कार कर देते हैं जिन्हें भगवान् की सेवा में लगाया जा सकता है। यह व्यर्थ है। इस जगत की सारी वस्तुएँ हमारे भोग या तृप्ति के लिए नहीं अपितु भगवान् की सेवा के निमित्त हैं। जो दिव्य चेतना या पराचेतना में होता है, उसका यही मनोभाव होता है। इस चेतना में सम्पन्न होने वाले सारे कर्म असली वैराग्य या युक्तवैराग्य होते हैं। इसके विपरीत है मिथ्या वैराग्य या फल्गु वैराग्य। अर्जुन को इस तरह से कर्म करने का उपदेश देते हुए भगवान् ने हम सबों को भी ऐसा ही करने का आदेश दिया है। हमारा कर्तव्य है कि उनके आदेश का पालन करें। फल चाहे जो भी हो, हमें आश्वस्त होना चाहिए कि ऐसे सारे कर्म शुभ हैं। *भगवद्गीता* में (९.२८) भगवान् कहते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

"इस तरह तुम कर्म के बन्धन तथा इसके शुभाशुभ फलों से मुक्त हो सकेगे। इस संन्यास योग में अपने चित्त को मुझ में स्थिर करके तुम मुक्त होकर मेरे पास आ सकोगे।"

असली योगसिद्धि तब मिलती है जब हम अपनी निजी माँगों को भुलाकर यह तै करते हैं कि भगवान् हमसे क्या सेवा चाहता है। अच्छा-बुरा, सही-गलत, आवश्यक-अनावश्यक जैसे हमारे विचारों के साथ साथ हमें निजी स्वार्थ की बलि देनी होगी। हमें तो उस

महान योद्धा अर्जुन का अनुकरण करना होगा और यह खोजना होगा कि भगवान् हमसे कौन सी सेवा चाहते हैं। ऐसे कृष्णभावनाभावित कर्मों से ही हमारे सारे कर्तव्य पूरे हो सकेंगे और इसके फल भी सर्वशुभ निकलेंगे। प्रगति के लिए इतनी अविचल श्रद्धा अपरिहार्य है। *चैतन्य चरितामृत* में (मध्य २२.६२) श्रील कृष्णदास कविराज ने इस श्रद्धा की परिभाषा दी है—

'श्रद्धा'-शब्दे-विश्वास कहे सुदृढ निश्चय
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय।

"कृष्ण की प्रेमाभक्ति करके मनुष्य सारे गौण कर्मों को स्वतः कर लेता है। भक्ति करने के लिए अनुकूल यह विश्वस्त, दृढ़ आस्था ही श्रद्धा कहलाती है।"

हमें एक बात माननी होगी कि सर्वशक्तिमान भगवान् की वह शक्ति जिससे वे सृजन, पालन तथा संहार का कार्य करते हैं, हमारी तुच्छ शक्ति से किसी तरह निकृष्ट नहीं है। इसलिए ईश्वर को अपनी या हमारी कठिनाइयों या लाभों के लिए किसी से परामर्श नहीं लेना पड़ता। प्रश्न है कि हमारा कर्तव्य क्या है? *भगवद्गीता* में (४.१६-१७) भगवान् कहते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

"कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसे निश्चित करने में बुद्धिमान व्यक्ति भी मोहग्रस्त हो जाते हैं; अतएव अब मैं तुम्हें बताऊँगा

कि कर्म क्या है जिसे जानकर तुम सारे अशुभ से मुक्त हो सकोगे। कर्म की बारीकियों को समझना अति कठिन है। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह यह ठीक से जान ले कि कर्म क्या है, विकर्म क्या है और अकर्म क्या है?"

सद्कर्म किससे बनता है इसके विषय में जो गुह्य सच्चाई है वह लगभग अभेद्य है। कुछ लोग मानते हैं कि सद्कर्म अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाना है। सद्कर्म से सामान्य लोग प्राय: यही समझते हैं। किन्तु उपर्युक्त श्लोकों के कुछ ही बाद कृष्ण *ब्रह्म कर्म* का प्रयोग सद्कर्म का वर्णन करने के लिए करते हैं। *ब्रह्म* शब्द ब्रह्म का द्योतक है। इसलिए कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्म-स्तर पर किया कर्म सद्कर्म है। अन्य लोग कहते हैं कि अपने लिए, अपने समाज, राष्ट्र तथा मानवता के लिए उपयोगी कार्य सद्कर्म में सम्मिलित हैं। जब कोई व्यक्ति ऐसे उच्च मनोभावों से कर्म करता है तो निश्चय ही वह सदपुरुष समझा जाता है। निस्सन्देह, उसके कर्म कुटिल मनोवृत्तियों वाले व्यक्तियों की तुलना में निश्चय ही नेक हैं। किन्तु इस तरह का कर्म *बुद्धियोग* नहीं है क्योंकि ऐसे परोपकारी कार्य अधिक से अधिक मनुष्यों की संसारी इच्छाओं को नयी इच्छाओं से स्थानान्तरित कर सकते हैं किन्तु ये कभी भी हृदय के भीतर की अवांछित इच्छाओं को समूल नष्ट नहीं कर सकते। परोपकारी कार्य हमें अनन्य भक्ति के लिए तैयार नहीं कर सकते क्योंकि भक्ति ज्ञान तथा सकाम कर्म से अकलुषित होती है।

इन्द्रियतृप्ति के लिए सामूहिक आन्दोलन की अपेक्षा व्यक्तिगत भौतिक लालसाएँ जगत के लिए कम हानिकारक होती हैं। यदि किसी व्यक्ति की भौतिक इच्छाएँ अपूर्ण रहती हैं तो वह निश्चय ही अवसादग्रस्त होता है किन्तु जब जनसमूह असंतुष्ट रहता है तो काफी बड़ी मुसीबत

होती है और उससे सामाजिक संघर्ष उत्पन्न होता है। प्रत्येक दशा में संसारी आकांक्षाओं से व्यक्तिगत या सामूहिक दोनों ही प्रकार के कष्ट उत्पन्न होते हैं। यदि कोई अपने कर्मों के फलों को भोगना न भी चाहे तो एक बार जब फल आ जाते हैं तो वह उनको भोगने के लिए बाध्य हो जाता है क्योंकि वह तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो—के द्वारा प्रभावित होकर अपने को कर्ता मानता है। ये फल चिन्ता, बन्धन, हताशा तथा विनाश के कटु बीजों से रहित नहीं होते। इसलिए न तो सामाजिक उत्तरदायित्व, न ही परोपकारी कार्य अन्तत: सद्कर्म हैं। तीन गुणों से परे भगवद्भक्ति को ही एकमात्र सद्कर्म स्वीकार करना चाहिए।

नेक अर्जुन ने भलीभाँति तर्क-वितर्क किया कि क्या अच्छा है और क्या बुरा, उसका क्या कर्तव्य है और क्या नहीं और उसने युद्ध करने के लिए हथियार न उठाने का निश्चय किया। तब कृष्ण ने यह समझते हुए कि अर्जुन आत्मतृप्तिकारी सामाजिक उद्वेगों तथा स्वार्थों मात्र से प्रेरित है, दो प्रकार के उपदेश दिये—एक में वह विधि थी जिससे बद्धजीव मुक्ति प्राप्त करता है और दूसरे से अर्जुन को यह शिक्षा दी कि मुक्तात्मा किस तरह भगवान् की शरण ग्रहण करके शुद्ध भक्ति कर सकता है। *भगवद्गीता* जैसे प्रामाणिक शास्त्रों में भगवान् द्वारा या स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों द्वारा दी गई दिव्य शिक्षाएँ दी हुई हैं। ये शास्त्र चार प्रकार की मानवीय दुर्बलताओं से रहित हैं। ये हैं—मोह, त्रुटि, सीमित इन्द्रिय तथा ठगने की प्रवृत्ति। इस तरह शास्त्रीय आदेश अपूर्ण व्यक्तियों द्वारा उन्हें तोड़ने-मरोड़ने के बचकाने प्रयासों के बावजूद पुरातन रहते आये हैं। ऐसे शास्त्रीय आदेश न केवल आत्मसंयम तथा चेतना के उन्नयन की ही शिक्षा देते हैं अपितु वे मिथ्या अभिमान से छुटकारा पाने, सतोगुणी अवस्था तक

हमें ले जाने तथा हमें चरम मुक्ति प्रदान करने में सहायता करते हैं।

वेद किसी भी त्रुटि या दोष से भ्रष्ट हुए बिना, विश्व के सबसे प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ माने जा रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति को इनके आदेशों के साथ साथ वैदिक वाङ्मय के अन्य ग्रन्थों में निहित उपदेशों का पालन करने का अधिकार है। वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत श्रुतियाँ (*वेद तथा उपनिषद्*) एवं स्मृतियाँ (*वेदान्त-सूत्र, पुराण, तथा रामायण, महाभारत जैसे इतिहास ग्रन्थ तथा पञ्चरात्र एवं श्रीमद्भागवत*) आती हैं। *श्रीमद्भागवत* तो *वेदान्त-सूत्र* की प्राकृतिक टीका है और जीवन का पूर्णरूपेण किस तरह संचालन किया जाय, इसकी ठोस शिक्षा देता है। अर्वाचीन युग में स्मृतियाँ प्रधान हो गई हैं और इन्होंने मानव विचार तथा कर्म को प्रभावित किया है। ये सारे शास्त्र चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाली वर्णाश्रम प्रणाली का पूरा पूरा समर्थन करते हैं। किन्तु आज जिसे वर्णाश्रम कहा जा रहा है वह शास्त्रों से बिल्कुल प्रमाणित नहीं है और नास्तिक विचारधारा है। असली वर्णाश्रम जन्म पर नहीं अपितु मनुष्य के गुणों तथा कर्मों पर आधारित है। आज की आसुरी जाति-प्रणाली का पालन करके शास्त्रों के उद्देश्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। एकमात्र दैवी वर्णाश्रम के प्रचलन से शास्त्रों का उद्देश्य पूरा होगा। इससे मानवता मुक्ति की ओर अग्रसर होगी।

स्वार्थमय उद्देश्यों तथा वंचक मनोवृति के द्वारा शानदार शास्त्रीय आदेशों के वास्तविक सारांश के साथ समझौता करना कठिन नहीं है। जब ऐसा होता है तो लोग दिखावटी धार्मिकता, भौतिक लाभ, इन्द्रियभोग तथा निर्विशेष मुक्ति की आकांक्षा करते हैं। दूसरी ओर, शास्त्रीय आदेशों का निष्ठा से पालन करने पर जीवन में चतुर्दिक्

सफलता प्राप्त होती है।

मुक्ति की दिशा में प्रारम्भिक डग भरना ही पर्याप्त नहीं। हमें इसी जीवन-काल में अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह अनिवार्य है कि हम वेदों तथा वैदिक वाङ्मय में पटु गुरु के पास जायँ और उससे शिक्षा ग्रहण करें कि शास्त्रीय नियमों का पालन किस तरह किया जाय। ये नियम बद्धात्माओं के लिए होते हैं, उन मुक्तात्माओं के लिए नहीं जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों की पूर्ण शरण ले रखी है। ये शास्त्रों के विधि-विधानों को पार कर चुके होते हैं और *परमहंस* कहे जा सकते हैं।

भगवद्गीता में (३.२७) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

"जीवात्मा अहंकार के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर अपने आपको समस्त कर्मों का कर्ता मान बैठता है जबकि वास्तव में वे प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा सम्पन्न किये जाते है।"

किसी भी कार्य में सफलता पाँच अनिवार्य कारकों पर निर्भर करती है। ये हैं—स्थान, कर्ता, उपकरण या इन्द्रियाँ, प्रयास तथा भगवान् की स्वीकृति। इनमें से भगवान् का आशीर्वाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह स्वीकृति भगवान् द्वारा अपनी भौतिक शक्ति पर अनुकूल निरीक्षण द्वारा पूरी की जाती है क्योंकि परमेश्वर की इच्छा से ही प्रकृति कार्य करती है। भौतिक प्रकृति मनुष्य की चेतना के अनुसार कार्य करती है; जब जीव प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव में रहता है तो उसके सारे कार्य भगवान् की बहिरंगा शक्ति यानी प्रकृति द्वारा

संचालित होते हैं। किन्तु जब वह दिव्य चेतना—शुद्ध सत्त्व दशा—को प्राप्त हुआ रहता है तो उसके कार्य भगवान् की अन्तरंगा आध्यात्मिक शक्ति द्वारा संचालित होते हैं। जीव चाहे तो भगवान् की बहिरंगा शक्ति या फिर अन्तरंगा शक्ति के द्वारा अपने कार्यों को संचालित किए जाने का चुनाव कर सकता है। यह जीव की अल्प स्वतन्त्रता की परिधि है।

जिस क्षण आत्मा भगवान् के चरणकमलों पर पूर्णतया आत्मसमर्पण कर देता है और उनकी प्रेमा-भक्ति में लगे रहने के लिए प्रार्थना करता है, उसी क्षण वह कर्मफलों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में वह इस शास्त्रीय आदेश—*जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्य-दास*—(आत्मा अपने आदि आध्यात्मिक स्वरूप में कृष्ण का नित्य दास है) की सच्चाई को प्रमाणित करता है। इस पद के कारण आत्मा को प्रभूत आनन्द प्राप्त होता है। कृष्ण के नित्य दास की समता कृष्ण की बहिरंगा शक्ति माया के दास से करना ठीक नहीं है। दूसरे शब्दों में, पदार्थ के ऊपर प्रभुत्व जताने से शक्ति तथा आनन्द की भावनाओं की प्राप्ति भगवान् की सेवा से अनुभव किये जाने वाले आनन्द की तुलना में तुच्छ है। यहाँ तक कि आठ प्रकार की योगसिद्धियाँ भी कृष्ण के नित्य दास होने के आनन्द की तुलना में तुच्छ हैं। और इस दशा को पाने का एकमात्र उपाय है शरणागति। अन्य किसी कृत्रिम विधि को व्यवहृत नहीं किया जा सकता। शुद्ध कृष्णचेतना की जागृति, जो कि जीव की सिद्धि है, एकमात्र भगवान् की शरण ग्रहण करने से प्राप्त की जा सकती है, जिसकी लालसा जीव में शाश्वत रूप में निहित रहती है। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने *चैतन्य चरितामृत* में (मध्य २२.१०७) कहा है—

नित्य-सिद्ध-कृष्ण-प्रेम 'साध्य' कभु नय
श्रवणादि-शुद्ध-चित्ते करये उदय॥

"कृष्ण के प्रति शुद्ध प्रेम जीवों के हृदयों में शाश्वत रूप में स्थापित रहता है। यह ऐसी वस्तु नहीं जिसे अन्य साधन से प्राप्त किया जाय। जब श्रवण तथा कीर्तन से हृदय शुद्ध हो जाता है तो जीव स्वत: जाग जाता है।"

भगवद्गीता में (१८.६१) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और भौतिक शक्ति से निर्मित यन्त्र में सवार की तरह बैठे समस्त जीवों को अपनी माया से घुमा रहे हैं।"

भगवान् अपनी अचिन्त्य परा शक्ति से जन जन के हृदय में उपस्थित हैं। वे तीन गुणों से युक्त अपनी भौतिक शक्ति के द्वारा जीवों की गतिविधियों का भी निर्देशन करते हैं। जीवों को भौतिक शरीर में स्थापित करके भगवान् उनके घूमने पर नियन्त्रण रखते हैं। जो जीव भगवान् की शरण ग्रहण कर लेते हैं उनकी बुद्धि भक्ति में स्थिर हो जाती है जिससे वे फिर कभी संसारी कार्यों के प्रति आकृष्ट नहीं होते। वे तीनों गुणों को लाँघ कर तीनों गुणों के संसार के भीतर ही सारे कार्यों को शान्त भाव से सम्पन्न करते हैं।

भक्ति की प्रारम्भिक अवस्थाओं में मनुष्य पाप तथा पुण्यकर्मों के फलों के प्रति सशंकित हो सकता है। यह सब पुरानी आदतों के कारण होता है। किन्तु यदि कोई पूर्णरूपेण भगवान् की शरण

ग्रहण करता है तो वे स्वयं समस्त पुण्य तथा पापपूर्ण कर्मों के फलों को भस्मीभूत कर देते हैं। *श्रीमद्भागवत* में (२.७.४२) कहा गया है—

येषां स एष भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये॥

"किन्तु जो कोई भी भगवान् की सेवा में शुद्ध शरणागति के कारण भगवान् का विशेष कृपापात्र होता है वह माया के दुर्लंघ्य सागर को पार कर सकता है और भगवान् को समझ सकता है। किन्तु जो लोग इस शरीर के प्रति अनुरक्त होते है, जो कि अन्त में कुत्तों तथा सियारों द्वारा खाये जाने के लिये बना है, वे ऐसा नहीं कर सकते।"

भगवान् कृष्ण *गीता* के इन शब्दों (९.३१)—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति*—अर्थात् हे कुन्ती पुत्र! तुम निडर होकर घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होता—के द्वारा सभी जीवों को प्रोत्साहित करते हैं। यहाँ पर कृष्ण स्पष्टतः हमारे सारे भय को दूर करना चाहते हैं। कोई भी व्यक्ति भगवान् के यथार्थ रूप को उनकी कृपा से ही समझ सकता है और यही कृपा उसे द्वितीय श्रेणी के भक्त से प्रथम श्रेणी के शुद्ध भक्त तक ऊपर उठा सकती है। *श्रीमद्भागवत* में (१०.१४.२९) कहा गया है—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

"हे प्रभु! यदि किसी को आपके चरणकमलों की रंचभर भी कृपा प्राप्त होती है तो वह आपकी महानता को समझ सकता है किन्तु जो लोग भगवान् को समझने के लिए चिन्तन करते हैं वे अनेक वर्षों तक वेदों का अध्ययन करते रहने पर भी आपको नहीं समझ पाते।"

पूर्णरूपेण शरणागत भक्त न केवल दिव्य पद पर स्थित होता है अपितु वह इस भौतिक प्रकृति को तीन गुणों से अकलुषित भी देखता है। तब वह इन भौतिक गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—को भगवान् की सेवा में लगाता है। उदाहरणार्थ, वह अपने क्रोध का उपयोग भगवान् के भक्तों के दुश्मनों को प्रताड़ित करने में करता है।

भगवद्गीता में (१४.२६) भगवान् कृष्ण कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो समस्त परिस्थितियों में अविरत भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।"

ऐसा शुद्ध भक्त भौतिक सतो गुण को भगवान् के शारीरिक तेज के रूप में देखता है। तमोगुण उसे शान्ति तथा समता में रूपान्तरित दिखता है। वह रजोगुण के फल कामवासना का उपयोग परम सुन्दर भगवान् से प्रेम करने तथा सेवा करने में करता है। वह इसका ध्यान करता है कि परमेश्वर की सेवा कैसे की जाय और तब वह उत्साह तथा धैर्य के साथ सभी प्रकार की भक्ति करता है। भक्ति के शान्त रस में ऐसा भक्तिमय उत्साह अनुपस्थित हो सकता है किन्तु चूँकि

ऐसा भक्तिभाव भगवान् के प्रेम को आकर्षित करता है इसलिए वह पूर्णरूपेण आध्यात्मिक है।

ध्यान के लिए एक अन्य विचार प्रस्तुत है—भगवान् असीम हैं और उनके प्रति की गई कोई भी सेवा असीम है क्योंकि ऐसी सेवा के पीछे जो सक्रिय शक्ति कार्य करती है वह भगवान् की असीम शक्ति है। जब यह अतिदैवी शक्ति हममें आश्रय पाती है तो हमारे सारे विचार तथा भावनाएँ, हमारा शरीर, हमारा मन, हमारा ज्ञान आदि इसके द्वारा ऊर्जस्वित होते हैं। तब प्रत्येक प्रयास शक्ति के इस प्रवाह में जाकर मिल जाता है और हम कीचड़ में उगे कमल की भाँति बन जाते हैं—इसी जगत में किन्तु इसके द्वारा अकलुषित। इस तरह से अद्वैत सिद्धान्त जीवित हो जाता है—हमारा मन, हृदय, चेतना तथा कार्यकलाप परम सत्य परमेश्वर से अभिन्न हो जाते हैं। हम अपने को भगवान् की सम्पत्ति, उनके चरणकमलों पर शरणागत, उनके शुद्ध नित्य दासों के रूप में मानते हैं। हम शान्त मन से भगवान् की सेवा करने में निरन्तर आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करते हैं और समस्त मानसिक चिन्तन तथा भौतिक इच्छाओं को त्याग देते हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* में (३.३०) में शरणागति की विधि का वर्णन इस प्रकार किया है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

"अतः हे अर्जुन! अपने सारे कार्यों को मुझे समर्पित करके, मेरे पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर, लाभ की आकांक्षा से रहित, स्वामित्व के किसी दावे के बिना, तथा आलस्य से रहित होकर युद्ध करो।"

ऐसी शरणागति पाने के लिए मनुष्यों को स्वार्थमयी इच्छाओं से

मुक्त, द्वित्वों से अप्रभावित तथा समस्त मिथ्या प्रतिष्ठा से रहित होना चाहिए। द्वित्व तो मिथ्या अहंकार से उत्पन्न होते हैं जोकि शरणागति का घोर शत्रु है। जो व्यक्ति मिथ्या अहंकार के साथ साथ द्वित्व के प्रभावों को भी लाँघ जाता है वह आसानी से भौतिक इच्छाओं से छुटकारा पा लेता है और तब वह घृणा, लोभ, क्रोध, भय आदि को नष्ट कर देता है। भगवान् की पूर्ण शरणागति की अवस्था में संसारी इच्छा तथा ईर्ष्या के साथ साथ भूख-प्यास, उष्णता तथा शीत, हर्ष तथा शोक, लाभ तथा हानि, पाप तथा पुण्य, आदर तथा अनादर जैसे द्वन्द्व परमेश्वर के सम्पर्क में आने से आध्यात्मिक शक्ति में परिणत हो जाते हैं। ऐसे सन्त आनन्दमय पुरुष जो काम तथा ईर्ष्या जैसे अवांछित गुणों से रहित हैं, विशेष रूप से भारत में पाये जाते हैं। द्वित्व, मोह आदि को तभी जीता जा सकता है जब भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन के पद पर आध्यात्मिक उत्थान हो सके और हर वस्तु उनसे सम्बन्धित देखी जा सके। चेतना की इस अवस्था को पाने का एकमात्र उपाय बुद्धियोग है।

भगवद्भक्त में ऐसी दृष्टि आसानी से विकसित होती है। इसके विपरीत ज्ञानी, सकाम कर्मी तथा निपट भौतिकतावादी लोग इस अवस्था को शायद ही प्राप्त हो सकें। भक्तगण भगवान् द्वारा आध्यात्मिक अनुभूति विकसित करने के लिए प्रोत्साहित किये जाते हैं, फलतः सारे द्वित्व मिट जाते हैं। ऐसी दशा उनकी भक्तिमयी शरणागति तथा भगवत्प्रेम का अन्तिम परिणाम होती है। *भगवद्गीता* में (१८.५४) भगवान् कृष्ण ऐसी दैवी चेतना की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन करते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"इस प्रकार जो दिव्य पद पर स्थित है, वह तुरन्त परब्रह्म का अनुभव करता है और पूर्णतया प्रसन्न हो जाता है। वह न तो कभी शोक करता है न किसी वस्तु की कामना करता है। वह प्रत्येक जीव पर समभाव रखता है। इस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति को प्राप्त करता है।"

जब जीव इस भौतिक जगत को "मैं" और "मेरा" नामक रंगीन काँच के बीच में से होकर देखता है तो वह अज्ञान, द्वित्व तथा मोह की रस्सियों से बँध जाता है। ऐसे मिथ्या अहंकार तथा दूषित चेतना को समाप्त करने के लिए बुद्धियोग का अनुकरण करना चाहिए क्योंकि यह तीनों गुणों (सतो, रजो तथा तमो) से कलुषित नहीं होता। अन्यथा पराचेतना प्राप्त होने वाली नहीं है।

शुद्ध सत्व की अवस्था की निशानी है ब्रह्म का शुद्ध ज्ञान। किन्तु जब यह ज्ञान भौतिक जगत में विकृत रूप में प्रतिबिम्बित होता है तो यह संसारी तथा आनुभविक बन जाता है और जीव द्वित्व के विवर्त में गिर जाता है जिससे वह बद्ध हो जाता है। रजोगुण से आसक्ति, इन्द्रियतृप्ति और भौतिक इच्छाएँ बढ़ती हैं और जीव सकाम कर्मों में फँस जाता है। तमोगुण मोह को बढ़ावा देता है और जीव की बुद्धि को ढक लेता है। तब वह निम्नतम चेतना में चला जाता है और सोने तथा आलस्य में अपना समय बिताता है। भौतिक सतोगुण भी जीव को परब्रह्म से विमुख करता है और उसे बद्ध बनाता है। रजोगुण की वृद्धि के साथ ही सतो तथा तमो गुण घटते हैं। जब सतोगुण में वृद्धि होती है तो रजो तथा तमो गुण घटते हैं। इस तरह भौतिक गुण विभिन्न अंशों में घटते-बढ़ते रहते हैं। सतो गुण से संसारी ज्ञान तथा उच्च भौतिक चेतना को प्रोत्साहन मिलता है। रजोगुण कार्य करने की अथक शक्ति तथा फल

के लिए अतृप्त इच्छा उत्पन्न करता है और तमोगुण जीव को अविद्या, आलस्य, निद्रा तथा मोह में ले जाता है। सतोगुणी जीव और अधिक उच्चतर चेतना को प्राप्त होता है। रजोगुणी जीव मध्यम अवस्था में लटका रहता है और तमोगुणी भ्रष्टाचार के गर्त में चला जाता है।

इसलिए यह उत्थान का विपदामय पथ है जो प्रकृति के तीन गुणों की सीमा के अन्तर्गत निजी गुणों पर निर्भर करता है। इन तीनों गुणों को लाँघे बिना मनुष्य अपने को इनके पाश में जकड़ा हुआ पाता है और इस तरह मोहित होकर वह यह सोचता है कि उसके सारे कार्य दैवी इच्छा से प्रेरित हैं। तब वह अपने को बढ़ा-चढ़ा तथा अन्यों को निकृष्ट भक्त मानते हुए इस मिथ्या धारणा का प्रचार करता है। अपने ही ज्ञान से प्रभावित वह इस ज्ञान के बल पर ईश्वर का दर्शन करना चाहता है बजाय इसके कि वह इस तरह कर्म करे कि ईश्वर उसे देखना चाहे। मिथ्या अहंकार के नशे में आकर वह रजोगुण द्वारा प्रेरित अपने कार्यों को दैवी मानने लगता है। जो लोग अपने ज्ञान पर गर्वित हैं वे भगवान् की शरण में नहीं जाते। उल्टे वे अनुमान-विधि से भगवान् की कृपा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और इस तरह वे घृणित मनोवृत्ति प्रदर्शित करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् का निरन्तर स्मरण करे और उनकी कृपा पाने के लिए उनसे प्रार्थना करे।

भक्त के हृदय में स्थित भगवान् ऐसी प्रार्थना सुनते हैं और उसके हृदय को ज्ञान से आलोकित करते हैं जो अज्ञान के अन्धकार को दूर करता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने शिक्षा दी है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

"मनुष्य को चाहिए कि अपने को मार्ग के तिनके से भी तुच्छ मानकर भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन विनीत भाव से करे। उसे वृक्ष से भी अधिक सहनशील, मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव से रहित होना चाहिए तथा अन्यों को आदर प्रदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसी मानसिक दशा में मनुष्य भगवन्नाम का निरन्तर कीर्तन कर सकता है।"

प्रायः लोग इस श्लोक के दिव्य संदेश को नहीं समझ पाते। यद्यपि वे तीन गुणों के प्रभाव में आकर कार्य करने के लिए बाध्य होते हैं किन्तु वे दीनता का दिखावा निर्बल, नीच तथा कौड़ीरहित भिक्षुकों के रूप में करते हैं। इस तरह का ठगी का भाव अवांछनीय है। *अहं ब्रह्मास्मि* (मैं ब्रह्म हूँ) इस वैदिक कथन की सच्चाई को जानना दीनता का एक अर्थ है। इस शिक्षा का सार है यह समझना कि पदार्थ तथा आत्मा एक दूसरे के विरोधी हैं। जब हम भगवान् की भक्ति से प्रोत्साहित होते हैं तो हमारी आदि पहचान हममें प्रकट होने लगती है और अन्ततः हमें ईशसाक्षात्कार तक ले जाती है। भक्तगण ऐसे भौतिकतावादी लोगों को भक्ति ग्रहण करने के लिए प्रेरित करने में अत्यधिक श्रम करते हैं, साथ ही इस बात का ख्याल रखते हैं कि उनके मन विचलित न हों। ऐसे आध्यात्मिक प्रयासों को भूलकर भी कर्मियों, ज्ञानियों या इन्द्रियतृप्तिकर्ताओं के संसारी प्रयासों जैसा नहीं समझना चाहिए। *गीता* में (३.२४) भगवान् कहते हैं—*उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्यां कर्म चेदहम्*—यदि मैं नियम-कर्म न करूँ तो ये सारे लोग विनष्ट हो जाएं।

जो लोग भगवान् के दिव्य आदेशों को पूरा करने के लिए उत्साहित नहीं हैं वे स्वतः रजोगुण द्वारा व्यर्थ कर्म करने के लिए बाध्य होंगे और यह वास्तव में निष्क्रियता की दशा है। अर्जुन ने कृष्ण से ऐसे व्यक्ति के लक्षण तथा आचरण के विषय में पूछा जो भौतिक गुणों को लाँघ चुका हो। इस प्रश्न पर भगवान् ने जो उत्तर दिया उसका सार *गीता* के निम्नलिखित श्लोकों में (१४.२६-२७) पाया जाता है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

"जो समस्त परिस्थितियों में एकाग्र भाव से पूर्ण भक्ति में प्रवृत्त होता है वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और इस प्रकार ब्रह्मपद तक पहुँच जाता है। और मैं ही उस निराकार ब्रह्म का आश्रय हूँ जो अमर्त्य, अविनाशी और शाश्वत है और चरम सुख का स्वाभाविक पद है।"

भक्तियोग को तीन अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है—(१) भक्ति करने के लिए उपयुक्त वस्तुओं को स्वीकार करके पूर्ण शरणागति की दिशा में पहला डग भरना (२) अपने असली स्वभाव को जानने के बाद परमेश्वर की सेवा करना (३) उच्च अवस्था पर स्थित होना जिसमें मनुष्य भगवान् को हर वस्तु में और हर वस्तु को भगवान् में देखता है। इस तरह से प्रारम्भिक श्रद्धा बढ़ती है और वह भगवान् के प्रति पूर्ण शरणागति तक ले जाती है।

मनुष्य यदि भक्ति के लिए पोषक वस्तुओं को ही स्वीकार करने

का संकल्प कर लेता है, तो भगवान् की अन्तरंगा शक्ति उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता करती है। हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि भगवान् का निरन्तर स्मरण करें और हर वस्तु में उनकी स्वीकृति की प्रार्थना करें। हम कृष्णभावनामृत में दृढ़तापूर्वक स्थित गुरु से जो आदेश प्राप्त करते हैं वे हमें भगवान् के श्रवण-कीर्तन तथा निरन्तर स्मरण की भक्ति की विधियों में लगने में और सहायता पहुँचाते हैं। यदि हम ईश्वर-स्मरण और उनकी इच्छा से प्रेरित होते हैं, तब हम गलत दिशा में कभी नहीं जाएंगे। हम इस मोहमयी भौतिक शक्ति के भयावह व्यामोह द्वारा निरुत्साहित नहीं होंगे। एकाग्र संकल्प के साथ गुरु के आदेशों का पालन करने से हम भगवान् की सेवा करने में अविचल रहेंगे और तीव्र प्रगति करेंगे।

वैधी भक्ति की अवस्था में जो शरणागति का भाव होता है वह रागानुगा भक्ति की अवस्था से भिन्न होता है। रागानुगा भक्ति में शरणागति का भाव स्वाभाविक आत्माभिव्यक्ति होता है। शरणागति-प्रक्रिया का क्रमशः पालन करने पर मनुष्य धैर्यपूर्वक भगवान् के आदेशों को पूरा करता है और धीरे धीरे उसमें उत्साह जग जाता है। ऐसा भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि विधिविधानों का पालन करता है और पूर्ववर्ती-सन्त उपदेशकों का अनुकरण करता है। भक्तों की संगति में वह भक्ति करने में अधिकाधिक दक्ष बन जाता है। धीरे धीरे उसकी सेवा आसान बनती जाती है। इस तरह भक्तिकार्यों में उत्साह तथा धैर्य उत्पन्न करने से ही भगवान् का निरन्तर स्मरण हो सकता है।

विस्मरणशीलता के कारण ही मनुष्य योगपथ से विचलित होता है। भक्ति में ऐसी आशंका नहीं होती क्योंकि भगवान् सदैव भक्तियोगी की रक्षा करते हैं। यहाँ तक कि यदि भक्तियोगी पतित होता है

तो वह भगवान् से बल प्राप्त करके पुनः अपना पूर्व पद प्राप्त कर सकता है। भगवान् का स्मरण करने के कारण उसके मार्ग के सारे अवरोध दूर हो जाते हैं। अतएव शरणागति की प्रक्रिया से योग की असली सिद्धि प्राप्त होती है। यह सबसे सुगम तथा सबसे सीधा मार्ग है।

सनत्-सुजातीय नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि योगाभ्यास में सिद्धि पाने के लिए चार बातों की आवश्यकता पड़ती है (१) शास्त्र (२) उत्साह (३) प्रामाणिक गुरु (४) पर्याप्त समय। इस पुस्तक में वर्णित शरणागति के मार्ग की शास्त्रों में संस्तुति की गई है। उत्साह का अर्थ है निरन्तर भगवान् का स्मरण करना और उनकी कृपा के लिए प्रार्थना करना। शरणागत भक्त के हृदय में जो गुरु रहता है वह साक्षात् भगवान् है। वे प्रिय दीक्षा-गुरु तथा शिक्षा-गुरुओं के रूप में प्रकट होते हैं। भगवान् ही हृदय में गुरु की भूमिका निभाते हुए हमें बुद्धियोग या दैवीचेतना से प्रकाशित करते हैं और यह चेतना हमें भगवान् को यथारूप में समझने में सहायक होती है।

ऋषि-मुनि कहते हैं कि जब हम भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं तो हम स्पष्ट देखेंगे कि वे छोटी छोटी बातों के लिए भी हमारे लिए स्वयं किस तरह व्यवस्था करते हैं। तब हम आसानी से देख सकेंगे कि वे अपनी सर्वशक्तिमान परम बुद्धि से किस तरह प्रेमवश हमारी सहायता कर रहे हैं। अतः और आगे चिन्तन में समय गँवाने से कोई लाभ नहीं होगा। हमें मोह भगाना होगा और समदर्शिता तथा रागानुगता उत्पन्न करनी होगी तथा भक्तियोग का अभ्यास करना होगा। तब कोई परम प्रबल शक्ति हमारे भौतिक अस्तित्व को क्रमशः आध्यात्मिक अस्तित्व में बदल देगी। लाखों जन्मों से संचित हमारी

भ्रान्तियाँ थोड़े समय में ठीक हो जाएँगी। अतः समयाभाव के कारण हमें चिन्तित नहीं होना चाहिए। अष्टांग योग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि—से तुरत-फुरत परिणाम मिलते हैं और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि कुछ पुष्ट उपलब्धि हो रही है। किन्तु ऐसे प्रयास भले ही किसी को भौतिक दृष्टि से दक्ष बना दें किन्तु तो भी वे मानवीय प्रयास ही होते हैं। ये भगवान् की शक्ति से सम्पन्न होने वाले कार्यों से सर्वथा भिन्न होते हैं। भगवान् की शक्ति प्रायः सूक्ष्म तरीकों से कार्य करती है किन्तु वह हमें अन्त में कहाँ ले जाएगी यह मानव मस्तिष्क के चिन्तन से परे है।

उत्थान की संसारी विधियाँ बुद्धिमान मनुष्यों के मस्तिष्कों द्वारा ही चालू की जाती हैं। वे मानवनिर्मित नहरों के समान हैं जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक यातायात के लिए उपयोगी हैं अन्यथा उनका उपयोग सीमित होता है। मानवीय प्रयास अपूर्ण हैं इसलिए हम इस भौतिक जगत में ही पड़े रहते हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* में (८.१६) कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

"इस जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम सारे लोक दुखों के घर हैं जहाँ जन्म तथा मरण का चक्कर लगा रहता है। किन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है वह फिर कभी जन्म नहीं लेता।"

भगवान् की शक्ति अथाह सागर के समान है जो सभी परिस्थितियों में अक्षुब्ध रहता है। यह तटरहित, आदि-अन्त से रहित है। इसलिए इस शक्ति से जो विधि प्रत्यक्ष रीति से प्रकट होती है वह सर्व-शक्तिमान

है और वह मनुष्य को किसी भी ऊँचाई या स्तर तक ले जा सकती है। समुद्र यात्रा के लिए नाव, नाविक, पतवार तथा अनुकूल हवा की आवश्यकता पड़ती है। हमें यह ठीक से समझ लेना चाहिए कि यह मानव शरीर अज्ञान रूपी सागर को पार करने में सर्वोपयुक्त नाव है, गुरु सर्वोत्तम नाविक है, शास्त्र पतवार हैं और भगवान् की कृपा अनुकूल हवा है। यदि हम इस उत्तम व्यवस्था का लाभ नहीं उठाते और अज्ञान रूपी भौतिक सागर को पार नहीं करते तो हम अपने आपके ही सबसे बुरे शत्रु हैं। हमें भगवान् की कृपा रूपी अनुकूल हवा पर अपना ध्यान स्थिर रखना चाहिए। यह कृपा गुरु के रूप में अवतरित होती है। अतः मनुष्य को चाहिए कि गुरु के पास जाए, उसके चरणकमलों की शरण ग्रहण करे और उससे भक्तियोग सीखे। उपनिषदों का भी यही आदेश है - *तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।*

सन्त स्वभाव वाले शुद्ध भक्त, गुरु तथा शास्त्र सभी एक ही परब्रह्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। सारे शुद्ध भक्त वस्तुतः गुरु हैं क्योंकि वे शास्त्रों में स्थापित नियमों से कभी हिलते, डुलते नहीं; वे शास्त्रों के चश्मे के भीतर से ही देखते हैं। सन्त भक्तों, गुरु तथा शास्त्रों—इन तीन प्रधान सिद्धान्तों के प्रमाण के बिना आध्यात्मिक कार्य सम्पन्न करना असम्भव है। आध्यात्मिक परम्परा तथा शास्त्रों का खण्डन करने की पाश्चात्य मनोवृत्ति का कस कर विरोध होना चाहिए। ऐसी मनोवृत्ति चिन्तन तथा मनगढंत तर्क पर आधारित संसारी दर्शनों को आदर देती है क्योंकि वह इनको श्रेष्ठ बुद्धि का लक्षण मानती है। ऐसे दर्शनों के समर्थकों के पास जो एकमात्र हथियार होता है वह है संसारी तर्क किन्तु प्रायः इस कला में भी पटुता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ बतलाती हैं कि विषय में गहराई तक गये बिना ये पाश्चात्य लोग व्यर्थ ही प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अर्थों

पर अनन्त काल तक वाद-विवाद चलाते हैं। इनमें से प्रत्येक कुतर्की निश्चित रूप से यह अनुभव करता है कि एक न एक दिन उसे अपने से बड़े कुतर्की से मात खानी होगी क्योंकि कोई न कोई अधिक बुद्धिमान व्यक्ति सदा ही होता है। इसलिए वाद-विवाद से काम नहीं सरता।

लोगों को कुछ प्रचलित वाक्यांशों द्वारा दर्शन के विषय में प्रभावित करने तथा ब्रह्म-ज्ञान के विषय में निष्ठावान् खोज—इन दोनों के बीच एक चौड़ी खाई है। चिन्तन द्वारा परब्रह्म विषयक अचिन्त्य विषयों की थाह पाना असम्भव है क्योंकि उन्हें केवल भक्तियोग द्वारा ही समझा जा सकता है। श्रील रूप गोस्वामी ने महाभारत से उद्धरण देते हुए *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में लिखा है—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

"भौतिक प्रकृति से परे कोई भी वस्तु अचिन्त्य है अतएव उसे संसारी तर्कों के द्वारा पकड़ में नहीं लाया जा सकता। अतः मनुष्य को चाहिए कि दिव्य विषयों को इस भाँति समझने का प्रयास न करे।"

परमेश्वर की कृपा के बिना ऐसे गोपनीय विषय अनेक वर्षों तक शोध करने पर भी अगम्य बने रहते हैं। ऐन्द्रिय जगत के परे अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म अनुभूतियाँ हैं जिन्हें ठीक से समझने की आवश्यकता है। किन्तु वे तभी ठीक से समझी जा सकती हैं जब उनका सम्बन्ध अचिन्त्य, दिव्य परम सत्य (परब्रह्म) के साथ देखा जाये। इस सम्बन्ध को देखे बिना इन सूक्ष्म अनुभूतियों पर विचार-विमर्श अनाज पाने के लिए भूसे को पीटने जैसा होगा। जो मात्र व्यर्थ का परिश्रम है जिससे

निराशा और कष्ट ही हाथ लगेंगे ऐसे खोखले कुतर्क से भले ही लौकिक पाण्डित्य झलके किन्तु इससे आध्यात्मिक प्रगति करने में सहायता नहीं मिलेगी। ऐसे शुष्क वाद-विवाद से तो व्यवधान ही उत्पन्न होते हैं अतः इनसे बचना ही बेहतर होगा।

इसकी जोरदार संस्तुति की जाती है कि शास्त्रीय आदेशों के अनुसार कार्य करने वाले आध्यात्मिक दिग्गजों तथा महात्माओं और गुरुओं द्वारा दिये गये आध्यात्मिक निर्देशों के अनुसार कार्य करने वालों के पदचिन्हों का अनुसरण किया जाय। अनेक प्रश्न करने तथा शंकाएँ उठाने से कोई लाभ नहीं। *भगवद्गीता* में (४.३४) भगवान् कहते हैं—*तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया*—गुरु के पास जाकर सत्य समझने का प्रयास करो। उससे विनयपूर्वक प्रश्न करो और उसकी सेवा करो। वेदों के अनुसार बताई गई इस विधि का अनुसरण करने से अचिन्त्य सत्य का हमें साक्षात्कार होगा। एक बार इस मार्ग पर आ जाने पर हममें अनेक अनुभूतियाँ उत्पन्न होंगी और आगे प्रगति करने के लिए यह अनिवार्य है कि हम उनका पालन करें। पहले जो ज्ञान का मन्द प्रकाश प्रकट होगा वह पूर्ण प्रकाश की ओर ले जाएगा किन्तु हमें धैर्य धारण करना होगा। अचिन्त्य सत्य की प्रारम्भिक अनुभूति होने से हमें अपने मनों में गर्व को प्रवेश नहीं करने देना होगा प्रत्युत हमें गुरु या शुद्ध भक्त के पास उत्सुकतापूर्वक जाकर यह पूछना चाहिए कि अब आगे कैसे बढ़ा जाय। हमें अपने मन से यह तंग-दिली और धर्मान्ध का भाव निकाल फेंकना होगा कि जानने के लिए आगे कुछ नहीं है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हृदय में वास करने वाले परम गुरु की कृपा पर सदैव आश्रित रहना चाहिए।

अर्वाचीन काल में हमने दो शब्दों का बड़ा जोर-शोर सुना

है—मायावाद तथा अद्वैतवाद। इनके विषय कुछ शब्द लिखना उचित होगा। श्रीपाद शंकराचार्य ब्राह्मण थे जिन्होंने निर्विशेषवाद दर्शन का प्रचार किया। किन्तु यदि वे अपने सिद्धान्त को उस रूप में सुनते जिस रूप में उसका पक्ष आज लिया जा रहा है, जिसमें अब्राह्मण पाश्चात्य तर्क तथा संसारी संकल्पनाओं की भरमार है तो वे हक्का-बक्का रह जाते। श्रीपाद शंकराचार्य ने आदर्श ब्रह्म आचरण की शिक्षा दी और उसका प्रदर्शन किया। उन्होंने अकाट्य तर्क प्रस्तुत किये जिन्होंने भौतिकतावादी विचारों का खण्डन किया। इतना ही नहीं, उनका पाण्डित्य, अनुभूति तथा वैराग्य अत्यन्त उच्च स्तर के थे। इतने पर भी जब उनके तथाकथित अनुयायी उनके दर्शन को हल्का बनाते तथा क्षत-विक्षत करते हैं तो हमें रोने के साथ साथ हँसी भी आती है।

तर्क तथा कुतर्क द्वारा कोई यह कभी नहीं समझ सकता कि परमेश्वर ने इस अनन्त विश्व की रचना कैसे की किन्तु ये आसुरी नास्तिक इन विधियों का इस्तेमाल करने से कभी बाज नहीं आएँगे। भगवान् कृष्ण ने उनकी इस मनोवृत्ति का वर्णन *भगवद्गीता* में (१६.८) *असत्यम् अप्रतिष्ठं ते* कह कर किया है—वे कहते हैं कि यह जगत असत्य है, इसका कोई आधार नहीं है और इसका नियन्त्रक कोई ईश्वर नहीं है। वस्तुतः वह मस्तिष्क भी जो ये बचकाना विचार लाता है, भगवान् की सबसे तुच्छ सृष्टि है। इसलिए ऐसे लघुमस्तिष्कों से यह उम्मीद करना कि वे भगवान् की असामान्य योजनाओं के पीछे छिपे रहस्यों को समझ सकेंगे, व्यर्थ की आशा करना है। श्रील शंकराचार्य ने अपने काल में प्रचलित प्रवृत्तियों का मूल्यांकन कर लिया था और यह निष्कर्ष निकाला था कि अद्वैतवाद या निर्विशेष दर्शन उनके समसामयिकों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त था। किन्तु यह उनका अन्तिम निर्णय न था। उन्होंने यहाँ तक कह डाला *भज गोविन्दं*

मूढमते—अरे मूर्खो! मात्र गोविन्द की पूजा करो। उनके द्वारा प्रयुक्त *भज* से हम यह अर्थ लगाते हैं कि वे चाहते थे कि मनुष्य गोविन्द के नाम, रूप, गुण, लीलाओं आदि की पूजा करें। यहाँ पर जिस अध्यात्म की चर्चा की गई है वह निर्विशेष साक्षात्कार से बहुत दूर है, जो कि अद्वैतवादियों का चरम लक्ष्य है। जो लोग गोविन्द की पूजा करते हैं वे श्री मथुरा में वृन्दावन के भीतर प्रवेश करते हैं जो सर्वोच्च आध्यात्मिक जगत है जहाँ श्री श्री राधा तथा कृष्ण अपनी सारमय लीलाएँ रचाते हैं।

भगवान् एक है फिर भी उसके *प्राभव* अंश तथा *वैभव* अंश होते हैं। भगवान् के कम से कम छह असीम ऐश्वर्य हैं—परम सम्पत्ति, शक्ति, सौन्दर्य, ज्ञान, यश तथा वैराग्य। इन ऐश्वर्यों का पूर्ण वर्णन श्री अनन्त शेष अपने अगणित मुखों से कर पाने में असमर्थ रहते हैं। इसलिए भगवान् को अवर्णनीय, सर्वव्यापक तथा अव्यक्त भी कहा जाता है। उपनिषदों में भगवान् को *असमौर्ध्व* (अद्वय) कहा गया है। हम इस सत्य की स्थापना पहले ही कर चुके हैं। इसी तरह भगवान् कृष्ण स्वयं *भगवद्गीता* में (अध्याय १०) कहते हैं कि वे अश्वत्थ वृक्ष, अग्नि, श्रील व्यासदेव, अर्जुन आदि हैं। इन तथ्यों की भी पूर्णरूपेण पुष्टि की जा चुकी है। भगवान् की परम लीलाओं को किसी 'वाद' द्वारा यथा निर्विशेषवाद या तर्कवाद इन्द्रियानुभववाद से पूरी तरह समझ पाना असम्भव है। एकमात्र भगवत्कृपा से भगवान् की थाह पाई जा सकती है। वही परम पुरुष *भगवद्गीता* में अपने विषय में सत्य का उद्घाटन कृपापूर्वक करते हैं। यह ग्रन्थ समस्त वैदिक शास्त्रों का सार है और समस्त विरोधी वादों का संश्लेषण है। श्रीचैतन्य महाप्रभु अप्रतिम आध्यात्मिक दिग्गज हैं जिन्होंने कृष्ण के प्रति शरणागति का प्रसार किया जो कि *भगवद्गीता* के सभी

उपदेशों का निष्कर्ष है। जो लोग उनके चरणचिन्हों का अनुगमन करते हैं वे असली योगी तथा भक्त हैं।

भगवान् की लीलाएँ शाश्वत हैं। जो इस पर सन्देह करते हैं वे निर्विशेषवादी हैं। जब कोई सीमित साधनों से सर्वशक्तिमान भगवान् की गहराई मापने का प्रयास करता है तो वह निर्विशेष संकल्पना की ओर आकृष्ट होता है। मनुष्य को चाहिए कि इस सर्वभक्षी दर्शन से बचे। जब नारद मुनि ने देखा कि कृष्ण अपने आदि रूप में विस्तार करके अनेक गोपियों के साथ एक ही समय नाच रहे हैं तो उनकी समझ में आया कि कृष्ण प्रत्येक वस्तु के उद्गम श्रीभगवान् हैं। श्रीमती राधारानी सदा ही भगवान् कृष्ण की सेवा तथा पूजा करती रहती हैं; फिर भी वे अपना अनन्त विस्तार करते हैं। जिस तरह एक दीपक अन्य दीपकों को जलाकर अपरिवर्तित रहता है उसी तरह असमौर्ध्व भगवान् अनन्त रूपों में अपना विस्तार कर सकते हैं जिसमें सर्वव्यापक विश्वात्मा भी सम्मिलित है। भगवान् के परम देवत्व का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भगवान् सबों से भिन्न होकर भी उनके समान हैं। यह उनकी अचिन्त्य भेदाभेद शक्ति के कारण है। मनुष्य को किसी शुद्ध भगवद्भक्त से इस दर्शन का श्रवण करना होता है अन्यथा यह समझ पाना असम्भव है कि परब्रह्म पुरुष है या निर्विशेष वस्तु। यदि परमेश्वर सर्वशक्तिमान है तो उसे एक ही समय साकार तथा निराकार (निर्विशेष) होना चाहिए। जो व्यक्ति भगवान् के इन पक्षों में से किसी एक को नहीं मानता वह परमेश्वर की सर्वोच्चता को सीमित करना चाहता है। ऐसे तर्क को "आधी मुर्गी का तर्क" कहा जाता है जिसके अनुसार मूर्ख व्यक्ति मुर्गी के आधे अगले भाग को भोजन दिये बिना मुर्गी के अंडे देने वाले आधे भाग से लाभ उठाना चाहता

है। जिन्हें गुरु तथा परमेश्वर का आशीर्वाद मिला हुआ है वे इस मूर्खतापूर्ण विचार के आरपार देख सकते हैं और व्यर्थ के वाद-विवाद से अपने को दूर रख सकते हैं। शरणागति से क्रमशः भगवान् की अद्भुत महिमाएं प्रकट होती हैं। तुच्छ मानव द्वारा ऐसी कथाओं को समझने के प्रयास से संभ्रांति उत्पन्न होगी। भगवान् भक्त के सेवाभाव तथा शरणागति के अनुपात में ही अपने को प्रकट करते हैं। परब्रह्म को समझने के लिए तर्क तथा वादविवाद अपर्याप्त साधन हैं।

जीवन का लक्ष्य केवल वाद-विवाद या चिन्तन का विषय नहीं है। जीवन का चरम लक्ष्य परम वस्तु भगवान् का साक्षात्कार करना है। बुद्धियोग या कृष्णभावनामृत का अर्थ है भगवान् की सेवा में जुट जाना तथा उनके नाम, गुण, रूप, लीलाओं आदि में मग्न होना। दूसरे शब्दों में, उनकी तुष्टि का साधन बनना है। हमें उनकी आध्यात्मिक शक्ति से आविष्ट होना होता है और इस तरह शक्त्याविष्ट होकर उनकी दिव्य महिमाओं के प्रचार को जीवन का मुख्य कर्तव्य बनाना होता है। ऐसे सशक्त मिशनरी कार्यकलापों के द्वारा असंख्य जीवों को असीम आध्यात्मिक आनन्द मिल सकता है।

न तो आध्यात्मिक आश्रम, गिरजाघर, मसजिदें, मन्दिर, कर्मयोग, ज्ञानयोग, न ही नकली भक्ति मानवता को मृत्यु के चंगुल से बचा सकती है। ये चेतना को शुद्ध बनाने में अपर्याप्त होते हैं। क्योंकि आध्यात्मिक सहायता के रूप में ये जो कुछ दे पाते हैं, वह साम्प्रदायिक दृष्टि से सीमित होता है यथा 'यह करो', 'यह न करो' जैसे कठोर नियम जिनसे मानवता भौतिक शक्ति में और अधिक बँधती जाती है। इसके लिए आदर्श आध्यात्मिक कर्मों तथा आत्मसाक्षात्कार के असली मार्ग के अनुपालन की आवश्यकता है किन्तु इनको ठीक से प्रतिष्ठापित नहीं किया गया। जिस तरह भगीरथ ने गंगा का अवतरण

करके अपने पूर्वजों को मुक्ति दिलाई उसी तरह हमें ईशप्रेम की बाढ़ लानी चाहिए जो बद्धजीवों को निपट भौतिकता से बाहर निकाल सके। भले ही कुछ समय के लिए हो, हमें सत्ययुग यानी तर्क तथा पुण्य का काल लाना होगा। इस दुष्कर कार्य को चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन आन्दोलन को पुनः चालू करके और संसार को कृष्ण-प्रेम से आप्लावित करके आसानी से पूरा किया जा सकता है। सारे जीवों—कलियुग से पीड़ित मनुष्यों तथा मानवेतर प्राणियों—को इस कृष्ण प्रेम की बाढ़ में निमग्न हो जाना होगा।

वेदों, वेदान्तसूत्र तथा *उपनिषदों* के अध्ययन से चेतना को शुद्ध करने तथा दिव्य पद तक ऊपर उठने की विधि प्राप्त की जा सकती है। किन्तु कलियुग के बद्धजीवों के लिए ऐसे साधन पहुँच के बाहर हैं। एकमात्र चैतन्य महाप्रभु ही इस युग के बद्धजीवों को मुक्ति दिला सकते हैं। अपने बचपन में चैतन्य महाप्रभु निमाई पंडित कहलाते थे क्योंकि वे एक प्रकांड विद्वान थे। निश्चित रूप से, वे तर्कशास्त्र के स्वामी के रूप में प्रसिद्ध हुए। तो भी कलियुग द्वारा क्लेश पा रहे जीवों के लिए उन्होंने अपने आपको अशिक्षित मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया। ऐसी लीलाएं एकमात्र परमेश्वर के लिए सम्भव है। जब प्रसिद्ध मायावादी संन्यासी प्रकाशानन्द सरस्वती बनारस में श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिले तो उन्होंने महाप्रभु से इस प्रकार कहा, "आपको मैं संन्यासी रूप में देख रहा हूँ फिर भी आप भावनावादियों की संगति में हैं और उन्हीं की तरह आप नाच गा रहे हैं। संन्यासियों का असली कार्य तो वेदाध्ययन तथा ब्रह्मध्यान है। किन्तु आपने इन कर्तव्यों को त्याग दिया है और आप भावनावादियों की तरह कार्य कर रहे हैं। मैं आपके तेजस्वी रूप से प्रभावित हूँ जो साक्षात् भगवान् नारायण जैसा है, किन्तु आप अपने स्तर से नीचे कार्य

क्यों करते हैं?"

मायावादी संन्यासी केवल मोक्ष पाने के लिए वेदों का अध्ययन करते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु ऐसे तुच्छ उद्देश्य की शिक्षा देने के लिए ही अवतरित नहीं हुए। उन्होंने पवित्र नाम के संकीर्तन तथा भक्ति की वैज्ञानिक विधि का प्रचार किया। उनका प्रमुख उद्देश्य इस युग के लिए प्रामाणिक धर्म अर्थात् संकीर्तन की स्थापना करना और इस तरह सारे जीवों को मुक्त कराना था। प्रकाशानन्द सरस्वती को उन्होंने जो उत्तर दिया वह अति सरल है मानो कोई सामान्य व्यक्ति कह रहा हो। महाप्रभु ने कहा-

"पूज्य स्वामी जी! मैं इस तरह क्यों करता हूँ इसका कारण सुनें। मेरे गुरु ने देखा कि मैं अज्ञानी हूँ इसलिए उन्होंने मुझे यह आदेश दिया, "तुम मूर्ख हो और तुम्हें वेदान्त दर्शन की सही समझ नहीं है। इसलिए तुम इस हरे कृष्ण मन्त्र का कीर्तन करो क्योंकि यह समस्त मन्त्रों का सार है। यह मन्त्र तुम्हें भव-पाश से उबारेगा और कृष्ण के चरणकमलों की शरण दिलाएगा। कलियुग में कृष्ण नाम के कीर्तन के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म नहीं है। सारे शास्त्रों से यही सुनिश्चित हुआ है कि कृष्ण का पवित्र नाम समस्त मन्त्रों का सार है।" तब उन्होंने मुझे एक श्लोक रटाया जिसे मैं आपके विचारार्थ दोहराऊँगा—

"हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥"

"यदि कोई व्यक्ति इस कलियुग में आध्यात्मिक उन्नति चाहता है तो भगवान् के पवित्र नाम का कोई विकल्प नहीं, पवित्र नाम का कोई विकल्प नहीं, पवित्र नाम का कोई विकल्प नहीं है।"

कृष्ण के नाम का कीर्तन करने से मनुष्य के चेतना रूपी दर्पण की सारी धूल साफ हो जाती है। तब संसार की प्रज्ज्वलित अग्नि शमित हो जाती है। वर्तमान भौतिकतावादी सभ्यता में यह अग्नि विशेष रूप से उग्र है क्योंकि यह कलह से पूर्ण है और कलियुग का प्रमाणांक है। किन्तु संसार की अग्नि का शमन कीर्तन के अन्तिम परिणाम से कोसों दूर है। निस्सन्देह, यह तो केवल प्रारम्भिक परिणाम है। धीरे धीरे यह बात स्पष्ट होती जाती है कि ईशप्रेम का ज्ञान जीवन की परम आवश्यकता है, अज्ञान का अंधकारपूर्ण पर्दा उठता है और चरम ज्ञान की झलक मिलती है। जैसे ही भक्त को इस दिव्य ज्ञान की अनुभूति होती है, वैसे ही उसका हृदय आध्यात्मिक आनन्द से आप्लावित हो उठता है। यह आध्यात्मिक आनन्द प्रति क्षण बढ़ता जाता है। कृष्ण नाम का सर्व मंगलमय कीर्तन सदा विजयी हो!

जो लोग जीवन के निम्न मूल्यों के पीछे भागते हैं और इस प्रकार स्वार्थपूर्ण मनोभाव से योग स्वीकार करते हैं वे अत्यन्त नेक नहीं होते और सफलता प्राप्त करने पर भी निकृष्ट बने रहते हैं। किन्तु जो लोग अन्यों के लाभ हेतु योगाभ्यास करते हैं वे ही सुपात्र हैं क्योंकि स्वयंसिद्धि प्राप्त न करने पर भी वे अति बढ़ी-चढ़ी आत्माएं हैं। भगवद्भक्त बुद्धियोग या कृष्णभावनामृत का अभ्यास करते हैं। यह योग समस्त मानवता को आशीर्वाद देने तथा अभ्यासकर्ता को जीवन की सिद्धि प्रदान करने के लिए है। *श्रीमद्भागवत* में (१.५.१७) ऐसे योग की महत्ता का ठीक ही वर्णन हुआ है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।

यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

"जिसने भगवान् की भक्ति में लगने के लिए अपनी भौतिक वृत्तियों को त्याग दिया है वह अपरिपक्वावस्था में कभी-कभी नीचे गिर सकता है किन्तु उसके असफल होने का कोई खतरा नहीं रहता। दूसरी ओर, एक अभक्त अपने वृत्तिपरक कार्यों में पूरी तरह लगा रहने पर भी, कुछ भी लाभ नहीं उठा पाता।"

॥इति॥

लेखक परिचय

ष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद का जन्म १८९६ ई. में भारत के कलकत्ता नगर में हुआ था। अपने गुरु महाराज श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी से १९२२ में कलकत्ता में उनकी प्रथम भेंट हुई। एक सुप्रसिद्ध धर्म तत्त्ववेत्ता, अनुपम प्रचारक, विद्वान-भक्त, आचार्य एवं चौसठ गौड़ीय मठों के संस्थापक श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती को ये सुशिक्षित नवयुवक प्रिय लगे और उन्होंने वैदिक ज्ञान के प्रचार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने की इनको प्रेरणा दी। श्रील प्रभुपाद उनके छात्र बने और ग्यारह वर्ष बाद (१९३३ ई.) प्रयाग (इलाहाबाद) में उनके विधिवत् दीक्षा- प्राप्त शिष्य हो गये।

अपनी प्रथम भेंट, १९२२ ई. में ही श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

ठाकुर ने श्रील प्रभुपाद से निवेदन किया था कि वे अंग्रेजी भाषा के माध्यम से वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। आगामी वर्षों में श्रील प्रभुपाद ने श्रीमद्भगवद्गीता पर एक टीका लिखी, गौड़ीय मठ के कार्य में सहयोग दिया तथा १९४४ ई. में बिना किसी की सहायता के एक अंग्रेजी पाक्षिक पत्रिका आरम्भ की जिसका सम्पादन, पाण्डुलिपि का टंकण और मुद्रित सामग्री के प्रूफ शोधन का सारा कार्य वे स्वयं करते थे। उन्होंने एकएक प्रति निःशुल्क बाँटकर भी इसके प्रकाशन को बनाये रखने के लिए संघर्ष किया। एक बार आरम्भ होकर फिर यह पत्रिका कभी बन्द नहीं हुई। अब यह उनके शिष्यों द्वारा पश्चिमी देशों में भी चलाई जा रही है और तीस से अधिक भाषाओं में छप रही है।

श्रील प्रभुपाद के दार्शनिक ज्ञान एवं भक्ति की महत्ता पहचान कर "गौड़ीय वैष्णव समाज" ने १९४७ ई. में उन्हें भक्तिवेदान्त की उपाधि से सम्मानित किया। १९५० ई. में चौवन वर्ष की अवस्था में श्रील प्रभुपाद ने गृहस्थ जीवन से अवकाश लेकर वानप्रस्थ ले लिया जिससे वे अपने अध्ययन और लेखन के लिए अधिक समय दे सकें। तदनन्तर श्रील प्रभुपाद ने श्री वृन्दावन धाम की यात्रा की, जहाँ वे बड़ी ही सात्त्विक परिस्थितियों में मध्यकालीन ऐतिहासिक श्रीराधा-दामोदर मन्दिर में रहे। वहाँ वे अनेक वर्षों तक गम्भीर अध्ययन एवं लेखन में सलग्न रहे। १९५९ ई. में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। श्रीराधा-दामोदर मन्दिर में ही श्रील प्रभुपाद ने अपने जीवन के सबसे श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का आरम्भ किया था। यह ग्रन्थ था अठारह हजार श्लोक संख्या के श्रीमद्भागवत पुराण का अनेक खण्डों में अंग्रेजी में अनुवाद और व्याख्या। वहीं उन्होंने "अन्य लोकों की सुगम यात्रा" नामक पुस्तिका भी लिखी थी।

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ के तीन खण्ड प्रकाशित करने के बाद श्रील प्रभुपाद सितम्बर १९६५ ई. में अपने गुरुदेव का धर्मानुष्ठान पूरा करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका गये। अन्ततः श्रील प्रभुपाद ने भारतवर्ष के श्रेष्ठ दार्शनिक और धार्मिक ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद, टीकाएँ एवं संक्षिप्त अध्ययन-सार के रूप में साठ से अधिक ग्रन्थ-रत्न प्रस्तुत किये।

१९६५ ई. में जब श्रील प्रभुपाद एक मालवाहक जलयान द्वारा प्रथम बार न्यूयार्क नगर में आये तो उनके पास एक पैसा भी नहीं था। अत्यन्त कठिनाई भरे लगभग एक वर्ष के बाद जुलाई १९६६ ई में उन्होंने, "अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ" की स्थापना की। १४ नवम्बर १९७७ ई. को, कृष्ण-बलराम मन्दिर, श्रीवृन्दावन धाम में अप्रकट होने के पूर्व तक श्रील प्रभुपाद ने अपने कुशल मार्ग-निर्देशन के कारण इस संघ को विश्वभर में सौ से अधिक मन्दिरों के रूप में आश्रमों, विद्यालयों, मन्दिरों, संस्थाओं और कृषि-समुदायों का बृहद् संगठन बना दिया।

१९६८ ई. में श्रील प्रभुपाद ने प्रयोग के रूप में, वैदिक समाज के आधार पर पश्चिमी वर्जीनिया की पहाड़ियों में एक नव-वृन्दावन की स्थापना की। दो हजार एकड़ से भी अधिक के इस समृद्ध नव-वृन्दावन के कृषि-क्षेत्र से प्रोत्साहित होकर उनके शिष्यों ने संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों में भी ऐसे अनेक समुदायों की स्थापना की।

१९७२ ई में श्रील प्रभुपाद ने डल्लास, टेक्सास में गुरुकुल विद्यालय की स्थापना द्वारा पश्चिमी देशों में प्राथमिक और माध्यमिक

शिक्षा को वैदिक प्रणाली का सूत्रपात किया। तब से, उनके निर्देशन के अनुसार श्रील प्रभुपाद के शिष्यों ने सम्पूर्ण विश्व में दस से अधिक गुरुकुल खोले हैं। श्रीवृन्दावन धाम का भक्तिवेदान्त स्वामी गुरुकुल इनमें सर्वप्रमुख है।

श्रील प्रभुपाद ने श्रीधाम-मायापुर, पश्चिम बंगाल में एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के निर्माण की प्रेरणा दी। यहीं पर वैदिक साहित्य के अध्ययनार्थ सुनियोजित संस्थान की योजना है, जो अगले दस वर्ष तक पूर्ण हो जाएगा। इसी प्रकार श्रीवृन्दावन धाम में भव्य कृष्ण-बलराम मन्दिर और अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि भवन तथा श्रील प्रभुपाद स्मृति संग्रहालय का निर्माण हुआ है। ये वे केन्द्र हैं जहाँ पाश्चात्य लोग वैदिक संस्कृति का मूल रूप से प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। मुंबई में भी श्री राधारासबिहारीजी मन्दिर के रूप में एक विशाल सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक केन्द्र का विकास हो चुका है। इसके अतिरिक्त भारत में बारह अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों में हरे कृष्ण मन्दिर खोलने की योजना कार्याधीन है।

किन्तु, श्रील प्रभुपाद का सबसे बड़ा योगदान उनके ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ विद्वानों द्वारा अपनी प्रामाणिकता, गम्भीरता और स्पष्टता के कारण अत्यन्त मान्य हैं और अनेक महाविद्यालयों में उच्चस्तरीय पाठ्यग्रन्थों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। श्रील प्रभुपाद की रचनाएँ ५० से अधिक भाषाओं में अनूदित हैं। १९७२ ई. में केवल श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए स्थापित भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विश्व का सबसे बड़ा प्रकाशक हो गया है। इस

ट्रस्ट का एक अत्यधिक आकर्षक प्रकाशन श्रील प्रभुपाद द्वारा केवल अठारह मास में पूर्ण की गई उनकी एक अभिनव कृति है जो बंगाली धार्मिक महाग्रन्थ श्रीचैतन्यचरितामृत का सत्रह खण्डों में अनुवाद और टीका है।

बारह वर्षों में, अपनी वृद्धावस्था की चिन्ता न करते हुए परिव्राजक (व्याख्यान-पर्यटक) के रूप में श्रील प्रभुपाद ने विश्व के छहों महाद्वीपों की चौदह परिक्रमाएँ कीं। इतने व्यस्त कार्यक्रम के रहते हुए भी श्रील प्रभुपाद की उर्वरा लेखनी अविरत चलती रहती थी। उनकी रचनाएँ वैदिक दर्शन, धर्म, साहित्य और संस्कृति के एक यथार्थ पुस्तकालय का निर्माण करती हैं।

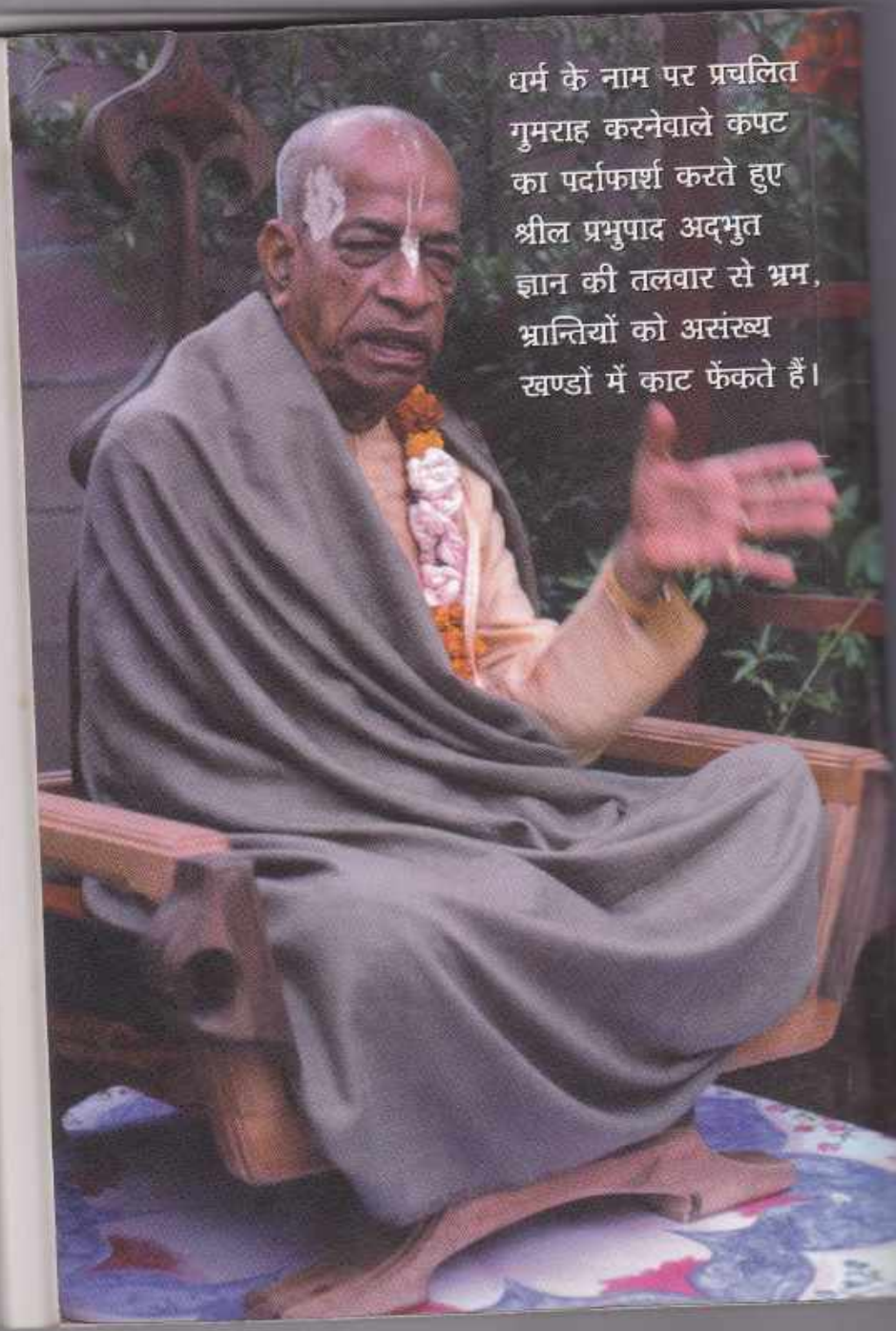
धर्म के नाम पर प्रचलित
गुमराह करनेवाले कपट
का पर्दाफार्श करते हुए
श्रील प्रभुपाद अद्भुत
ज्ञान की तलवार से भ्रम,
भ्रान्तियों को असंख्य
खण्डों में काट फेंकते हैं।